PRINTED MATTER/PRINTING BOOK CLAUSE 121 (A) P & T GUIDE

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.)
द्वारा भिवानी (हरियाणा), काठमाण्डू (नेपाल) से प्रकाशित

ISSN : 2395-7115
Impact Factor : 8.642

बोहल शोध मंजूषा

Bohal Shodh Manjusha

AN INTERNATIONAL MULTI DISCIPLINARY, MULTIPLE LANGUAGES
PEER REVIEWED, REFREED RESEARCH JOURNAL

Website :
www.bohalshodhmanjusha.com
Email : grsbohal@gmail.com

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Adv.
M. : 8708822674, 9466532152

गीना देवी शोध संस्थान
द्वारा श्रीगंगानगर, (राजस्थान), पटियाला (पंजाब) व नेपाल से प्रकाशित

ISSN : 2321-8037
Impact Factor : 7.834

Gina Shodh SANGAM

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES MONTHLY RESEARCH JOURNAL

Website : www.ginajournal.com
Email : grngobwn@gmail.com
Office : 8708822674

Editor :
Dr. Rekha Soni, Vice Principal
Education, Tantia University
M. 9828531975

गिरधारीलाल घासीराम शोधपीठ
द्वारा नई दिल्ली, आगरा, गाजियाबाद एवं नेपाल से प्रसारित

ISSN : 2348-5639
Impact Factor : 6.521

SHODH SAMALOCHAN

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Website : https://ginajournal.com/shodh-samalochan/
Executive Editor : Dr. Varsha Rani M. 9671904323
Managing Editor : Dr. Mukesh Verma M. 9627912535

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Advocate
M. 8708822674

गिना प्रकाशन द्वारा
जयपुर, भिवानी एवं नेपाल से प्रसारित

ISSN : 2321-0540
Impact Factor : 5.621

KANCHANLATA

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES HALF YEARLY RESEARCH JOURNAL

Managing Editor :
Dr. Mukesh Verma
M. 9627912535

Editor :
Dr. Naresh Sihag, Advocate
M. 8708822674

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक गुगनराम सोसायटी (रजि.) के लिए डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट ने सानिया पब्लिकेशन, दिल्ली-110094 से छपवाकर गीना प्रकाशन, 202, पुराना हाऊसिंग बोर्ड, भिवानी-127021 (हरियाणा) से वितरित की।

ISSN 2348:5639

SHODH SAMALOCHAN July-Sep. 2026

Dr. Versha Rani,
Dr. Naresh Sihag, Adv.

गिरधारीलाल घासीराम शोधपीठ
द्वारा भारत-नेपाल से प्रसारित

ISSN : 2348-5639
Impact Factor : 6.521

SHODH SAMALOCHAN

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Vol. : 13, Issue : 3 July-Sep. : 2026





संस्थापक संपादक
स्व. फतेहचंद

गुगनराम एजुकेशनल एण्ड सोशल वैलफेयर सोसायटी (रजि.) द्वारा प्रकाशित

SHODH SAMALOCHAN

शोध-समालोचन (त्रैमासिक)

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REREREED MULTIDISCIPLINARY & MULTIPLE LANGUAGES QUARTTERLY RESEARCH JOURNAL

UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 18, 2018)

वर्ष-13, अंक-3 जुलाई-सितम्बर / 2026 (भाग-1) आईएसएसएन : 2348-5639

संरक्षक
• डॉ. इस्पाक अली, बैंगलुरु

संपादक
• डॉ. नरेश सिहाग 'बोहल' एडवोकेट

कार्यकारी संपादक
• डॉ. वर्षा रानी

प्रबंध संपादक
• डॉ. मुकेश 'ऋषिवर्मा'

सह-संपादक
• डॉ. लता एस. पाटिल,
• डॉ. सुलक्षणा अहलावत

अक्षर संयोजन
• मो. सलीम

कानूनी सलाहाकार
• डॉ. रामफल दलाल, एडवोकेट
• अजीत सिहाग, एडवोकेट

अंतरराष्ट्रीय सम्पादक मंडल

• आशीष कुमार, गाजियाबाद
• डॉ. कुमारी लक्ष्मी जोशी, नेपाल
• डॉ. निशीथ गौड, आगरा
• डॉ. राजेश शर्मा, श्रीगंगानगर
• श्री शियोन छन श्यू, चीन
• डॉ. ऋतु शर्मा ननंन पांडे, नीदरलैंड
• डॉ. मुदस्सिर अहमद भट्ट, श्रीनगर
• डॉ. दीपशिखा, पटियाला
• डॉ. सुनीता शर्मा, ऑस्ट्रेलिया
• श्री राकेश शंकर भारती, युक्रेन
• डॉ. के.के. मल्होत्रा, कैनेडा
• डॉ. आशीष कुमार दीपांकर, मेरठ
• डॉ. कामिनी कौशल, गाजियाबाद
• डॉ. रवि शंकर सिंह, आरा

1. 'शोध-समालोचन' का प्रबंधन और संपादन पूर्णतः अवैतनिक है।
2. 'शोध-समालोचन' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार संबंधित लेखकों के अपने हैं। उनके प्रति वे स्वयं उत्तरदायी है।
3. पत्रिका से संबंधित प्रत्येक विवाद का न्याय क्षेत्र भिवानी न्यायालय ही मान्य होगा।
4. प्रकाशक/ स्वामी डॉ. नरेश सिहाग, एडवोकेट ने सानिया पब्लिकेशन, दिल्ली-110094 से मुद्रित करवाया।

'शोध समालोचन' की सदस्यता का शुल्क भुगतान राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा सीधे ट्रांसफर या जमा किया जा सकता है। बैंक का विवरण निम्नानुसार है–**बैंक :** PUNJAB NATIONAL BANK **Branch :** Yamuna Vihar, Delhi-110053 **IFSC :** PUNB0225600 **Account Holder :** SANIA PUBLICATION **Current Account No.** 2256002100405546 भुगतान की मूल रसीद, शोध -पत्र पत्रिका की ई-मेल पर भेजना अनिवार्य है।

नोट :- इस अंक की प्रिंट कॉपी खरीदने के लिए सानिया पब्लिकेशन, दिल्ली-110094 से सम्पर्क करें मो. 9818128487

मूल्य : 650/- रु. एक प्रिंट प्रति वार्षिक 2500/- रु.

विषय विशेषज्ञ सलाहकार समिति/ संपादकीय मंडल :

- **Dr. Mudita Popli**
  Principal, Maa Karni B Ed College Nal, Bikaner
- **Dr. Tapasya Chauhan**
  Assistant Professor, Dr. Bhimrao Ambedkar University, Agra (Utter Pradesh)
- **Dr. Om Prakash Mehrara**
  Director, Shri Ramnarayan Dixit PG College, Srivijaynagar, Distt. Anupgarh (Rajasthan)
- **PRINCE KUMAR**
  UGC NET-JRF, History, Senior Researcher, University History Department, B.R.A.Bihar University Muzaffarpur, Bihar
- **Dr Kanta Verma**
  Assistant professor, Political science, Govt College Lanji Balaghat, District Balaghat, M.P.
- **Dr. Sainath Kabade**
  Assistant Professor, Department of Educational Social Sciences, NIE, NCERT, New Delhi.
- **Mr. Sagar Gopal Rathod**
  Assistant professor, School of Social Science, Punyashlok Ahilyadevi Holkar Solapur University, Maharashtra.
- **Dr (Smt.) Manjulata Kashyap**
  Professor (Economics),Govt.T.C.L.P.G. College Janjgir, Chhattisgarh
- **Dr. AMBILI V. S.**
  Assistant Professor, Department of Hindi,
  N.S.S. College, Pandalam, Pathanamthitta Distt. University of Kerala.
- **Dr. Anju Bala**
  Assistant Professor Hindi, Guru Nanak Girls College, Yamunanagar-135001
- **Dr. Tikaram Sarthi**
  Hasmukh, Lecturer, Govt H.S.S.Churteli, Dist. Sakti (Chhattisgarh)-495688
- **Dr. Atul Chand**
  Hod Defence & Strategic Studies/ ex Principal in-charge "Government Degree college Baluwakote Pithoragarh "Uttarakhand
- **Dr. Vimal Parmar**
  Assistant Prof. Rajasthan P.G. Law College, Chirawa , Rajasthan
- **Dr. Archana Tiwari** , Assistant Professor , History and Indian Culture, Uni. Rajasthan, Jaipur
- **Sneha Deepak Wankhede**
  Assistant professor Hindi Department, Rajkumar Kewalramani College Jaripatka Nagpur, Maharashtra
- **डॉ. श्रीमती अभिलाषा सैनी**
  प्राचार्य, स्व. रामनाथ वर्मा शासकीय महाविद्यालय, मोपका, जिला-बलौदा बाजार, छत्तीसगढ़
- **डॉ. मोहित शर्मा**
  श्री सर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, निम्बार्क तीर्थ किशनगढ़, जिला अजमेर (राजस्थान)
- **रजनी प्रिया**
  राँगाटाँड़ रेलवे कॉलोनी, क्वा.सं. 502/136, तरुण संघ क्लब दुर्गा मंदिर, धनबाद, पोस्ट जिला-धनबाद, झारखंड

- **डॉ. मीरा चौरसिया,** चमनलाल महाविद्यालय लंढौरा, रुड़की, हरिद्वार, उत्तराखण्ड-247664
- **डॉ. आँचल कुमारी,** असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी
  राम चमेली चड्ढा विश्वास गर्ल्स कॉलेज गाजियाबाद चौधरी चरणसिंह युनिवर्सिटी, मेरठ (उ. प्र.)
- **डॉ. प्रमोद नाग**
  सहायक प्राध्यापक, आचार्य इंस्टीट्यूट ऑफ ग्रेजुएट स्टडीज, बेंगलुरु-560107
- **डॉ. चन्द्रशेखर सिंह**
  समाज कार्य विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
- **लेफ्टि. डॉ. सन्दीप भांभू**
  शारीरिक शिक्षा विभाग, टॉटिया वि.वि. श्रीगंगानगर
- **डॉ. सरिता भवानी मालवीय**
  असिस्टेंट प्रोफेसर, फैकल्टी ऑफ लॉ., आर.के.डी.एफ. विश्वविद्यालय, भोपाल (मध्यप्रदेश)
- **डॉ. संदीप कुमार,** असि. प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, डॉ. भीमराव अम्बेडकर वि.वि., आगरा
- **पल्लवी आर्य**
  असि. प्रोफेसर, भाषाविज्ञान विभाग, के.एम.आई. डॉ. भीमराव अम्बेडकर वि.वि., आगरा
- **डॉ. अमित कुमार सिंह**
  डी. लिट्., असि. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, के.एम. आई., डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा
- **कोकिला कुमारी**
  शोद्यार्थी, हिंदी विभाग, राँची वि.वि. राँची, झारखंड
- **डॉ. तनु श्रीवास्तव**
  असिस्टेंट प्रोफेसर (अर्थशास्त्र), स्कूल ऑफ सोशल साइंस, देवी अहिला विश्वविद्यालय, इन्दौर
- **डॉ. कुमारी लक्ष्मी जोशी**
  उप-प्राध्यापक, केंद्रीय हिन्दी विभाग, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमांडू, नेपाल
- **डॉ. जगदीप दुबे**
  सहायक प्राध्यापक वाणिज्य (म.प्र.), शासकीय आदर्श महाविद्यालय, डीनडोरी (म.प्र.)
- **डॉ. श्रीकांत राठोड**
  सहायक प्राध्यापक हिंदी विभाग, श्री शांतेश्वर शिक्षा संस्थान, श्री जी.आर. गांधी कला, श्री वाय ए पाटील वाणिज्य एवं श्री एम पी दोशी विज्ञान महाविद्यालय, इंडी, जिला विजयपुर, कर्नाटक
- **डॉ. मंजू देवी**
  सहायक आचार्य श्री बालाजी टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, जयपुर
- **डॉ. सुनीता सारस्वत**
  सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग), सिंघानिया विश्वविद्यालय, पचेरी बड़ी झुंझनू, राजस्थान
- **प्रा. डॉ. बोईनवाड कृष्णा बाबुराव**
  सहा. प्रा. दिगंबरराव बिंदू कला वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय, भोकर. जिला नांदेड, महाराष्ट्र
- **डॉ. माया गोला,** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा (उत्तराखंड)
- **श्रीराम**
  एसोसिएट प्रोफेसर हिंदी, राजकीय आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, बीकानेर

Request to Writers

Send quality original and unpublished works written on language, literature, society, science and culture. For publication, along with the translated works, also send the letters of consent received from the original authors. Compositions should be typed in Hindi Unicode Mangal font, English Time Roman. At the beginning of the article, a summary of the article is required which should be between 150 to 200 words maximum. The abstract must reflect the purpose of writing the article. Also write 5 to 7 'key words' (seed words) according to the article.

Write the article by dividing it appropriately into subheadings. Be sure to give a conclusion at the end of the article. The word limit should be 2000 to 2500 words. List of bibliographies at the end of the article APA Be in the format of. While sending the article, please write your name, address, phone number and title of the article in the e-mail. Submit a declaration to the effect that the article is original, unpublished, the author and not the editorial board will be responsible for any dispute related to it in future.

At the end of the composition, mention your complete postal address, mobile number and e-mail address.

- Editor

लेखकों से निवेदन

भाषा, साहित्य, समाज, विज्ञान एवं संस्कृति पर लिखी गयी स्तरीय मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाएं भेजें। प्राकशनार्थ अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखकों से प्राप्त सहमति पत्र भी भेजें। रचनाएँ हिंदी यूनिकोड मंगल फान्ट अंग्रेजी टाइम रोमन में टंकित होनी चाहिए। लेख के प्रारंभ में लेख का सार अपेक्षित है जो अधिकतम 150 से 200 शब्दों के मध्य हो। सार में लेख लिखने का उद्देश्य अवश्य परिलक्षित होना चाहिए। लेख के अनुरूप 5 से 7 (की वर्ड) (बीज शब्द) भी लिखें। लेख को यथोचित उपशीर्षकों में विभाजित करके लिखें। लेख के अंत में निष्कर्ष अवश्य दें। शब्द सीमा 2000 से 2500 शब्दों की हो। आलेख के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची ए.पी.ए. के प्रारूप में हो। लेख भेजते समय अपने नाम, पता, फोन नंबर एवं लेख का शीर्षक ई-मेल में अवश्य लिखें। इस आशय का एक घोषणा-पत्र प्रस्तुत कर दें कि लेख मौलिक है, अप्रकाशित है, भविष्य में इससे संबंधित किसी भी विवाद के लिए लेखक उत्तरदायी होंगे संपादक मंडल नहीं।

रचना के अंत में अपना पूरा डाक पता, मोबाइल नंबर और ई-मेल पता अंकित करें।

-संपादक

प्रकाशित पत्रिका प्राप्त करने के लिए संपर्क करे :
सानिया पब्लिकेशन, दिल्ली-110094
मोबाइल : 9818128487, 8383042929

ISSN : 2348-5639

SHODH SAMALOCHAN

AN INTERNATIONAL PEER REVIEWED, REFEREED MULTIDISCIPLINARY
& MULTIPLE LANGUAGES QUARTERLY RESEARCH JOURNAL
UGC Valid Journal (The Gazette of India, Extraordinary Part III, Section 4, Dated July 18, 2018)

Table 2

Methodology for University and College Teachers for calculating Academic/Research Score

(Assessment must be based on evidence produced by the teacher such as: copy of publications, project sanction letter, utilization and completion certificates issued by the University and acknowledgements for patent filing and approval letters, students' Ph.D. award letter, etc,.)

S.N.	Academic/Research Activity	Faculty of Sciences /Engineering / Agriculture / Medical /Veterinary Sciences	Faculty of Languages / Humanities / Arts / Social Sciences / Library /Education / Physical Education / Commerce / Management & other related disciplines
1.	**Research Papers in Peer-Reviewed or UGC listed Journals**	08 per paper	10 per paper
2.	**Publications (other than Research papers)**		
	(a) Books authored which are published by ;		
	International publishers	12	12
	National Publishers	10	10
	Chapter in Edited Book	05	05
	Editor of Book by International Publisher	10	10
	Editor of Book by National Publisher	08	08
	(b) Translation works in Indian and Foreign Languages by qualified faculties		
	Chapter or Research paper	03	03
	Book	08	08
3.	**Creation of ICT mediated Teaching Learning pedagogy and content and development of new and innovative courses and curricula**		
	(a) Development of Innovative pedagogy	05	05
	(b) Design of new curricula and courses	02 per curricula/course	02 per curricula/course

202, Old Housing Board, Bhiwani, Haryana-127021

संपादकीय

प्रिय पाठको,

वर्तमान समय ज्ञान-विस्तार, विचार-विमर्श और बौद्धिक संवाद का युग है, जहाँ शोध केवल शैक्षणिक अनिवार्यता नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व का भी एक महत्वपूर्ण साधन बन चुका है। शोध समालोचन के इस अप्रैल-मई-जून 2026 अंक को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें यह अनुभव हो रहा है कि ज्ञान की यह यात्रा निरंतर गहराई और व्यापकता की ओर अग्रसर है। यह अंक न केवल विविध विषयों की शोधपरक सामग्री को समाहित करता है, बल्कि समकालीन संदर्भों में उनके प्रासंगिक विश्लेषण का भी सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है।

आज का युग बहुआयामी चुनौतियों और संभावनाओं का युग है। एक ओर तकनीकी प्रगति ने मानव जीवन को सुविधाजनक बनाया है, तो दूसरी ओर सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक प्रश्नों को भी जटिल बना दिया है। ऐसे समय में शोध का कार्य केवल तथ्यों का संकलन नहीं, बल्कि उन तथ्यों के पीछे छिपे यथार्थ को उजागर करना भी है। इस अंक में सम्मिलित लेख इसी दृष्टि को केंद्र में रखते हुए लिखे गए हैं, जिनमें भारतीय ज्ञान परंपरा, साहित्यिक विमर्श, सामाजिक सरोकार और शैक्षिक नवाचारों पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय ज्ञान परंपरा सदैव से ही विश्व को दिशा देने वाली रही है। आज जब वैश्वीकरण के प्रभाव में सांस्कृतिक अस्मिता पर प्रश्नचिह्न लग रहे हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी जड़ों की ओर लौटें और अपने परंपरागत ज्ञान को समकालीन संदर्भों में पुनः परिभाषित करें। इस अंक में प्रकाशित शोध आलेख इस दिशा में सार्थक प्रयास हैं, जो भारतीय दर्शन, संस्कृति और शिक्षा के मूल तत्वों को नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य, समाज का दर्पण होने के साथ-साथ उसकी संवेदनाओं का भी सशक्त माध्यम है। वर्तमान अंक में साहित्यिक आलोचना और समीक्षा के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार साहित्य समाज के बदलते स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। समकालीन कविताओं, कहानियों और गद्य साहित्य में उभरते विषय जैसे स्त्री-विमर्श, दलित चेतना, पर्यावरणीय संकट और नैतिक मूल्यों का ह्रास—इन सभी पर गहन विचार प्रस्तुत किया गया है। यह अंक साहित्य को केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के औजार के रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करता है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं। नई शिक्षा नीति और डिजिटल तकनीकों के प्रभाव ने शिक्षण और अधिगम की प्रक्रिया को पूरी तरह से बदल दिया है। इस अंक में शिक्षा से संबंधित शोधपत्र इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि किस प्रकार नवाचार और परंपरा का संतुलन बनाकर एक समावेशी और प्रभावी शिक्षा प्रणाली विकसित की जा सकती है। शिक्षा केवल ज्ञानार्जन का माध्यम नहीं, बल्कि व्यक्तित्व निर्माण और सामाजिक चेतना के विकास का आधार भी है—इस विचार को यहाँ विशेष महत्व दिया गया है।

इसके अतिरिक्त, इस अंक में विभिन्न शोधार्थियों और विद्वानों द्वारा प्रस्तुत लेखों में सामाजिक यथार्थ की गहन पड़ताल की गई है। ग्रामीण जीवन, शहरीकरण, आर्थिक असमानता, और सांस्कृतिक बदलाव जैसे विषयों पर किए गए अध्ययन यह दर्शाते हैं कि शोध का उद्देश्य केवल निष्कर्ष निकालना नहीं, बल्कि समाज के समक्ष प्रश्न खड़े करना और उनके समाधान की दिशा में विचार उत्पन्न करना भी है।

शोध समालोचन का उद्देश्य सदैव से ही शोध की गुणवत्ता और प्रामाणिकता को बनाए रखना रहा है। इस अंक में प्रकाशित सभी लेख कठोर समीक्षा प्रक्रिया से गुजरकर चयनित किए गए हैं, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि पाठकों

को विश्वसनीय और उच्चस्तरीय सामग्री प्राप्त हो। हम यह मानते हैं कि एक सशक्त शोध परंपरा का निर्माण तभी संभव है जब उसमें नवीनता, निष्पक्षता और आलोचनात्मक दृष्टि का समावेश हो।

अंततः, हम सभी लेखकों, शोधार्थियों और समीक्षकों का आभार व्यक्त करते हैं, जिनके सहयोग से यह अंक संभव हो पाया है। साथ ही, हम अपने पाठकों से भी अपेक्षा करते हैं कि वे इस अंक में प्रस्तुत विचारों पर गंभीरता से विचार करें और ज्ञान-विमर्श की इस परंपरा को आगे बढ़ाने में अपना योगदान दें।

ज्ञान की यह यात्रा अनवरत है, और शोध समालोचन इस यात्रा में एक सशक्त मंच के रूप में अपनी भूमिका निभाता रहेगा—इसी विश्वास के साथ हम इस अंक को आपके समक्ष समर्पित करते हैं।

संपादक

डॉ. नरेश सिहाग एडवोकेट

विषयानुक्रमणिका

संपादकीय 6

HARBANS PUZZLE IN MATHEMATICS 11
Anil Kaushik

Mental Health and School Education 19
Dr. Giriraj Bhojak

साहित्य में नारी की भूमिका 25
डॉ. आरती दुबे

माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के तनाव, अवसाद एवं आत्मसम्मान पर राजयोग का प्रभाव : एक समीक्षात्मक अध्ययन 30
कल्पना
डॉ. सत्येंद्र कुमार

कुरुम्बा (कुरुम्बर) जनजाति के लोकजीवन और संस्कृति 33
डॉ. संजीव कुमार. के

दलित माँ की पीड़ा और मुक्ति कामना 'हाथ तो उग ही आते हैं' कहानी के संदर्भ में 35
किम्मी. एन. एस

किसान जीवन की मार्मिक पहलू: अकाल में उत्सव' उपन्यास में 39
डॉ. लता डी
Vinaika Vijayan

राजभाषा हिन्दी का कम्प्यूटरीकरण 42
डॉ. अंजु पांचाल

Exploring the Geography and Socioeconomic Profile of Foothill Residents in Saddle Peak National Park, Andaman and Nicobar Islands 46
Kishore Kumar Baraik
Dr. Manoj Kumar

हिंदी के साहित्यिक विरासत के संरक्षण में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना की भूमिका 51
सूचित कुमार
डॉ. विजय कुमार

भारतीकेशरिप्रबोधकुमारमिश्रविरचिते स्वप्नदूते गुणरीतितत्त्वसमीक्षा 54
अजित कुमार नायक

महर्षि अरविंद का शिक्षा दर्शन तथा उसकी वर्तमान युग में उपादेयता 59
सुनिता

श्रीमती बबीता जाँगिंड़
हिंदी कहानी आलोचना में प्रतिमान और उसकी समस्याएँ 61
निकिता आनंद
बी.पी.एल. परिवारों में अभिभावक सहभागिता का विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं पर प्रभाव : एक अध्ययन 64
डॉ. निरूपमा जैन
महेश गंड़ेर
राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति अभिधारकों के प्रत्यक्षण का अध्ययन 70
किशन लाल जाट
डॉ. के.आर.काक
Understanding Stress and Coping Patterns in Gifted Adolescents' 77
Dr. Rajendra Jakhar
The Moral Geography of Justice: Mapping the Systematic Prioritization of Humans Over Animals in Ethical Consciousness 85
Mr. Hari Shanker Singh
भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण 104
डॉ. अजीत कुमार
Microfinance, Financial Inclusion and Women's Self-Employment: A Sociological Study of the PM SVANidhi Scheme in India 108
Nayantara Singh
Dr. Shailesh Kumar
गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में प्रतिबिंबित समाज 113
सुनील कुमार
State And Kumbha: Pre To Postindependence India (Early 19th To 21st Century) 117
Kanika Thakur
जलवायु परिवर्तन का जनजातीय महिलाओं पर प्रभाव : एक समीक्षात्मक अध्ययन 128
डॉ. पायल पोद्दार
अंजली त्रिपाठी
Assessing Orientalism: Formation, Criticism and Significance 138
Asha Yadav
गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचारों के प्रमुख उद्देश्य, विश्लेषण एवं संगठन 146
संतोष कुमार सिंह
डॉ. योगेश कुमार
उपनिषदों में वर्णित वैश्विक शांति : एक दार्शनिक एवं समकालीन अध्ययन 154
डॉ. वर्षा रानी
वर्तमान परिदृश्य में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का पत्रकारिता की विश्वसनीयता पर प्रभाव : एक आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन 159
डॉ. संदीप कुमार

तिरुवकुरल एक परिचय 164
डॉ. पी. गणेशन
बाज़ारवादी व्यवस्था और आधुनिक भारतीय समाज की विडंबना: एक डूबते जहाज़ की अन्तर्कथा के विशेष संदर्भ में 169
जोस्ना जोस
पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता: चुनौतियाँ, उपलब्धियाँ एवं सशक्तिकरण का अध्ययन 173
ममता
डॉ. शिल्पा रानी
जातिवाद और वर्गीय भेदभाव के कारण पंजाब में ईसाई धर्म का प्रसार : एक आलोचनात्मक विश्लेषण 177
कमल
तेजेंद्र शर्मा की कहानियाँ; एक झांकी 187
डॉ. रम्या. जी. एस. नायर
'महिलाओं में मतदान व्यवहार की प्रक्रिया' (रीवा नगर के विशेष संदर्भ में) 192
अंजुलि शुक्ला
डॉ. एस.पी. शुक्ला
'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में मानवीय संवेदना और जादुई यथार्थवाद 198
Prof. (Dr.) Ida Manuel

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

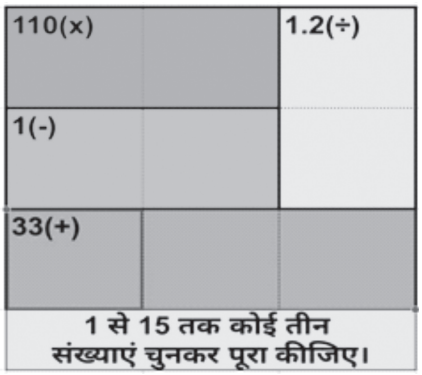
HARBANS PUZZLE IN MATHEMATICS

Anil Kaushik
(TGT Mathematics)
Mathematics, GMSSSS SANGHI ROHTAK
Mail.ID. :- anilkaushikmaths3@gmail.com
Phone No :- 9253008024

ABSTRACT

Harbans Puzzles are mathematical challenges inspired by the Japanese puzzle 'Kenken' / Sudoku, designed to enhance the logical ability and problem-solving skills of students. Harbans puzzle is an acronym for 'Har Banda Samjhadhar' (HAR BAN S) in local language, which means everyone has the capability to do anything. (That is, every student is capable of doing any task at any level.) How to get started with Harbans puzzles and what are the rules? To play these puzzles, take a grid of size 3 × 3, 4 × 4, or 5 × 5.

1. If the puzzle is a 3 x 3 grid, it can only be filled with three different numbers.
2. If it is a 4 x 4 grid, it must be filled/completed with four different digits or numbers only.
3. If it is a 5 x 5 grid, it must be filled/completed with five different digits or numbers only.
4. If it is a 6 x 6 grid, it must be filled/completed with six different digits or numbers only.
5. A number cannot be repeated in each column.
6. A number cannot be repeated in each row.
7. Numbers must be selected according to the given instructions.
8. Each instruction contains a target digit and its corresponding operation.
9. Squares with the same color or a boundary must be filled according to the operation.





For example, for the green squares, the target number is 110 and the operation is multiplication (x). Similarly, for the yellow squares, the target number is 1.2 and the operation is division (÷). Similarly, in the black and white puzzle, the target number and operation are given inside a thick boundary. For example, in the boundary joining the first two squares, the target number is five (5) and the operation is addition (5).

1. Two or more squares can be collected for each operation.
2. First, numbers or objects are selected step by step to explore all possible outcomes.
3. A puzzle may have more than one solution.

In this we have discussed in detail how by solving Harbans puzzle by logical method, the interest of the student increases, his logical ability develops and the intellect becomes sharp. This puzzle can be prepared on every topic of mathematics. Like addition, subtraction, multiplication, division, Lowest common multiple (LCM), Highest common factor (HCF), Percentage, fraction, decimals, angles etc.

INTRODUCTION

What is a Puzzle?

" A puzzle is a problem, game, or activity designed to test a person's intelligence, creativity, and problem-solving skills. It usually presents a challenge that requires careful thinking, reasoning, or observation to reach a solution."[1]

Before we delve into puzzles, it's important to understand what open-ended questions are. They are questions that can't be answered simply with a "yes" or "no," but instead require detailed explanation, thought, or reasoning. These questions allow a person to freely express their thoughts, experiences, and feelings.

History with Examples

What is the most memorable experience of your life and why?

What qualities do you think are required to be a good leader?

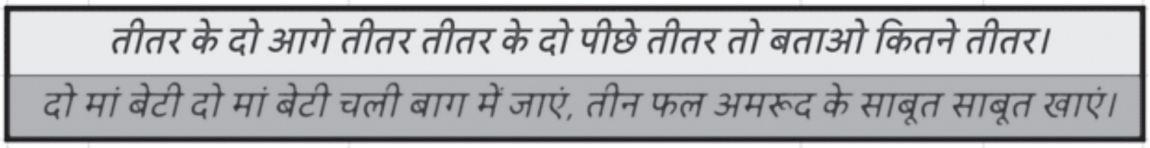
What impact is technology having on society?

Such questions encourage creativity, critical thinking, and deep thought. This is the very nature of a puzzle. Solving a puzzle requires a systematic process of putting the pieces together (or taking them apart) in a logical manner. There are various styles of puzzles,

Such as crossword puzzles, word-search puzzles, number puzzles, relational puzzles and logic puzzles. The Nine Linked-Ring Puzzle, an advanced puzzle device that requires mathematical calculations to solve, was invented in China during the Warring States period (475-221 BC). Jigsaw puzzles were invented around 1760, when John Spilsbury, a British engraver and cartographer, mounted a map on a sheet of wood, then he drew the outline of each individual country on the map. After becoming popular with the public, such educational puzzles remained in primary use until about 1820. The earliest documented puzzles in Europe were puzzles based on Greek mythology. In the early 20th century, magazines and newspapers discovered that they could increase their readership and generate

interest among their readers by running puzzle contests. This began with crosswords and, in modern times, Sudoku. Today, newspapers publish a variety of puzzles to generate interest among readers, such as picture-based puzzles, pattern-based puzzles, and number-based puzzles."The rich Sanskrit tradition also produced large collections of riddles and visual puzzles: VidagdhamukhamaG

ana ("Adornment for the Mouth of the Intelligent") offers 272 puzzles, testing knowledge in mythology, linguistics, math, and more. eg.



Board games in ancient India were at once educational and profound. Gyan Chaupar, known as Mokshapat or Moksha Patamu, is the moralistic predecessor of modern Snakes and Ladders. Played since around the 2nd century BCE, it taught virtues and vices aligning with the journey to spiritual liberation . Pallankuzhi (or Pallanguli), a strategic mancala game from South India, sharpened arithmetic and planning skills . Other mind-stretching games include Pachisi (Chaupar), the ancient cross-shaped race game mentioned in epics like the Mahabharata, and Lambs and Tigers, a two-player strategy puzzle from southern India ."[2]

MATHEMATICAL PUZZLES

Math puzzles are simple and tricky questions that are answered using various geometric shapes or letters. These puzzles require basic arithmetic skills, such as addition, subtraction, multiplication, and division. Some Simple But Useful Tricks to Solve Math Puzzles

There are some tricks and tips that help solve different types of puzzles. The steps below will help you solve any type of math puzzle.

Step 1: Read the puzzle carefully.

Step 2: Analyze the statements and patterns in the puzzle.

Step 3: Develop a general idea about the problem. That is, understand what we need to do.

Step 4: From the complete descriptions given, choose the data that gives you some concrete or precise information. Also, choose the data that helps rule out specific possibilities.

Step 5: Apply the possibilities to the given conditions of the puzzle.

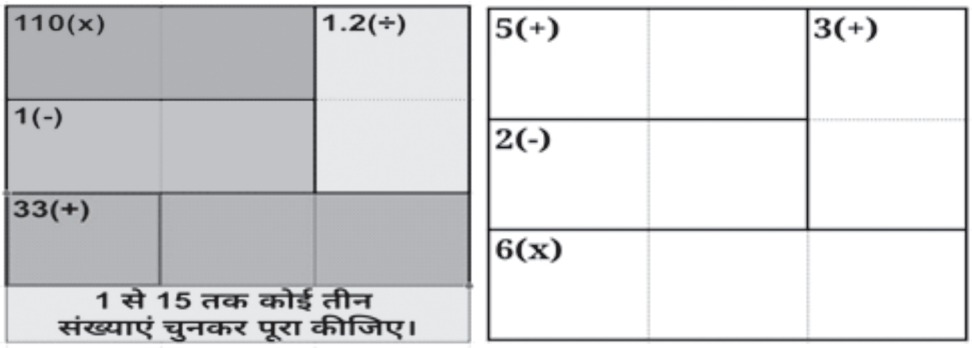
Step 6: The best possibility that satisfies the given conditions will be the solution to the puzzle.

Harbans Puzzles

Harbans Puzzles are mathematical challenges inspired by the Japanese puzzle 'Kenken' / Sudoku, designed to enhance the logical ability and problem-solving skills of students. Harbans puzzle is an acronym for 'Har Banda Samjhadhar' (HAR BAN S) in local language, which means everyone has the capability to do anything. (That is, every student is capable of doing any task at any level.) How to get started with Harbans puzzles and what are the rules? To play these puzzles, take a grid of size

3 × 3, 4 × 4, or 5 × 5.

1. If the puzzle is a 3 x 3 grid, it can only be filled with three different numbers.
2. If it is a 4 x 4 grid, it must be filled/completed with four different digits or numbers only.
3. If it is a 5 x 5 grid, it must be filled/completed with five different digits or numbers only.
4. If it is a 6 x 6 grid, it must be filled/completed with six different digits or numbers only.
5. A number cannot be repeated in each column.
6. A number cannot be repeated in each row.
7. Numbers must be selected according to the given instructions.
8. Each instruction contains a target digit and its corresponding operation.
9 Squares with the same color or a boundary must be filled according to the operation.

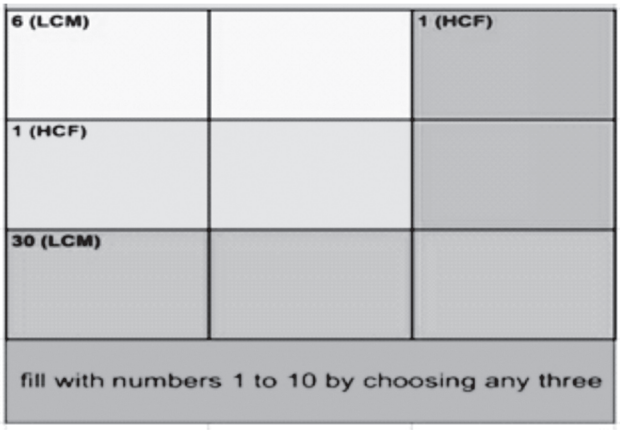


For example :- for the green squares, the target number is 110 and the operation is multiplication (x). Similarly, for the yellow squares, the target number is 1.2 and the operation is division (÷). Similarly, in the black and white puzzle, the target number and operation are given inside a thick boundary. For example, in the boundary joining the first two squares, the target number is five (5) and the operation is addition (5).

1. Two or more squares can be collected for each operation.
2. First, numbers or objects are selected step by step to explore all possible outcomes.
3. A puzzle may have more than one solution.

In this we have discussed in detail how by solving Harbans puzzle by logical method, the interest of the student increases, his logical ability develops and the intellect becomes sharp. This puzzle can be prepared on every topic of mathematics. Like addition, subtraction, multiplication, division, Lowest common multiple (LCM), Highest common factor (HCF), Percentage, fraction, decimals, angles etc.

How to solve Harbans puzzle by logical method.



1. First of all, choose any three numbers (triplets) from the numbers 0 to 10 whose least common multiple is 30.

2. Now let's check which two numbers have the greatest common factor of one. But among all the trinomials, there are 9 pairs whose greatest common factor is one.

(2,3),(3,5)(2,5),(1,5);(1,6);(5,6),(1,3);(1,10),(3,10) It would not be right to check this because we cannot draw any conclusion from it.

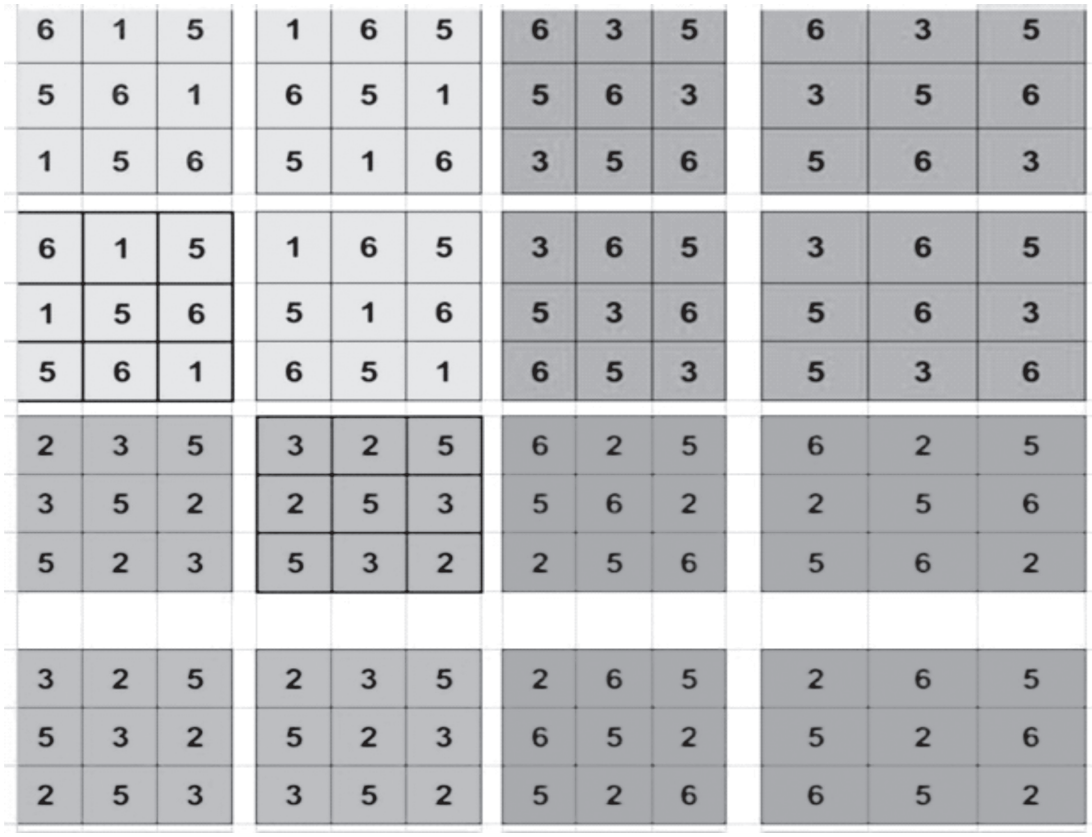
3. Now before the second point, we will check which pair of numbers in all the trinomials has the least common multiple of 6.

(2,3),(1,6),(6,2),(6,3).

4. In this way we will try to complete the Harbans puzzle with each trinomial. Now we can see that the problem can be solved with 16 types of trinomial numbers which complete the puzzle according to all the target numbers and operations.

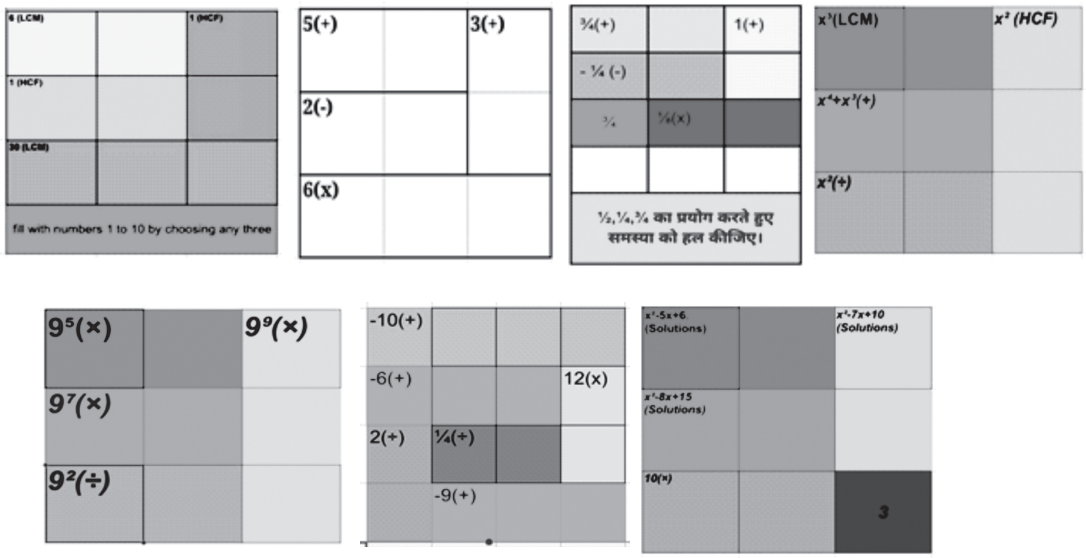
5,1,6	6,5,1	6,5,2	5,2,6
1,5,6	5,6,1	2,5,6	5,6,2
2,5,3	3,5,2	5,3,6	3,5,6
5,3,2	5,2,3	5,6,3	6,5,3

1,6,5	6,1,5	2,3,10	2,10,3
2,,3,5	6,2,5	3,2,10	3,10,2
3,2,5	2,6,5	10,2,3	10,3,2
3,6,5	6,3,5		



Main feature of Harbans puzzle

The great thing about this puzzle is that it can be created on any topic in mathematics. We can see this as an example.



The Need to Solve Mathematical Puzzles / HARBANS PUZZLE

- Solving maths puzzles will help you improve your mathematical skills.
- An interesting fact about math puzzles is that students who work with puzzles perform better than other students on any task.
- Students who solve puzzles also outperform other students in competitive exams.
- To reduce the tendency to rote learn.
- Students need it the most because this puzzle can be prepared on every topic of mathematics.

THE BENEFITS OF HARBANS PUZZLES

1. Number puzzles help make math fun.
2. They improve students' reasoning skills.
3. They develop students' patience.
4. They develop the ability to solve open-ended questions.
5. They eliminate fear.
6. They help your child understand a variety of mathematical concepts.
7. They build fluency.
8. Number puzzles help develop strategic thinking.
9. They allow children to work at their own level.
10. They enhance learning or improve the learning process.

Math puzzles are beneficial at every stage of a student's life, whether it's primary, secondary, or higher secondary. While solving puzzles for entertainment purposes is not the primary and secondary level, they help develop the habit of applying our minds to every problem we encounter. However, at the higher secondary level, this habit helps us stand out in this competitive world. Since we're already accustomed to applying our minds, puzzles like this help us enhance our thinking abilities.

Mathematical puzzles can engage students in rich mathematical exploration and logical reasoning in the classroom (Evered, 2001). Students typically do not engage in the process of mathematical thinking unless they are guided to do so.

Riddles in the Vedas and Upanishads: Ancient Indian texts such as the Vedas and Upanishads used riddles to explain esoteric knowledge and deep philosophical principles. For example, the mysteries of creation were explained through question-and-answer.

Vikram and Betal Stories: In ancient Indian literature, the stories of Vikram and Betal are also a form of riddles, in which King Vikramaditya was required to answer a complex riddle each time. These riddles involved reasoning, morality, and justice.

Question-answer and Debate: The Gurukul education system practiced the acquisition of knowledge through question-answer (in the form of riddles) between teacher and student. This process was meant to foster reasoning and thoughtfulness.

Conclusion on Puzzles and Harbans Puzzles

Harbans puzzles play an important role in developing higher-order thinking skills. And encourage learners to think beyond fixed methods, explore multiple solutions, and work collaboratively. They sharpen creativity, problem-solving ability, and flexible reasoning while also making learning enjoyable. On the other hand, Harbans puzzles, much like KenKen, blend arithmetic and logic in a structured way. They help students practice operations, avoid repetition, and develop strategies step by step.

REFERENCES

[1] and [2] :- Brain Storming Through Puzzles By Additional Director Shri Sunil Bajaj Scert Haryana.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Mental Health and School Education

Dr. Giriraj Bhojak
Assistant Professor, Department of Education,
Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun
E-mail:drbhojakgiriraj@gmail.com

Abstract

Holistic education that promotes children's well-being is the core objective of schools. Every child is equally vulnerable to mental health challenges, like physical health problems, during their formative years. This article attempts to highlight some of the major adversities faced by school children. Mental health support facilities are missing in most of the schools in India. In the given situation, school-based family counseling is recommended, which would benefit school children in addressing the issues they face. Further research on the effectiveness and scalability of school-based mental health programs is needed, and child protection should be prioritized on the national agenda. This paper examines the prevalence, risk factors, common mental health issues, the roles of family and society, interventions, and policy frameworks related to adolescent mental health in India.

Keywords: School student, academic stress, mental health, Psychosocial development, Mental health interventions, school-based programs, Policy frameworks, corporal punishment, Suicide prevention,

Introduction

Adolescence is a transformative stage characterized by rapid physical, emotional, cognitive, and social changes. During this period, individuals begin to form their identities, explore autonomy, and navigate complex relationships and life transitions. Although these developmental shifts offer growth opportunities, they also increase vulnerability to mental health challenges. Mental health, as defined by the World Health Organization, is a state of well-being in which individual scan realize their abilities, cope with normal stresses of life, work productively, and contribute to their communities. Erikson's psychosocial theory further underscores the identity versus role confusion stage during adolescence, where failure to establish a stable identity can lead to mental distress. These frameworks provide a valuable lens through which to examine and address adolescent mental health issues in India. Parents and teachers sometimes fail to understand children's challenges because of factors such as lack of knowledge, insensitivity, illiteracy, behavioral or psychological issues, family violence, or poor communication with children. This leads to poor academic performance and worsens the problem. This article attempts to highlight some of the major adversities faced by school children up

to higher secondary levels in India.

Mental health status of Indian school children

In every state, especially in government schools, emphasis is given to teaching in the local language up to the 12th Standard and even at the undergraduate levels. As a result, when the students from those academic institutes go for higher studies, they experience significant difficulty with the medium of instruction, which is English. This results in students experiencing anxiety, an inferiority complex, poor performance, and sometimes dropping out (Deb et al., 2010). Some even develop suicidal ideation and suicide (K. S. Kumar & Akoijam, 2017). This leads to poor academic performance and worsens the problem. Evidence highlights that mental health challenges adversely impact the career of the child (McLean et al., 2020). At the societal level, poverty, social exclusion, early marriage, and child labor are structural determinants that place adolescents at risk. In rural areas and among marginalized communities, limited access to education, healthcare, and safe spaces exacerbates vulnerability. Additionally, rapid urbanization and digital exposure have introduced new forms of stress.

Academic stress

Academic stress has emerged as a significant concern for secondary and higher secondary school students, particularly in Asia, where it is closely linked to various mental health issues like anxiety, depression, suicidal ideation and suicide (Mahapatra & Sharma,2020; Nandagaon & Raddi,2020). Various factors are responsible for increased academic stress in Asian countries 'children, including demographic differences, socio-economic variables, education systems and cultural values (Nandagaon & Raddi, 2020).

India's unique cultural, social and economic context profoundly influences students' mental health, particularly through societal norms and expectations. Academic achievement is often seen as a marker of self-worth and a means of upward social mobility, placing immense pressure on students to perform well. One Indian study revealed that 96.3% of students in Grades X and XII (specifically in science streams) engaged the services of private tutors, and a significant 42% of these students had four or more tutors. The study also indicated that approximately 32.6% of the students exhibited symptoms of psychiatric issues, while 81.6% reported experiencing examination-related anxiety. The effective implementation of the National Education Policy 2020 will bring some positive change to the school in the future.

Child abuse and Engagement of school students in social media

A study carried out in Kolkata disclosed that 52.4% of adolescents reported psychological abuse, 25.1% physical abuse, and12.7% sexual abuse. (Deb, Ray, Bhattacharyya, & Sun,2016). In a one-year prevalence study in Kerala, M.T. Kumar et.al. (2019) reported that child physical and emotional abuse, including sexual abuse was very common. Importantly, children who have experienced any form of violence, regardless of its nature, exhibited significantly lower social adjustment scores compared to those who had not encountered violence.

School students and young people are increasingly drawn to social media platforms, as these platforms allow them to access information and stay connected with others. While social networking has

certain benefits, it also manifests significant risks for school children. Several global studies highlighted the negative consequences of engagement of schoolchildren in social networking sites (Baltaci & Ersoz,2022; Bener et al.,2016). The scenario in India is not different. For example, one study carried out in Siliguri, West Bengal, indicates that about 70.7% of adolescents were found to be addicted to Social media.

Corporal punishment (CP) in India

In India, children experience corporal punishment (CP) at home as well as in schools. It is considered to be a normal cultural practice and is perceived to be good for disciplining children. It is defined as 'any punishment involving physical force intended to cause some degree of pain or discomfort' (Human Rights Watch, 2008, p.23). A study carried out among school children in Puducherry, India found 'that 62% of schools experienced CP in the past twelve months. Students who experienced C reported higher levels of anxiety and depression, with this relationship being particularly strong among those reporting family tension (Deb et al.,2017, p.65). Evidence indicates that children who experience CP at home face a higher risk of developing various mental health issues and suffer from compromised relationships with their parents (Maguire-Jack et al., 2012).

Domestic violence and social discrimination

Domestic violence is on the rise in Indian society, although many incidents go unreported due to factors such as women's financial dependence, social stigma, and a cultural tendency among some women to protect their husband's reputation despite enduring violence. Studies have highlighted the prevalence of family violence witnessed by children. For instance, a study revealed that 31.2% of children in urban areas had observed domestic violence in their households.

At the societal level, poverty, social exclusion, early marriage, and child labour are structural determinants that place adolescents at risk. In rural areas and among marginalized communities, limited access to education, healthcare, and safe spaces exacerbates vulnerability. The rise of social media, for instance, has brought benefits in terms of connectivity but also exposed adolescents to cyberbullying, peer comparison, and unrealistic beauty or success ideals.

Mental disorder among school students

Anxiety disorders affect an estimated 9% of children and adolescents globally, with many cases remaining undiagnosed due to the internalized and often overlooked nature of their symptoms (World Health Organization, 2022). Anxiety significantly impacts children's emotional well-being, social functioning, and academic performance, potentially leading to long-term developmental challenges (V. Kumar & Talwar, 2014). In India, mental health issues among school children are widespread, often fueled by the immense pressure to excel academically, as shaped by society and parental expectations (Pinquart,2017). Another widespread category includes behavioral disorders, such as Attention-Deficit/Hyperactivity Disorder (ADHD), Oppositional Defiant Disorder (ODD), and Conduct Disorder. These conditions often emerge in early adolescence and may lead to problems in school performance, peer relationships, and family interactions.

Suicide among students in India

The National Crime Record Bureau (NCRB,2022), Ministry of Home Affairs, Government of India data, a total of 13,089 students died by suicide in 2021 because of academic failure, averaging 36 students per day, compared to 12,526 student suicides in 2020. The data indicate that suicide is more prevalent among males, accounting for 56.51% of cases, while females represent 43.49% (NCRB,2022). The Lancet (2022) reported that suicide is the leading cause of death in the 15–19 age group in India, often driven by examination failure, bullying, familial abuse, or mental illness. The widespread neglect of adolescent mental health care infrastructure has only exacerbated these issues.

Role of Family and School

Unfortunately, many children experience complex family environments, and in turn, it adversely affects their healthy growth and development, as a good number of them experience neglect and abuse in different forms. Lee et al. (2012) noted that chronic economic hardships within families contribute to mental and physical health issues among adolescents. Furthermore, bullying, corporal punishment, discrimination based on caste, gender, or disability, and teacher insensitivity can exacerbate psychological distress. Despite the central role of schools in shaping emotional well-being, mental health services in educational settings remain grossly inadequate.

Absence of mental health support facilities in schools in India

There is a lack of initiative in providing adequate psychological support, not only for abused children and their families, but also for the perpetrators. In most health centers and intervention programs, psychologists are rarely appointed to address the mental health needs of both developing and abused or traumatized children (H. M. Singh et al., 2023). Additionally, there is a scarcity of psychologists and social workers in both government and private hospitals, where mental health care is typically handled by psychiatrists. The Mano Darpan initiative, launched by the Ministry of Education (2020) during the COVID-19 pandemic, focuses on providing psychosocial support to students, teachers, and families.

Interventions and Support Systems

In recent years, digital mental health platforms have emerged as accessible alternatives, especially for urban and tech-savvy youth. Mobile applications such as Wysa, Your DOST, Mind Peers, and government-backed helplines offer anonymous and stigma-free counseling services. These platforms use AI-driven chatbots, trained psychologists, and curated mental health content to cater to adolescents seeking help in private and confidential settings. While promising, digital interventions also present challenges, such as digital literacy gaps, privacy concerns, and the need for content in regional languages.

There was a 41% increase in mental health-related internet searches in India during the first 10 months of 2023 compared to the previous year, indicating growing public awareness and interest in mental well-being (Economic Times, 2024). The Economic Survey 2024–25 emphasizes the need for early mental health education, improved workplace mental health policies, and the expansion of digital mental health services like Tele-MANAS (PIB,2024). The National Tele-Mental Health

Programme (Tele-MANAS), launched in 2022, has established 53 operational cells across 36 states and union territories, handling over 1.45 million calls as of October 2024 (Lurnable, 2024).

School-based family counselling (SBFC) is an interdisciplinary and integrated approach to addressing children's issues and challenges in terms of both personal and academic aspects. The broad objective of SBFC is to reduce the challenges faced by children in the family, school, and community by creating a conducive and safe environment (Gerrard et al., 2023).

Additionally, teacher-counsellor collaborations can bridge gaps in mental health resources; basic mental health training for teachers enables them to identify at-risk students early and connect them with professional support. These practical interventions create a scalable, culturally sensitive framework for mental health support in schools and the family. Teachers, Accredited Social Health Activists (ASHAs), Anganwadi workers, and Auxiliary Nurse Midwives (ANMs) should be trained to recognize early signs of mental distress and refer adolescents to appropriate services.

Conclusion

With the world's largest adolescent population, the country faces both significant challenges and opportunities to improve youth well-being. This paper has highlighted the complex interplay of psychological, familial, educational, and societal factors influencing adolescent mental health, supported by recent data and established theoretical frameworks. Mental health conditions, the growing treatment gap, and promising interventions ranging from school-based programs to digital platforms and policy initiatives. The way forward lies in implementing a multi-sectoral and rights-based approach that integrates mental health into all aspects of adolescent life—home, school, and community. Enhanced budgetary allocation, improved mental health infrastructure, targeted public awareness campaigns, and a trained workforce are essential. Equally important is the need for ongoing research and disaggregated data to support evidence-based interventions.

References

1. Anda, R. F., et al. (2020). The lasting impact of adverse childhood experiences on mental health outcomes. *Journal of Adolescent Health, 67*(5), 435-443.
2. Baltaci, S., & Ersoz, A. R. (2021). Social media engagement, fear of missing out and problematic internet use in secondary school children. *International Online Journal of Educational Sciences*, *14*(1), 197–201.https://doi.org/10.15345/iojes.2022.01.015
3. Click2Pro. (2024). *Mental Health in India: Surprising Statistics You Should Know*. https://click2pro.com/blog/mental-health-india-surprising-statistics
4. Cuijpers, P., et al. (2016). Cognitive behavioral therapy for adolescent depression: A meta-analysis. *Clinical Psychology Review, 49*, 1-15.
5. Deb, S., Chatterjee, P., & Walsh, K. M. (2010). *Anxiety among high school students in India: Comparisons across gender, school type, social strata and perceptions of quality time with parents. Office of Education Research: Faculty of Education. http://files.eric.ed.gov/fulltext/EJ885704.pdf*
6. Deb, S., Strodl, E., & Sun, J. (2015). Academic stress, parental pressure, anxiety and mental health among Indian high school students. *International Journal of Psychology and Behavioral Sciences*, *5*(1), 26–34http://www.sapub.org/global/showpaperpdf.aspx?doi=10.5923/j.ijpbs.20150501.04
7. Erikson, E. H. (1968). Identity: Youth and Crisis. W. W. Norton & Company.
8. Government of India. (2017). *Mental Healthcare Act, 2017. Ministry of Law and Justice*.

9. Government of Kerala. (2020). *Jeevan Mental Health Program. Directorate of Collegiate Education.*
10. Gururaj, G., Varghese, M., Benegal, V., Rao, G. N., Pathak, K., Singh, L. K., ... & NMHS Collaborators Group. (2016). National Mental Health Survey of India, 2015-16: Summary. NIMHANS Publication.
11. Journal of Mental Health and Human Behaviour. (2024). *Bridging the Mental Health Treatment Gap inIndia*.https://journals.lww.com/mhhb/fulltext/2024/07000/bridging_the_mental_health_treatment_gap_in_india_.3.aspx
12. Kumar, K. S., & Akoijam, B. S. (2017). Depression, anxiety and stress among higher secondary school students of Imphal, Manipur. *Indian Journal of Community Medicine*, *42*(2), 94. https://doi.org/10.4103/ijcm_266_15
13. Lee, T. K., Wickrama, K. a. S., & Simons, L. G. (2012). Chronic family economic hardship, family processes and progression of mental and physical health symptoms in adolescence. *Journal of Youth and Adolescence*, *42*(6), 821–836.https://doi.org/10.1007/s10964-012-9808-1
14. Lurnable. (2024). *India's Workplace Mental Health Initiatives 2024*. https://www.lurnable.com/content/indias-workplace-mental-health-initiatives-2024/
15. Mahapatra, A., & Sharma, P. (2020). Education in times of COVID-19 pandemic: Academic stress and its psychosocial impact on children and adolescents in India. *International Journal of Social Psychiatry*,*67*(4), 397–399.https://doi.org/10.1177/0020764020961801
16. Maguire-Jack, K., Gromoske, A. N., & Berger, L. M. (2012). Spanking and child development during the first 5 years of life. *Child Development*, *83*(6), 1960–1977. https://doi.org/10.1111/j.1467-8624.2012.01820.x
17. McLean, L., Abry, T., Taylor, M., & Gaias, L. (2020). *The influence of adverse classroom and school experiences on first year teachers' mental health and career optimism. Teaching and Teacher Education*, *87*, Article 102956. https://doi.org/10.1016/j.tate.2019.102956
18. Ministry of Health and Family Welfare. (2025). *National Mental Health Programme Annual Report 2024–25*. Government of India.
19. Nandagaon, V., & Raddi, S. (2020). Depression and suicidal ideation as a consequence of academic stress among adolescent students. *Indian Journal of Forensic Medicine & Toxicology*, *14*(4), 4464–4468. https://doi.org/10.37506/ijfmt.v14i4.12344
20. National Crime Record Bureau. (2022). *Accidental deaths and suicides in India 2021: Student suicides*. https://ncrb.gov.in
21. Patton, G. C., et al. (2018). Global patterns of adolescent mental health disorders. *The Lancet Child & Adolescent Health, 2*(2), 95-105.
22. Pinquart, M. (2017). Associations of parenting dimensions and styles with externalizing problems of children and adolescents: An updated meta-analysis. *Developmental Psychology*, *53*(5), 873–932. https://doi.org/10.1037/dev0000295
23. PMC. (2024). *Improving Child and Adolescent Mental Health in India: Status, Services, Policies, and Way Forward*. https://pmc.ncbi.nlm.nih.gov/articles/PMC6657557/
24. The Lancet. (2022). Suicide is the leading cause of death in Indian adolescents aged 15–19. *The Lancet Regional Health – Southeast Asia, 3*, 100037. https://doi.org/10.1016/j.lansea.2022.100037
25. Times of India. (2025, May 8). *Cops organise outreach programme for female students*. https://timesofindia.indiatimes.com/city/bhubaneswar/cops-organise-outreach-programme-for-female-students/articleshow/121006175.cms
26. Twenge, J. M., et al. (2021). Social media and adolescent mental health: Examining the impact. *Journal of Youth Studies, 24*(6), 732-748.
27. World Health Organization. (2022). Adolescent mental health: Current challenges and strategies. Retrieved from https://www.who.int/health-topics/adolescent-mental-health

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

साहित्य में नारी की भूमिका

डॉ. आरती दुबे
प्रवक्ता-हिन्दी, लक्ष्मी यदुनन्दन महाविद्यालय
कायमगंज (फर्रुखाबाद)

नारी ईश्वर की सर्वोत्तम प्रति एवं शक्ति का उद्‌भव स्रोत है। अपने नैनों में मूक स्नेह का वरदान लिए, कुसुम-कोमल तन में जाने कहाँ अदम्य साहस एवं शौर्य का असीम भंडार एकत्रित किए नारी मात्र का जीवन एक ऐसा ममता मंदिर है, जहाँ पहुँचने पर वह भावना एवं श्रद्धा के प्रसूनों से अर्पित कर उठता है ईश्वर। स्नेहधारिणी की वर्षा कर यह शांत पथिक के जीवन के पाषाणों को बसंत में परिणत कर देने वाली नारी का जीवन कब अतीत धूप-छाँव सा गुणगुण रहा है। उसके जीवन रूपी झुरमुटों में सुख-दुःख आँख-मिचौली खेलते रहे हैं।

"मातृ देवो भव" यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

आदि कहकर जहाँ उसकी महत्ता प्रतिपादित की गई है।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक नारी की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। साहित्य के हृदय में समाज की धड़कन सुनाई देती है और नारी इस समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। साहित्य में उसका चित्रण देखने पर सर्वप्रथम दृष्टि आदि युग की ओर जाती है, जिसमें उसे सम्माननीय व सर्वोच्च पद प्राप्त था। वह वंदनीय एवं पूज्या थी। वह ईश्वर से साक्षात् वरदान को पाकर जीवन रूपी कर्म क्षेत्र में अपनी त्यागमयी भागीरथी से पुरुष नर जाति को दीक्षित करती थी। सीता एवं सावित्री जैसी नारियाँ नारीत्व की चरम विकास बनकर अवतीर्ण हुई हैं। उसके पश्चात् वैदिक काल में भी उनकी स्थिति उन्नत थी। नारी को इस युग में एक रत्न की संज्ञा से सुशोभित किया गया है। इस युग की मैत्रेयी, गार्गी, भारती, अनुसूया आदि नारियाँ अविस्मरणीय हैं। ऐसी नारियों को लक्ष्य कर कवि हृदय कह उठता है–

तुम्हारी पावनता अभिमान, शक्ति पूजन का है सम्मान।
अकेली सुंदरता कल्याणी, सकल ऐश्वर्य की खान।।

उत्तर वैदिक काल में नारी की स्थिति दुर्बल होती चली गई। रामायण काल में कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर नारियों की स्थिति सुदृढ़ थी। तत्कालीन समाज में नारी को एक कन्या, माता और विदुषी के रूप में समस्त सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे तथा राष्ट्र के उत्थान में उनका एक महत्वपूर्ण स्थान था। महाभारत काल में उसे धर्म की शिक्षा के अंतर्गत पति को देवता रूप मानने का सर्वत्र विधान बनाया गया, उसके अधिकार क्षेत्र सीमित होने लगे। बौद्ध काल में भी देवी, संघमित्रा आदि अनेक विदुषी महिलाएँ हुईं।

सामंतवादी युग में उसे भोग-वस्तु माना जाने लगा। उत्तरगुप्त काल में आंतरिक विघटन की प्रचण्डता ने राजपूत युग में वह अनेक कुप्रथाओं के रूप में दिखाई दी। वीरता की गाथा के साथ ही जौहर के माध्यम से उसकी सत्ता को नकार दिया गया। मुसलमानों के आगमन पर नारियों की दशा बहुविवाह, सती प्रथा आदि के कारण करुणाजनक व सोचनीय होती गई।

विदेशी आक्रमणकारियों की कुप्रवृत्ति का प्रभाव देश के समाज पर भी पड़ा। स्त्रियों के लिए लोगों ने बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा जैसी कुप्रथाओं को जन्म दिया, जिससे नारी के समस्त अधिकार छिन गए। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी सहजोबाई, बावरी साहिबा, मीराबाई जैसी नारियों ने अपने भक्ति-पदों द्वारा अशांत जनमानस में शांति का संचार किया। मीरा के भक्ति-पदों की सर्वश्रेष्ठ महिला कवयित्री परम्परा से उन्हें अल्पकाल ही में लोकप्रिय बना दिया। उनके पदों में न केवल भक्ति-भावना, बल्कि उनका प्रेम, स्वाभिमान और पारिवारिक संघर्ष भी परिलक्षित होता है। उनके काव्य में उस समय के पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों का सजीव चित्रण मिलता है। वे समाज में व्याप्त तत्कालीन सती प्रथा का भी विरोध करती हैं। यद्यपि उनके पति की मृत्यु के पश्चात् भी वे सती नहीं हुईं। वे स्वयं को अजर-अमर स्वामी की चिर सुहागिन मानती थीं–

"जग सुहाग मिथ्या री सजनी, हवा हो मिटसी मिट जासी।
बरन कर्या हरि अविनाशी, म्हारो काल व्याल न खासी॥"

भारत पर मुस्लिमों के आक्रमणों के बाद नारी की करुण गाथा का आरम्भ हुआ। आक्रमणकारियों ने यहाँ की महिलाओं को बंदी बनाकर अपने साथ ले जाना आरम्भ कर दिया और स्त्रियाँ पिता और भाइयों की संपत्ति मात्र बनकर रह गईं। परिणामस्वरूप आम जन के मन में स्त्रियों के प्रति हीनता दिखाई देने लगी। अपने ही स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करने लगे। युवतियों की काम-लोलुप दृष्टि से रक्षा के लिए स्त्रियों को पर्दे में रखा जाने लगा। स्त्रियों की स्वतंत्रता का हनन होने लगा। समाज में पर्दा प्रथा होने लगा तथा बाल विवाह, जौहर, सती प्रथा, शिक्षा पर प्रतिबंध जैसी अनेकानेक कुरीतियाँ सामने आने लगीं। भारत के कुछ हिस्सों में इस काल में देवदासियों या मंदिरों के पुजारियों का शोषण होने लगा। शक्तिरूपा भारतीय नारी अबला हो गई। पूजा जी की एक प्रसिद्ध पंक्तियाँ वस्तुतः मधुयामिनी ने निरीह भारतीय कन्या का ही सच्चा रूप प्रस्तुत करते हुए कहा है–

"जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

नारी की ऐसी स्थिति सुधारने के लिए दयानन्द सरस्वती, गोविन्द रानाडे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राममोहन राय, महात्मा गाँधी जैसे समाज सुधारकों ने अथक प्रयास किए, जिनके फलस्वरूप उनकी स्थिति में सुधार आया और आज की नारी के रूप में प्रतिष्ठित हुई। नवीन परिस्थितियों में नारी जागरण और राष्ट्रीय आंदोलन के कारण नारी की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आया। परिणामस्वरूप पहली बार साहित्य रचना में महिलाओं ने खुलकर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। हिन्दी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में महिलाओं ने अपनी उपस्थिति दर्ज की। चाहे काव्य हो या गद्य साहित्य, कहानी, उपन्यास हो या अनुवाद–देशप्रेम की भावना को कलात्मक रूप प्रदान करने वाली प्रथम कवयित्री के रूप में सुभद्रा कुमारी चौहान की एकमात्र 'झाँसी की रानी' कविता ही उन्हें प्रसिद्धि देने के लिए पर्याप्त है। श्रीमती महादेवी वर्मा तो आधुनिक हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से लेखनी चलाने वाली महादेवी जी की 'श्रृंखला की कड़ियाँ' महत्वपूर्ण पुस्तक है। काव्य रचनाओं के अतिरिक्त अन्य विधाओं–रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा, आत्मकथा, रिपोर्ताज, डायरी, भेंटवार्ता (इंटरव्यू) आदि की रचनाओं में आपका रचना-संसार दर्शनीय है।

आधुनिक काल में तो कथा साहित्य का आरम्भ ही हुआ। महिला रचनाकारों में राजेन्द्र बाला घोष की 'दुलाईवाली' कहानी से। आगे चलकर मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, कृष्णा सोबती, नासिरा शर्मा, उषा प्रियंवदा आदि के लेखन में आधुनिक स्त्री का दर्द सशक्त रूप में ध्वनित होता है।

21वीं सदी को नारी सशक्तिकरण का युग कहा जा सकता है। वर्ष 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष के रूप में भी मनाया गया, तब से विश्व के सभी देशों में महिलाओं की प्रगति के अनेक आंदोलन हुए, जिससे नारी जीवन में एक नई शक्ति का नया उन्मेष आया। वह स्वयं परम्परागत प्राचीन मान्यताओं को अस्वीकार कर नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना करते हुए सीमित धरातल को त्यागकर विश्व के विस्तृत प्रांगण में विचरण की लालसा मन में संजोए जीवन-पथ पर अग्रसर होने लगी। नारी में युगांतरकारी नवचेतना का प्रादुर्भाव हुआ। उसके अधिकार-बोध, आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास की प्रवृत्तियाँ

समाहित हुई। इसका प्रभाव संसार की समस्त लेखिकाओं पर पड़ा। हिन्दी साहित्य में लेखन के वर्चस्व को चुनौती देती महिला रचनाकारों की लंबी कतार हमारे समक्ष है, जिसमे महाश्वेता देवी, मंजुल भगत, चित्रा मुद्गल, मृणाल पांडे, उषा प्रियंवदा, मेहरुन्निसा परवेज, प्रभा खेतान, जया जादवानी, सुधा अरोड़ा, कृष्णा सोबती आदि प्रमुख हैं। इस सदी की महिला साहित्यकारों की बात करें तो उन्हें गिनने में ज़रा भी संकोच नहीं होगा। हिन्दी साहित्य को गतिशील बनाने में महिला साहित्यकारों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय रही है। को नित्यता सत्यता से एक नारी समाज की एक ऐसे रूप में शायद ही समझ पाते। नारी शोषण और उसे दबाने को चलने वाली सभी परिस्थितियों का विरोध करते हुए नारी के स्वतंत्र अस्तित्व और निर्णय के अधिकार को व्यक्त करने के लिए नारी ने लेखनी उठाई। महिला लेखिकाओं ने लेखन के माध्यम से नारी चरित्र के जितने व्यापक और विस्तृत रूप से सम्भावित हो सकते हैं, सभी का उल्लेख किया गया है। नारी जीवन के शैशव, युवावस्था, विवाहिता, माता, जननी, प्रेमिका, परित्यक्ता, भोगवादी चिंतन से संपन्न विवाह जैसी संस्था को अस्वीकार करती, पूर्वविवाहिता, संगिनी, कालगर्ल के अतिरिक्त तमाम संबंधों के सार्थक अर्थ हुई हैं। विघटन के संदर्भ में जीती हुई स्त्री हिन्दी साहित्य का एक ऐसा जीवन-चरित्र है, जो कथात्मक उद्देश्य और निष्कर्ष का अनकथित तथ्य है।

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'दिलो दानिश' में विवाहेतर संबंधों और उसकी स्वीकृति का बड़े कौशलपूर्ण रूप से परिपुष्ट हुआ है। मृदुला गर्ग ने 'कठगुलाब' में आधुनिक नारी चेतना को विविध बिंदुओं में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रभा खेतान की 'छिन्नमस्ता' स्त्री-विमर्श, चिंतन और संवेदना के केंद्र में है।

हिन्दी साहित्य में नारी का योगदान बहुत ही रहा है। नारी का जीवन बहुत ही संघर्ष से व्यतीत है। महिला साहित्यकार के लिए सबसे पहले बाहरी संदर्भों में उसका आंतरिक समय होता है, जहाँ वह जीती है और साँस लेती है। और वहीं दूसरी ओर होती है समय की चुनौतियाँ, जिनसे बिलकुल परे होती है। उनके जीवन में सृजन के बीच लगातार की स्थिति बनी रहती है। उनकी राह आसान नहीं है। उनकी राह में बहुत सी विचारधाराओं की दुश्वारियाँ हैं। साहित्य जब मौखिक परंपरा का हिस्सा था, तब तक लेखन में स्त्रियों का योगदान बराबरी के स्तर पर रहा, परंतु इतिहास के पन्नों में उनका ज़िक्र नहीं किया गया, क्योंकि उन्हें कोई जगह नहीं मिली। अगर नारी का योगदान का मूल्यांकन साहित्य में करना हो तो वह किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं है।

आज के दौर में महिलाओं ने पुरुषों के मुकाबले सशक्तता निभाई है। महिलाओं के अंदर चेतना, बढ़ती चेतना और जागरूकता ने पारंपरिक कड़ी को तोड़ा है। देखा जाए तो साहित्य में नारी की भागीदारी जिस तेजी से बढ़ रही है, उसे देखते हुए नारी की अभिव्यक्ति की सार्थकता पर हैरान होने वाली कोई बात नहीं रहेगी। जैसे कि गंगा, गौरी, सीता स्मृति, शोभा, प्रभुता, गोपाली, गणेश देवरानी कला, भानुमति सुचि, सत्यभामा, जमुना कोरी, रामा, मुगा, देवा, देशभक्तरंजन, विश्वमुक्ता, गुंजा जेवा, कर्की, कमला, देवकी, हीरा झाली, हीरू खेरी, पीपो भगत, कल्याण युवती, जन भक्तराज, महिमा आदि जागृत कवयित्रियाँ थीं। इन कवयित्रियों ने कविताएँ लिखीं, परंतु इनकी कविताएँ कहाँ गईं यह कोई नहीं जानता। भक्ति काल की समस्त कवयित्रियों की यह व्यथा और विवशता है कि वे अपनी जीवन-वेदना और विरह को अभिव्यक्त करती हैं। कवयित्रियों चाहे वह मीरा हों या चल्लेखरी, भक्ति में मिठास के साथ इनकी दमनकारी व्यवस्था के प्रति आक्रोश को सहज ही पहचाना जा सकता है।

परंतु दुःख की बात यह है कि इनमें से कुछ कवयित्रियों की जानकारी है और कुछ मठवादी हो गई हैं। उनके बारे में या उनकी लिखी कविताओं के बारे में कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

तुलसीदास के साथ-साथ रत्नावली भी कवि थीं, पर हिन्दी साहित्य के अभी तक के इतिहास में उनके अस्तित्व को दर्ज नहीं किया गया है। भक्ति काल में खास बात यह है कि पुरुष कभी स्त्री का आराधन करते हुए आते हैं, तो कभी भी पुरुष हो जाते हैं। हैरान कर देने वाली बात है कि किसी पुरुष कवि के विवरण के साथ उससे संबंधित स्त्री का उल्लेख कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए शिल्पिका में घनानंद और सुजान का उदाहरण दिया जा सकता है। इस पद में घनानंद का नाम है, वह तो उनकी ही है जिसमें सुजान का नाम है, वह भी घनानंद के नाम में ही है। पद से लिंग निर्धारण नहीं

है। ऊपर से सम्पादक प्रायः तक देते हैं कि अपनी पूर्व प्रेयसी से घनानंद को अत्यंत प्रिय रही होगी, इसलिए वह उसका मोह न छोड़ पाए। आज साहित्य की विभिन्न विधाओं में महिलाओं से कोई क्षेत्र अछूता नहीं रहा।

महिला लेखन की सबसे बड़ी सीमा यह भी है कि आज भी पुरुष-प्रधान समाज में अपनी बात की अभिव्यक्ति का साहित्य नहीं जुट पाता। उनका दबा हुआ स्वर स्त्रियों की यादों को जोड़ते हुए दबा हुआ स्वर यहाँ पर उभरता रहा है कि स्थापित लेखक अपनी आत्मा और अपनी सिद्धहस्तता, पूर्वाग्रह और खेमेबाज़ी के चलते नारी के लेखन को खारिज कर अपने स्तरहीन रचनाकारों को स्थापित कर देते हैं। आज़ादी के लड़ाई के समय उत्तर साहित्य में उभरता उसमें देशकाल, परिस्थितियाँ और देश-प्रेम की अभिव्यक्ति साफ़ लक्षित होती है। महादेवी वर्मा, सरोजिनी नायडू, सुभद्रा कुमारी चौहान, उषा देवी मिश्रा आदि कई लेखिकाओं ने अपने समय को अभिव्यक्ति दी है। और उनके प्रति लिखी गई कविताएँ या अन्य संस्मरण लेखन का योगदान हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुआ।

स्वतंत्रता के बाद नारी लेखन में मुक्ति के स्वर में नारी, जिसे पुरुषों ने सती-सावित्री का झोला पहनाकर रखा था, नारी स्वभावतः न वैसी एक खूबसूरत देह थी, एक ऐसी देह जिसके अंदर कोई भावना नहीं होती। वह जीवन देह जो कभी किसी चीज़ की आशा नहीं रखती, अपने अंदर की भावनाओं को छुपा कर रखती है, जिसे पुरुष-प्रधान व्यवस्था अपने इशारों पर नचा सकती है। देह-नारी भावनाओं की अभिव्यक्ति कई सदियों के भीतर ही भीतर रही थी और आज नारी लेखन में ही अभिव्यक्त हुई, क्योंकि नारी ने ही नारी की पीड़ा को समझा और नारी ने ही उनके दुखों और उनकी पीड़ा को शब्द दिए, जो कि एक पुरुष नहीं समझ सकता। नारी ने ही उनके जीवन की समस्त व्यथा को लिखा।

मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, चंद्रकिरण, शशिप्रभा शास्त्री का लेखन नारी अस्मिता को तलाशता है।

नारी साहित्य लेखन एक और सत्ता-सुखाय है तो दूसरी ओर जनहित है। नारी साहित्य इस परिवर्तित युग का शुभागीतिक है। आज के युग में भारतीय संस्कृति में नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ऐसे में वे शिव भी हैं, और शक्ति भी हैं। वह भी सभी कार्य कर सकती है, जो एक पुरुष कर सकता है। एक पुरुष के समान उससे अधिक कार्य कर सकती है।

पत्रकार गीता श्री के शब्दों में जब स्त्री कलम उठाती है, पुरुष परेशान हो जाते हैं। उन्हें आईना नापसंद है, और वह अगर स्त्री द्वारा हो तो उनके विवेक का बाँध टूट जाता है। यह एक प्रकार का प्रतिरोध नहीं, वरन् पीछे छूट चुके स्त्री लेखन के ताकत की अभिव्यक्ति है। आज महिला लेखिकाओं की लंबी कतार समय के आधार पर देख रही है और सच को सामने रख रही है।

निष्कर्ष

आज महिला लेखन स्त्री-समर्पित नई समाज व्यवस्था के निर्माण को व्याकुल है। यह सुखद है कि आज अपनी पीली हुई तथा आधुनिक विषय-वस्तु, विचारों को लेकर हमें आधुनिकीकरण तथा शैल्पिक लेखन हिन्दी साहित्य को नई दिशा एवं दशा प्रदान कर रहा है। अंत में हम महादेवी वर्मा के शब्दों को उद्धृत करते हुए कह सकते हैं कि "यदि स्त्री के सहयोग से शून्य हो तो आधी मानव जाति के प्रतिनिधित्व से शून्य समझी जाएगी।"

संदर्भ ग्रंथ

1. नारी प्रश्न – सरला महेश्वरी
2. वागर्थ – मई जून 2008
3. इंडिया टुडे – साहित्य वार्षिकी, 2000
4. सृजन पथ – मार्च, 2010

5. दस्तावेज – सितम्बर अक्टूबर, 2009
6. भारतीय इतिहास में नारी – डॉ. डी. के. शरण
7. परिधि पर स्त्री – मृणाल पांडे
8. भारतीय महिला एवं आधुनिकीकरण – मुजम्मिल हसन 'आरजू'
9. स्त्री विमर्श रू साहित्य एवं व्यावहारिक संदर्भ – डॉ. करुणा उमरे
10. कथाक्रम – जुलाई, 2009

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के तनाव, अवसाद एवं आत्मसम्मान पर राजयोग का प्रभाव : एक समीक्षात्मक अध्ययन

कल्पना
Research Scholar,
Department of Yogic Science,
Centre for Academic Research, Manipur International University, Imphal-795004, Manipur
Reg- No-: MIU/23/PYS/PSY/GL/80
ORCID: 0000&0000&0000&0000
Email: kalpanagautam45@gmail.com

डॉ. सत्येंद्र कुमार
Assistant Professor & Research Supervisor
Value Education Wing, Prajapita Brahma Kumaris Ishwariya Vishwavidyalaya,
Mount Abu-307501, Rajasthan
ORCID: 0000&0000&0000&0000
Email: satendra@bkivv.org

Running Title: Rajyoga and Student Mental Health
Word Count: 3990 'kCn
Tables: 2 | Figures: 1
Conflict of Interest: Authors declare no conflict of interest
Funding: No funding received
Ethical Approval: Not applicable & Review paper

ABSTRACT

Background: माध्यमिक स्तर 13-18 वर्ष की आयु मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सबसे संवेदनशील है। बोर्ड परीक्षा, करियर दबाव, सोशल मीडिया तुलना और पारिवारिक अपेक्षाओं के कारण 70-80% छात्र तनाव, चिंता और निम्न आत्मसम्मान से जूझ रहे हैं।

Objective: इस समीक्षात्मक अध्ययन का उद्देश्य 2010-2026 के प्रकाशित शोध साहित्य का विश्लेषण कर राजयोग ध्यान के तनाव, अवसाद और आत्मसम्मान पर प्रभाव का मूल्यांकन करना है।

Methods: PRISMA 2020 दिशानिर्देशों का पालन करते हुए PubMed, PMC, DOAJ, Zenodo डेटाबेस

में "Rajyoga meditation", "adolescent stress", "self-esteem" कीवर्ड से खोज की गई। 32 में से 18 शोधपत्रों को शामिल किया गया।

Results: 6-8 सप्ताह, 15-20 मिनट/दिन राजयोग अभ्यास से Perceived Stress Scale स्कोर 25-30% घटता है, कोर्टिसोल लेवल सामान्य होता है, HAM-A/HAMD स्कोर में $p<0.001$ पर कमी आती है, Rosenberg Self-Esteem Scale पर 15-22% बढ़ोतरी होती है।

Conclusion: राजयोग ध्यान माध्यमिक छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए गैर-औषधीय, लागत-प्रभावी और स्कूल-आधारित हस्तक्षेप के रूप में प्रभावी है।

Keywords: राजयोग, माध्यमिक छात्र, तनाव, अवसाद, आत्मसम्मान, माइंडफुलनेस, कोर्टिसोल

Keywords: Rajyoga, Secondary Students, Academic Stress, Depression, Self-esteem, Mindfulness, Cortisol

1. INTRODUCTION

किशोरावस्था को मनोवैज्ञानिक विकास का सबसे अस्थिर चरण माना जाता है। इस कालखंड में माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी शैक्षणिक प्रतिस्पर्धा, करियर संबंधी अनिश्चितता, अभिभावकीय अपेक्षाओं तथा डिजिटल मीडिया पर होने वाली तुलनात्मक संस्कृति के संयुक्त दबाव का सामना करते हैं।

राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य सर्वे 2015-16 में पाया गया कि 13-17 आयु वर्ग के 7.3% बच्चे प्रमुख अवसादग्रस्त विकार से पीड़ित हैं। तनाव के शारीरिक लक्षण - सिरदर्द, अनिद्रा, थकान - और मनोवैज्ञानिक लक्षण - चिड़चिड़ापन, एकाग्रता की कमी, नकारात्मक सोच - मिलकर 'तनाव-अवसाद-निम्न प्रदर्शन' का दुष्चक्र बनाते हैं।

राजयोग का अर्थ है मन पर नियंत्रण स्थापित करने की प्राचीन तकनीक। यह शारीरिक आसनों से मुक्त एक चिंतन-आधारित ध्यान पद्धति है, जहाँ साधक शारीरिक पहचान से ऊपर उठकर स्वयं को शांत चौतन्य सत्ता के रूप में अनुभव करने का अभ्यास करता है। विशेषताः 15-20 मिनट प्रतिदिन, कोई उपकरण नहीं, कहीं भी किया जा सकता है।

2. METHODS

ये PRISMA 2020 दिशानिर्देशों पर आधारित व्यवस्थित साहित्य समीक्षा है।

Search Strategy: जनवरी 2010 से अप्रैल 2026 तक PubMed, PMC, DOAJ, Zenodo, ERIC डेटाबेस खोजे गए। कीवर्डः ("Rajyoga" OR "Brahma Kumaris meditation") AND ("adolescent" OR "secondary school student") AND ("stress" OR "depression" OR "self-esteem")

Inclusion Criteria: 1. आयु 13-18 वर्ष, 2. माध्यमिक छात्र, 3. राजयोग हस्तक्षेप =4 सप्ताह, 4. PSS/SAS/SDS/Rosenberg Scale, 5. अंग्रेजी/हिंदी भाषा।

3. RESULTS

3.1 तनाव पर प्रभाव

Reddy - Devi 2023 का अध्ययन तेलंगाना के 100 कक्षा 9-10 छात्रों पर हुआ। 8 सप्ताह, सप्ताह में 3 दिन, 45 मिनट राजयोग के बाद प्रयोगात्मक समूह में Emotional Well-Being Scale स्कोर 18.4% बढ़ा जबकि नियंत्रण समूह में 2.1% गिरावट। $p<0.001$।

Jha et al- 2025 के ल्ब्ज में राजयोग अभ्यासियों में पोस्ट-ऑपरेटिव कोर्टिसोल वृद्धि नियंत्रण समूह की तुलना में 38% कम थी। 5वें दिन कोर्टिसोल नॉर्मल रेंज में आ गया।

3.2 अवसाद पर प्रभाव

Jha et al- 2024 के अध्ययन में 100 सह-रुग्ण चिंता + अवसाद रोगियों को 6 सप्ताह, 20 मिनट/दिन राजयोग कराया गया। HAM-A स्कोर 24.3 से 12.1 और HAM-D स्कोर 22.7 से 10.4 हो गया। $p<0.001$।

Liu et al- 2024 में 8 सप्ताह योग मेडिटेशन से SAS स्कोर 51.5 से 41.9 और SDS स्कोर 57.4 से 44.5 तक गिरा।

3.3 आत्मसम्मान पर प्रभाव

Singh et al- 2014 के अध्ययन में राजयोग अभ्यासियों का self-satisfaction स्कोर non-meditators से $p<0.001$ अधिक था। Kim 2019 में 8 सप्ताह योग निद्रा से Rosenberg Self-Esteem Scale सार्थक बढ़ा।

राजयोग आत्मसम्मान की परिभाषा बदलता है। 'मैं शरीर हूँ + मेरे अंक = मेरा मान' से हटकर 'मैं आत्मा हूँ + मेरे गुण = मेरा मान'।

4. DISCUSSION

उपलब्ध शोध प्रमाण संकेत देते हैं कि राजयोग का प्रभाव चार परस्पर जुड़े आयामों के माध्यम से प्रकट होता है : शारीरिक-जैविक स्तर पर तंत्रिका-हार्मोनल संतुलन, मानसिक-संज्ञानात्मक स्तर पर विचार प्रक्रिया का पुनर्गठन, भावनात्मक स्तर पर संवेग नियमन की क्षमता, तथा आत्म-पहचान स्तर पर स्व-मूल्यांकन का रूपांतरण।

सीमाएँ : 1. अधिकांश अध्ययन छोटे सैंपल $n<200$, 2. लॉन्ग-टर्म फॉलोअप >1 साल कम, 3. भारत में बड़े RCT का अभाव।

5. CONCLUSION

नियमित राजयोग ध्यान माध्यमिक छात्रों में तनाव 25-30% घटाता है, अवसाद के लक्षणों में राहत देता है, और आत्मसम्मान को स्थिर करता है। स्कूल की प्रार्थना के बाद 7-10 मिनट मौन अभ्यास अनिवार्य किया जाना चाहिए।

6. RECOMMENDATIONS

1. CBSE स्कूलों में "Student Wellness" पीरियड में 10 मिनट राजयोग अनिवार्य
2. शिक्षकों को 3-दिवसीय बेसिक राजयोग प्रशिक्षण
3. बोर्ड परीक्षा से 2 महीने पहले "Exam Stress Relief Camp"
4. NCERT को मल्टीसेंटर RCT करना चाहिए

TABLE 1

Table 1: Characteristics of Included Studies on Rajyoga and Student Mental Health

S.No.	Author, Year	Country	Sample N	Age Range	Design	Duration	Tools Used	Main Outcome
1	Reddy & Devi, 2023	India	100	13-16	Quasi-Exp	8 weeks	EWBS, PANAS	Stress ↓ 18.4%, $p<0.001$
2	Jha et al., 2024	India	100	34±9	RCT	6 weeks	HAM-A, HAMD	Depression ↓54%
3	Liu et al., 2024	China	120					

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

कुरुम्बा (कुरुम्बर) जनजाति के लोकजीवन और संस्कृति

डॉ. संजीव कुमार. के
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
एम.इ.एस कल्लडी. कॉलेज (ओटोणमस)
मन्नाटकाड, पालकाड, केरल-678583

कुरुम्बा केरल राज्य के पालक्काड जिले के अट्टाप्पाडी पर्वतीय क्षेत्र में निवास करने वाली एक प्राचीन जनजाति है। ऐतिहासिक निष्कर्षों के अनुसार, कुरुम्बर समुदाय केरल की सीमा से लगे तमिलनाडु और कर्नाटक राज्यों को जोड़ने वाले नीलगिरि क्षेत्र से यहाँ आकर बसा है। 'कुरुम्बर' शब्द का अर्थ 'पहाड़ों में रहने वाले लोग' माना जाता है। इसकी व्युत्पत्ति 'कुरुम्ब् + आर' से हुई है, जिसका अर्थ है—'पहाड़ों में निवास करने वाले लोग'। कुरुम्बर जनजाति अट्टाप्पाडी के पुत्तूर ग्राम पंचायत के अंतर्गत स्थित विभिन्न बस्तियों में निवास करती है। यद्यपि इनकी जनसंख्या अट्टाप्पाडी की अन्य जनजातियों की अपेक्षा कम है, तथापि कुरुम्बर इस क्षेत्र की प्राचीनतम एवं मूल जनजातियों में गिने जाते हैं।

कुरुम्बा जनजाति के घरों को 'कूरे' कहा जाता है। कई कूरे मिलकर जो बस्ती बनती है, उसे 'ऊर' (कॉलोनी) कहा जाता है। ऊर के मुखिया को 'ऊरु मूप्पन' तथा उनकी पत्नी को 'मूप्पत्ति' कहा जाता है।ऊरु मूप्पन को राजा तथा न्यायाधीश के समान सम्मान और अधिकार प्राप्त होते हैं। मूप्पन का पद वंशानुगत होता है। मूप्पन की अनुपस्थिति में बस्ती के कार्यों का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति को 'बण्डारी' तथा उनकी पत्नी को 'बण्डारिच्ची' कहा जाता है। बण्डारी बस्ती के आर्थिक एवं वित्तीय कार्यों का दायित्व संभालता है। इसी प्रकार, मूप्पन के सहायक के रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति को 'करुत्तला' तथा भूमि और बीजों की देखरेख करने वाले व्यक्ति को 'मण्णुकारन' कहा जाता है। सीमा-विवाद, विवाह संबंधी मामले आदि विषयों में ये हस्तक्षेप करके उचित निर्णय लेते हैं।

कुरुम्बा सामान्यतः गहरे रंग के तथा कम कद के होते हैं। उनकी नाक कुछ चपटी तथा होंठ अपेक्षाकृत चौड़े होते हैं। महिलाओं के बाल घुँघराले होते हैं। मजबूत जबड़े उनकी प्रमुख शारीरिक विशेषताओं में से एक हैं। कठिन वन जीवन और निरंतर शारीरिक श्रम के कारण इनकी शारीरिक संरचना मजबूत तथा सुदृढ़ होती है। इसके अतिरिक्त, इनमें जंगलों में तेज़ी से चलने-फिरने तथा कठिन परिस्थितियों का सामना करने की पर्याप्त शारीरिक क्षमता और सहनशक्ति पाई जाती सपरंपरागत रूप से पुरुष केवल कौपीन अथवा साधारण छोटा धोतीनुमा वस्त्र पहनते थे। महिलाएँ एक ही कपड़े को शरीर पर लपेटकर धारण करती थीं। इसके अतिरिक्त, वे चाँदी और काँसे से बने आभूषण भी पहनती थीं। आधुनिकीकरण के प्रभाव के कारण वर्तमान समय में उनकी वेशभूषा और पहनावे की शैली में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है।

ये लोग रागी, सरसों, चामा तथा तुअर जैसी अनाज और दलहन फसलों की खेती करते हैं। ये लोग कूंथाली (हाथ की कुल्हाड़ी), दरांती तथा कुल्हाड़े जैसे औजारों का उपयोग करते हैं। जंगल के एक विशेष भाग को काटकर साफ किया जाता है, फिर उसे सुखाकर जलाया जाता है। इसके बाद भूमि तैयार होने पर खेती की जाती है। ये लोग रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग नहीं करते हैं। जब मिट्टी की उर्वरता कम हो जाती है, तब वे उस स्थान को छोड़कर किसी अन्य क्षेत्र में खेती करने

लगते हैं। इस प्रकार की खेती को 'पोडु खेती' (स्थानांतरित खेती / Shifting Cultivation) कहा जाता है।भोजन के लिए ये लोग जंगलों से जड़ें, फल तथा कंद-मूल एकत्र करते हैं। शहद संग्रह, मछली पकड़ना, शिकार करना तथा टोकरी बुनना कुरुम्बा जनजाति के प्रमुख आजीविका के साधन हैं। बाँस का उपयोग करके विभिन्न आकारों और प्रकारों की टोकरी बनाने में भी ये लोग अत्यंत कुशल हैं।

अधिकांशतः ये लोग एकल (नाभिकीय) परिवारों में रहते हैं। विवाह के बाद पुत्र अलग निवास करने लगते हैं। उनकी विवाह-प्रथा उनकी विशिष्ट जनजातीय परंपराओं और सरल रीति-रिवाजों पर आधारित है। विवाह के लिए लड़के और लड़की दोनों की पारस्परिक सहमति अनिवार्य होती है।यदि लड़का और लड़की एक-दूसरे को पसंद करते हैं, तो माता-पिता तथा गाँव (ऊर) के बुजुर्ग मिलकर विवाह संपन्न कराते हैं। विवाह तय करते समय वर पक्ष द्वारा वधू के पिता को 'परिसप्पणम्' (कन्या मूल्य/वधू मूल्य) देने की परंपरा है। इन रीति-रिवाजों और विवाह समारोहों का संचालन ऊर के मुखिया (ऊर मूप्पन) द्वारा किया जाता है। वर्तमान समय में अधिकांश कुरुम्बा समुदाय के लोग कानूनी रूप से पंजीकृत विवाहों को अपनाने लगे हैं।

कुरुम्बा समुदाय के लोगों के अपने अलग मंदिर नहीं हैं। वे शिव, गणपति, पलनियप्पन तथा मारियम्मा जैसे देवताओं की पूजा करते हैं। शिवरात्रि का उत्सव उनके लिए अत्यंत महत्वपूर्ण पर्व है। शिवरात्रि के दिन ऊर (गाँव) के सभी कुरुम्बा पुरुष कमर में लाल रेशमी वस्त्र बाँधकर 'कोम्बु' (सुषिर वाद्य) और 'थम्बेर' (चर्म वाद्य) की संगत में अट्टापडी स्थित मल्लीश्वरन (शिव) मंदिर पहुँचते हैं और परंपरागत रूप से नारियल अर्पित करते हैं। जन्म, मृत्यु तथा ऋतुमती होने की आयु से संबंधित संस्कार और अन्य सामाजिक अनुष्ठान आज भी पारंपरिक रीति-रिवाजों के अनुसार संपन्न किए जाते हैं।

कुरुम्बा जनजाति का प्रमुख नृत्य रूप 'कुरुम्बा नृत्य' (वट्टक्कली) है। इसमें पुरुष और महिलाएँ एक साथ वृत्ताकार खड़े होकर लयबद्ध कदमों के साथ नृत्य करते हैं। इस नृत्य में सरल किंतु ऊर्जावान नृत्य-चालों का प्रयोग किया जाता है। 'थम्बेर' और 'कोम्बु' जैसे वाद्ययंत्र इस नृत्य के साथ उपयोग किए जाते हैं। विवाह, उत्सव तथा फसल कटाई के अवसरों पर यह लोकनृत्य प्रस्तुत किया जाता है।

आज वन संरक्षण संबंधी कानूनों के कठोर होने के कारण जंगलों को काटकर खेती करना संभव नहीं रह गया है। वर्तमान में अधिकांश लोग मजदूरी करके अपनी आजीविका चलाते हैं। भाषाई कठिनाइयों के कारण आज भी अनेक विद्यार्थी अपनी पढ़ाई बीच में छोड़ देते हैं। फिर भी कुरुम्बा जनजाति के कुछ लोग सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने में सफल हुए हैं। सामाजिक दृष्टि से उल्लेखनीय प्रगति करने के बावजूद कुरुम्बा समुदाय आज भी अपनी जनजातीय संस्कृति तथा प्रकृति के साथ अपने गहरे संबंध को संरक्षित और बनाए रखे हुए है।

सहायक ग्रंथ

1. केरल की जनजातीय विरासत (केरलत्तिन्टे गोत्रवर्ग पैतृकम्)—डॉ. आर. गोपीनाथन
2. केरल की जनजातीय जातियाँ (केरलत्तिले गोत्रवर्ग विभागंगल्)—एस. रामनुण्णि
3. केरल के आदिवासी : कला और संस्कृति (केरलत्तिले आदिवासिकल् कलयुम् संस्क्कारवुम्)—मनोज मातिरप्पल्ली।

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

दलित माँ की पीड़ा और मुक्ति कामना 'हाथ तो उग ही आते हैं' कहानी के संदर्भ में

किम्मी. एन. एस
शोधार्थी, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी
kimmynsneethuns@gmail.com
8075921083

भारतीय समाज में पुरुष सत्ता और ब्राह्मणवादी सत्ता की गहरी जड़े रही हैं। पुरुष वर्ग जिस प्रकार अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए स्त्रियों को समान अधिकार देने के प्रति हमेशा उत्साहित नहीं रहा है, उसी प्रकार जाति व्यवस्था में समानता और बराबरी का अधिकार देने के लिए समाजल के उच्च वर्ग के लेग भी अक्सर सहज नहीं रहे हैं। आज भारतीय समाज आगे बढ़ चुका है। संविधान की प्रस्तावना स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है कि लिंग, जाति, रंग, वर्ण आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा और सभी को समान माना जाएगा। इसके बावजूद लोगों के मन में जाति व्यवस्था की सोच अभी भी बनी हुई है। दलितों और वंचित वर्गों के प्रति घृणा का भाव आज भी कई क्षेत्रों में भेदभाव और विस्थापन के रूप में दिखाई देता है। उमाशंकर चौधरी की मान्यता यह है कि—"दलित समाज का दुर्भाग्य यह है कि कानून बनाने के बावजूद समाज, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य और मीडिया में अस्पृश्यता अतीत की वस्तु नहीं बनी है। स्थिति में इज़ाफा यह है कि सुधारे हुए परिवर्तन रूप में अस्पृश्यता पहले शरीर से होती थी अब विचारों, हितों और हकों से होती है जो शरीर से काम, मन मस्तिष्क पर अधिक आघात पहुँचाती है।"[1] दलितों को कई राज्यों में विभिन्न नामों से बुलाया जाता है। इन लोगों ने अपने जीवन-यापन के लिए कई प्रकार के कार्य किए हैं, जैसे दर्जी का काम, झाड़ू-पोछा करना, चमड़े का काम, घरेलू काम आदि। वे लगातार कठिन परिश्रम करते आए हैं और अपने बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष करते रहे हैं।

दलित और गरीब वर्ग के कई लोग आज भी अपने लिए घर, पीने के लिए शुद्ध पानी, शौचालय और शिक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओं से वंचित हैं। दलितों को कई राज्यों में विभिन्न नामों से बुलाया जाता है। इन लोगों ने अपने जीवन-यापन के लिए कई प्रकार के कार्य किए हैं, जैसे दर्जी का काम, झाड़ू-पोछा करना, चमड़े का काम, घरेलू काम आदि। वे लगातार कठिन परिश्रम करते आए हैं और अपने बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष करते रहे हैं। दलित और गरीब वर्ग के कई लोग आज भी अपने लिए घर, पीने के लिए शुद्ध पानी, शौचालय और शिक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओं से वंचित हैं। दलित जातियों की स्त्रियाँ लंबे समय से कई प्रकार के शोषण का शिकार रही हैं। दलित स्त्रियों की स्थिति यह है कि उन्हें जातिगत भेदभाव और पुरुष सत्ता, दोनों का सामना करना पड़ता है। दलित स्त्रियों के शोषण का एक कारण जातिगत भेदभाव और पितृसत्तात्मक सोच है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित समाज और दलित स्त्रियों के लिए संघर्ष का आह्वान किया है। समाज में व्याप्त असमानताएँ दलित स्त्रियों की स्थिति को और अधिक कठिन बनाती हैं। शिक्षा की कमी और आर्थिक शोषण के कारण कई बार वे अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठा पातीं। अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए भी उन्हें सामाजिक दबाव और भेदभाव का सामना करना पड़ता है, जिसके कारण वे अपने हक के लिए आवाज़ उठाने से डरती हैं।

परिवार का बोझ उठाते-उठाते अपने लिए जीना वे लोग भूल जाते हैं।घर के पुरुष वर्ग अपनी ज़िम्मेदारियाँ नहीं लेते। सारी जिम्मेदारियाँ स्त्रीयों की कंधों में आते है। शिक्षा के अभाव के कारण आर्थिक क्षेत्र में भी दलित स्त्रियों का शोषण व्यापक रूप से दिखाई देता है।

इन लोगों के प्रति हिंसा एक गंभीर सामाजिक समस्या है। जातिगत भेदभाव के कारण दलित स्त्रियों के साथ अन्याय और अत्याचार होते रहे हैं। कुछ लोग साहस करके अपने प्रति हो रही इस व्यवस्था के विरुद्ध आगे बढ़ते हैं, तो कई बार उनकी आवाज़ को दबा दिया जाता है।स्त्री और दलित स्त्री दोनों अपने घर-परिवार के लिए कठिन मेहनत करती हैं। जब वे कामकाजी क्षेत्रों में जाती हैं, तो वहाँ भी कई बार दलित स्त्रियाँ शोषण और अत्याचार का शिकार बनती हैं। पुलिस थानों में भी कई बार उन्हें न्याय पाने के लिए कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसा महसूस होता है कि सामाजिक भेदभाव की वजह से उनके साथ समान व्यवहार नहीं हो पाता।राष्ट्रीय नेताओं और समाज ने भी लंबे समय तक इन लोगों को उनके अधिकारों से वंचित रखा है। अशिक्षा के कारण कई लोग अपने अधिकारों के बारे में सवाल पूछने और आवाज़ उठाने का साहस नहीं कर पाते। जो कुछ उन्हें मिलता है, वे उसी को स्वीकार करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। दलित स्त्री अपने काम के लिए दूसरे लोगों के घरों में जाती है। वहाँ भी उसे एक कामवाली के रूप में सम्मान नहीं मिलता, क्योंकि वह दलित स्त्री है। इन लोगों को अक्सर आदर और सम्मान से वंचित रखा जाता है।दलित स्त्रियों को हमेशा समाज से दूर रखा गया है, फिर भी वे इन सभी कठिनाइयों को सहकर काम करती हैं, क्योंकि उन्हें अपने बच्चों का पालन-पोषण करना होता है। आज का समय बदल गया है, लेकिन लोगों की सोच में अभी भी कई बदलावों की आवश्यकता है।समाज में मौजूद छुआछूत और भेदभाव की सोच को दूर करने तथा अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए दलितों को आगे बढ़ने का सहारा साहित्य ने दिया है।

दलित और दलित स्त्रियों पर हो रहे शोषण को साहित्य समाज के सामने प्रस्तुत करता है। इनमें प्रमुख कहानीकार है श्यौराज सिंह बेचैन उन्हों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दलित जीवन, स्त्रियों की स्थिति और सामाजिक शोषण को उजागर किया है। उनकी रचनाओं में दलित स्त्रियों के संघर्ष, पीड़ा और सामाजिक भेदभाव को मार्मिक रूप से प्रस्तुत किया गया है। अनकी एक प्रमुख कहानी है 'हाथ तो उग ही आते हैं' इस में दलित स्त्री की हर अवस्था को दर्शाया है।

इस कहानी में श्यौराज सिंह बेचैन जी ने दलित स्त्री की पीडा, जीनन-संघर्ष, जीने की उम्मीद,निराशा तथा माँ की ममता आदी भावों को बहुत ही संवेदनात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। कहानी की प्रधान पात्र सुख्तो एक दलित विधवा स्त्री और माँ भी है। सूख्तो महानगरों में रहनेवाले सूतो चौधरीन के घर में काम करने वाली नौकरानी है। दलित स्त्रियों को अपनी आजीविका के लिए नौकरानी का काम करना पड़ता है। इन लोगों के जीवन में कई बार ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जहाँ उन्हें अपने आक्रोश को दबाकर और संघर्ष करते हुए जीवन बिताना पड़ता है। सूख्तो अपनी जाति को छुपाकर चौधरी के घर में काम करती है। शहर में रहने वाले लोगों के मन में दलितों के प्रति जो घृणा और भेदभाव की भावना है, उसे कहानी में चित्रित किया गया है। सूख्तो से चौधरीन ने अपने बारे पूछा। उसके गाँव में उसके पति की मृत्यु हो गई थी। उसके बाद में काम के लिए शहर में पहुँचा। यहां आकर अपने बेटे को बुजुर्ग अलीजान चाचा को पास छोड़कर काम के लिए निकलती है। यह सुनकर चौधरी ने सुगती से पूछा कि "तो क्या तू हिन्दू नहीं है?"[2] सूख्तो की जाति के प्रति चौधरी के मन में एक कड़वाहट और पूर्वाग्रह बना रहता है। बड़े शहरों के बड़े घरों में रहने वाले संपन्न लोगों के यहाँ दलित स्त्रियाँ प्रायः घरेलू कामगार के रूप में कार्य करती हैं। इस प्रकार वे अनेक सामाजिक और आर्थिक चुनौतियों का सामना करती हैं। सूख्तो ने जवाब के रूप कहा है कि "जी मैडम ना, मैं तो सब हुँ– हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, सिख वगैरह जो समझो।"[3] सूख्तो की नज़र में सभी लोग इंसान हैं। वह इंसान को इंसान की तरह देखती है, जाति से उसका कोई संबंध नहीं है।

कहानीकार श्यौराज सिंह बेचैन जी ने दलित जीवन की ममता, आक्रोश, त्याग और उम्मीद जैसे भावों को सुगती के माध्यम से बहुत संवेदनशील रूप से प्रस्तुत किया है। कहानी में लेखक ने अपने बच्चों के प्रति माँ के प्रेम और चिंता को दिखाया है। साथ ही अमीर और गरीब बच्चों के जीवन के अंतर को भी प्रस्तुत किया है। मालिक सूतो चौधरी अपने बच्चों

के जीवन की बात करते हुए अपनी ऊँची जाति का दिखावा करता है। वह दलित और ब्राह्मणवादी बच्चों के बीच तुलना करने लगता है। लेखक ने बच्चों की स्थिति, उनकी शिक्षा और उनके शोषण जैसी समस्याओं को व्यक्त किया है। यह सब सुनकर सूख्तो इसे नजरअंदाज करती है, लेकिन बाद में वह भी शोषण का शिकार बन जाती है। एक समय उसकी मित्र बोलारानी शर्मा, जो एक प्रइवेट कॉलेज में शिक्षिका थी, दलितों को सरकार द्वारा मिलने वाली सुविधाओं के बारे में बात करती है। "नीची जातियों को सरकार ने ढेरों सुविधाएं दे रखी हैं। तो हम तो नाहक ही ऊँची जात ने बैठे हैं, मज़े तो नीचे वालों के हैं।"[4] इससे सुगती के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है। बोलारानी समाज को सही रास्ता दिखाने वाली एक शिक्षिका है। ऐसे लोग दलितों और दलित स्त्रियों को आगे बढ़ने का हौसला देते हैं। लेकिन यहाँ बोलारानी एक पढ़ी-लिखी अध्यापिका होकर भी सूख्तो का मज़ाक उड़ाकर उसे दबाने और नीचा दिखाने की कोशिश करती है।शहर में जो हम देखते हैं, वह हमेशा पूरी सच्चाई नहीं होती। बहुत कुछ बदल चुका है, लेकिन कुछ लोगों के मन में दलितों के प्रति जो घृणा और भेदभाव की भावना है, वह अभी भी बनी हुई है। उनकी सोच में बदलाव नहीं आया है और वह वहीं की वहीं अटकी हुई है।

सूख्तो के बेटे ने अपनी मोटरसाइकिल के पहिए से सूख्तो के बच्चे के कोमल हाथ को कुचल दिया। बच्चा रोने लगा, लेकिन यह सब देखकर भी सूतो चौधरी ने अपने बेटे को कुछ नहीं कहा। चोट कामवाली के बच्चे को लगी है, इसलिए उसे कोई फर्क नहीं पड़ा।

दर्द और पीड़ा जैसे केवल दलित लोगों के हिस्से में ही आती है, ऊँचे वर्ग के लोग उससे अछूते रहते हैं। सूख्तो अपने बच्चे को लेकर दिल्ली के अस्पताल जाती है। वह अपने बच्चे की पीड़ा को सहन नहीं कर पाती। बच्चे समाज का भविष्य होते हैं। उन्हें आगे बढ़ने का रास्ता दिखाने और उनकी रक्षा करने की आवश्यकता होती है। अपने अधिकारों के लिए समाज से संघर्ष करना पड़ता है, लेकिन कुछ लोग अपनी अमीरी और ऊँची स्थिति का दिखावा करने के लिए दलितों के प्रति घृणा और अत्याचार करते रहते हैं। समय बदला है, लोगों की सोच और समाज में कई परिवर्तन आए हैं, लेकिन दलितों के प्रति भेदभाव आज भी कई जगहों पर दिखाई देता है। सुगती इसी भेदभाव और शोषण की शिकार एक दलित स्त्री है, जो अपने काम और मेहनत के बल पर आगे बढ़ने का प्रयास करने वाली एक सशक्त दलित स्त्री है। अस्पताल पहुँचने के बाद भी बच्चे का इलाज सही समय पर नहीं हो पाया। वहाँ सुगती अनपढ़ होने के कारण कुछ समझ नहीं पा रही थी। लेखक ने इस कहानी में दलितों की शिक्षा की कमी को भी दर्शाया है। अशिक्षा, बेरोजगारी और आर्थिक कमजोरी के कारण कई लोग अपने लिए कुछ बेहतर करने में असमर्थ हो जाते हैं।

यहाँ श्यौराज सिंह जी ने सूख्तो के माध्यम से बताया है कि दलित स्त्रियों के लिए शिक्षा बहुत आवश्यक है। अपने अधिकारों और आवश्यकताओं के लिए लड़ने का एक महत्वपूर्ण माध्यम शिक्षा है। अंत में वह बच्चों के हाथ कटवाने का मशवरा करता है। नर्स ने सूख्तो को झूठी दिलासा देने लगी कि "हमरे अस्पताल में काटने वाले हाथ फिर से उग आते हैं। जैसे गणेश जी के सिर पर हथिनी के बच्चे का सिर जुडा था युद्ध या दंगे में कटे किसी के हाथ की जगह दूसरे के जोड़ दिये जाते हैं। नहीं तो थोडे ही दिनों में हाथ खुद-ब-खुद उग आते हैं।"[5] यह कहकर सूख्तो को समझाने की कोशिश की जाती है। वह अपनी पूरी जिंदगी समाज से लड़ते हुए और बहुत कुछ सहते हुए अपने बच्चे के लिए जीती रही। दलित होने के कारण वह अपने बच्चे का इलाज सही समय पर नहीं करवा पाई। हमारे समाज के दलितों की जिंदगी में ऐसी परिस्थितियाँ कई वर्षों से चली आ रही हैं। सुगती अपने दुख भरी आँखों से अपने बच्चे को देखती है और कहती है कि "बेटा सुना, हाथ तो उग आते हैं! सुना बेटा, हाथ तो उग ही आते हैं।....."[6] सूख्तो अपनी दुख,आक्रोश,निराशा दलित होने का दर्द यह सब छुप कर अपने बेटे को उम्मीद की एक झलक दिखाते है।

श्यौराज सिंह बेचैन जी की कहानी 'हाथ तो उग ही आते हैं' दलित जीवन, विशेषकर दलित स्त्री के संघरेष, पीड़ा, सामाजिक असमनताओं को केन्द्र में रखकर लिखी गई कहानी है। इस कहानी में लोकमन देखने को मिलती है। 'हाथ ते उग ही आते हैं' शीर्षक प्रतीकात्मक है। यह दलितों की संघर्ष करने की क्षमता, जीवन के प्रति उसके हिम्मत को दर्शाते है। दलित स्त्रीयों को जाती, गरीबी पितृसत्तात्मक सोच तीनों स्तरों पर लड़ाई करना पड़ा।

ग्रंथ सूची

1. उमाशंकर चौधरी, हिस्सेदारी के प्रश्न प्रतिप्रश्न से उद्धत, पृ-320
2. रजत रानी मीनु, दलित स्त्री कहानियाँ, पृ. 80
3. रजत रानी मीनु, दलित स्त्री कहानियाँ, पृ. 80
4. रजत रानी मीनु, दलित स्त्री कहानियाँ, पृ. 77
5. रजत रानी मीनु, दलित स्त्री कहानियाँ, पृ. 85
6. रजत रानी मीनु, दलित स्त्री कहानियाँ, पृ. 85

संदर्भ ग्रथ सूची

1. डॉ. मंजू सुमन, दलित नारी एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली-2014
2. रजत रानी मीनु, दलित स्त्री कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2023
3. उमाशंकर चौधरी, हिस्सेदारी के प्रश्न प्रतिप्रश्न से उद्धत, आनंद साहित्य सदन, अलीगढ, 2001
4. चंद्रावती लखनपाल, स्त्रियों की स्थिति, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली 2025

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

किसान जीवन की मार्मिक पहलू: अकाल में उत्सव' उपन्यास में

डॉ. लता डी
शोध निर्देशिका :
Vinaika Vijayan
Research scholar, Govt college for women, Thiruvananthapuram
Ph:9847407757
Email:vinaikavijayan379@gmail.com

शोध सार : पंकज सुबीर समकालीन हिन्दी कथा साहित्य के एक प्रतिभाशाली लेखक है। पंकज सुबीर की भाषा बहुत चमकीली और पारदर्शी है। उन्होंने उत्तर भारत के आम आदमी की जिजीविषा से अपनी रचनाओं को जोड़ा। उनकी रचनाओं में अधिकांश हाशिए पर खड़े वर्ग की आवाज़ है।

इस शोध पत्र का उद्देश्य पंकज सुबीर की उपन्यास 'अकाल में उत्सव' में चित्रित किसान जीवन की समस्याओं को उजागर करना है। समाज में व्याप्त भ्रस्टाचार किसान लोगों की जिन्दगी को कैसे फँसाते हैं, इसके दस्तावेज़ उपन्यास में प्राप्त होते हैं।

बीज शब्द : खेती, आस्था, मानवीयता, भ्रस्टाचार, आत्मसंघर्ष, दबाव, सरकार की आडंबर।

मूल आलेख

हिन्दी उपन्यास में किसान जीवन की व्यथा स्वतंत्रता के भी पहले से लेकर आज तक हैं। भारतीय किसान जीवन की समस्या प्रेमचन्द के उपन्यासों में अधिक प्रभावित रही। पंकज सुबीर हाल ही में किसान लोगों की विवशता को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। हमारे शासन व्यवस्था का भी उन्होंने खुले चित्रण किया है।

इक्कीसवीं दशक के आरम्भ में भी किसान लोगों की नियति बहुत खराब है। भारत देश में किसानों की स्थिति ऐसे ही रहे हैं कि वे अब भी वंचित और शोषित है। उनके जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे तड़प रहे हैं। जिसके पास पूँजी है या धन है वे निरन्तर विकास के रास्ते पर चल रहे हैं किंतु खेती करनेवालों की तकलीफ़ प्रतिदिन बढ़ रही है।

तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों का निरन्तर प्रभाव इस उपन्यास में दृष्टिगत होता है। पंकज सुबीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव 'किसान आत्महत्या का सच्चा उदाहरण होता है। "सूखा पानी" में रहनेवाले किसान रामप्रसाद की हिस्सा है। सूखा पानीएक छोटा सा गाँव है। नाम से पता चलेगा कि जमीन बहुत उपजाऊ नहीं है, सिंचाई का भी कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है। सरकारी रिकॉर्ड में यह आदिवासी गाँव है। रामप्रसाद दो एकड़ या पाँच बीघा जमीन वाला किसान है। उसके पिता बैंक सोसाइटी और खुदभेरों से लिया हुआ कर्ज तथा बेटे ई-बहनों के प्रति निभाने का दायित्व बड़े बेटे रामप्रसाद के सिर पर छोड़कर मर गया। हमारी विरासत ऐसे है बड़े बेटों के लिए कर्तव्य छोड़ना। रामप्रसाद की तीन बहनें

अपने ससुराल में और छोटा भाई भगीरथ पढ़ लिखकर शहर जा बसा है। फसलों के समय आकर अपना हिस्सा ले जाता है, लेकिन बड़े भाई और बहनों के प्रति अपना कोई फ़र्स नहीं निभाता। रामप्रसाद अपनी पत्नी कमला और तीन बच्चों के साथ रहता है। उपन्यास में अनेक पात्र है, लेकिन दो पात्र मुख्य है। एक पात्र है 'सुखा पानी' गाँव का किसान रामप्रसाद और दूसरा पात्र है उसी जिले का कलेक्टर श्रीराम परिहार। इन पात्रों से कहानी के मोड होते हैं। जैसे जनता और राज्य सत्ता, गाँव और शहर, ऋणा और शोषण, सीदा सादा किसान जीवन और मिथ्या प्रदर्शन के द्वारा सरकारी तंत्र आदि। यहाँ की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था एक मिथ्या की जादू है। पंकज सुबीर ने उपन्यास के दृश्य विभाजन ऐसा किया है- एक दृश्य गाँव का, दूसरा दृश्य शहर का फिर एक दृश्य के केन्द्र में किसान रामप्रसाद दूसरे दृश्य के केंद्र में कलेक्टर श्रीराम परिहार, या एक दृश्य में अकाल और दूसरे दृश्य में उत्सव। एक दृश्य में अभावग्रस्त दुखमय जनजीवन, दूसरे दृश्य में शासन और प्रशासन तंत्र द्वारा जनता के पैसे की लूट और बर्बादवाले निरर्थक प्रदर्शन। रामप्रसाद के पारिवारिक जीवन में उसके पत्नी, बच्चे, भाई, बहनें, बहनोई इत्यादि है। लेखक ने लोक जीवन की झाँकी को बिल्कुल जीवंत अंदाज़ में प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए जब रामप्रकाश के बहनोई की माँ की मृत्यु हो जाती हो तो मातम का दृश्य लेखक ने बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। सूखा पानी और आसपास के ग्रामीण अंचलों में महिलाओं द्वारा मातम अवसर पर रोने का अभी भी दिलचस्प तरीका है। यहाँ पर महिलाएं रोती कम है, गाती ज्यादा है। खर्ज और आर. आर. सी की धनराशि किसान की मनोदशा फिर और बदलती हैं। छोटी जोत के किसान की पत्नी के शरीर पर ज़ेवर क्रमशः घटने के लिए होते हैं।

शहर और गाँव के बीच चलनेवाली इस कहानी में एक अजब संयोग है कि इस उपन्यास के शहरी नायक का नाम भी राम है और किसान का नाम भी राम। एक ओर उत्सव और भ्रष्ट सत्ताओं दूसरी ओर रामप्रसाद और उनकी पत्नी कमला की। रामप्रसाद को आनेवाली फसल से उम्मीद है। फसल से चौगुनी उम्मीद रखना और ज़िन्दगी भर की कमियों की पूती करने की सपना उसमें है। रामप्रसाद का अशिक्षित बचपन और उसके बच्चे के भविष्य की अनिश्चित दशा आदि किसान रामप्रसाद को बहुत बिगाड़ा। समस्याएँ यहीं नहीं ठहरती है। रामप्रसाद किसान क्रेडिट कार्ड के इसमें जाल में फँस जाता है। इसमें हज़ारों रुपये किसानों के नाम पर चढ़ाकर उकार लिए गए और कोई सुनवाई नहीं। वह बैंक जाकर अधिकारियों से मिलता है। इस जगह अश्वासन के अतिरिक्त समय कुछ नहीं मिली। इस समय कलेक्टर श्रीराम परिहार के उत्तरदायित्व में नगर उत्सव मनाया गया। यहाँ व्यवस्था उत्सव में व्यस्त है, उसे फ़िक्र नहीं परवाह नहीं। कलेक्टर भी आश्वासन देकर उसे विदा करते हैं। अंत में फसल नष्ट हो गई। अंत में रामप्रसाद आत्महत्या करते हैं। भारतीय राजनीति और व्यवस्था ने सामान्य नागरिकों की आत्महत्याओं को मनोरंजन के साधन में बदल डाला है। आत्महत्या के बाद खबर आता है समाचारों में क्रेडिट कार्ड की खर्ज चुकाने की वजह से पागल होकर किसान ने आत्महत्या की। एक नहीं अनेक रामप्रसाद मरे हैं देश में।

"अकाल में उत्सव" कृषकों द्वारा जा रही आत्महत्याओं पर केंद्रित एक विचारोत्तेजित कृति है। इसीलिए किसान से अधिक उत्तरदायी है समाज और शासन व्यवस्था। देश के विभिन्न हिस्सों में किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्याओं को अखबारों में छपती रहती है। छोट्टा किसान ऋण लेकर बीज, खाद, कीटनाशक आदि खरीदता है। इस उम्मीद में कि फसल आने पर कर्ज उदार देगा। उपन्यास में व्यवस्था पर करारा व्यंग्य करते हुए पंकज सुबीर लिखते हैं–

"सरकारी व्यवस्था शेर के शिकार करने समान होती है जब शेर अपने शिकार को पेट पर खा लेता है, तो बाकी का शिकार अपने से छोटे जानवरों मतलब गीदड़ों आदि के लिए छोड़ देता है। सरकारी व्यवस्था मांसाहारी प्राणियों की व्यवस्था से बहुत मिलती जुलती है।"

उपन्यास के अन्य पात्र हैं रमेश चौरसिया, राकेश पाण्डेय, मोहन राणा, ये तीनों हैं सत्ता के गिर्दे में रहनेवाले हैं। इस उपन्यास में एक ओर पर्दाफाश हुआ है। राहुल वर्मा जैसे पत्रकार सत्ता के साथ मिलकर वास्तविकता के संसार को तोड़ देते हैं। उपन्यास ग्रमीण आंचलिक भाषा का प्रयोग किया गया। स्थानीय बोली का बेहतर इस्तेमाल भी किया गया है। उपन्यास में आद्यंत जीवन की समस्याएँ अपने मूर्त रूप में हमारे सामने हैं।

संदर्भ संकेत

1. अकाल में उत्सव-पंकज सुबीर- पृ.सं.-105
2. वही, पृ.सं.-139
3. वही, पृ.सं.-146
4. वही, पृ.सं.-166

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

राजभाषा हिन्दी का कम्प्यूटरीकरण

डॉ. अंजु पांचाल
अकादमिक परामर्शदाता (IGNOU)

भारत की स्वाधीनता प्राप्ति से पहले हिन्दी में 'राजभाषा' शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। सबसे पहले सन् 1949 ई. में भारत के महान नेता श्री राजगोपालाचारी ने भारतीय संविधान सभा में 'नैशनल लैंग्वेज' (National language) के समानान्तर 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) शब्द का प्रयोग इस उद्देश्य से किया कि 'राष्ट्रभाषा' (National Language) और राजभाषा (State Language) में अंतर रहे और दोनों के स्वरूप को अलगाने वाली विभेदक रेखा को समझा जा सके। संविधान सभा की कार्यवाही के हिन्दी-प्रारूप में 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) का हिन्दी-अनुवाद 'राजभाषा' किया गया और इस प्रकार पहली बार यह शब्द प्रयोग में आया। बाद में, संविधान का प्रारूप तैयार करते समय 'स्टेट लैंग्वेज' (State Language) के स्थान पर 'ऑफिशियल लैंग्वेज' (Official Language) शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा गया और 'ऑफिशियल लैंग्वेज' का हिन्दी-अनुवाद 'राजभाषा' ही किया गया ('सरकारी' या 'कार्यालयी' भाषा नहीं)। इस परिप्रेक्ष्य में 'राजभाषा' शब्द का तात्पर्य है—राजा (शासक) अथवा राज्य (सरकार) द्वारा प्राधिकृत भाषा। भारतीय लोकतंत्र में शासन या सरकार का गठन संविधान की प्रक्रिया के अंतर्गत होता है, अतः दूसरे शब्दों में 'राजभाषा' का तात्पर्य है—संविधान द्वारा सरकारी कामकाज, प्रशासन, संसद और विधान-मंडलों तथा न्यायिक कार्यकलापों के लिए स्वीकृत भाषा।

राजभाषा के क्षेत्र में नवीन अनुसंधान और विकास का तात्पर्य इस क्षेत्र में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास से है दूसरे शब्दों में, राजभाषा हिन्दी के आधुनिकीकरण से है। 'भाषा' के आधुनिकीकरण के दो संदर्भ हैं—पहला यह कि भाषा आधुनिक प्रयोजनों के अनुकूल विकसित हो तथा दूसरा यह कि भाषा से संबंधित यांत्रिक साधनों का विकास हो। आम तौर पर यांत्रिक साधनों के विकास को तकनीकी तथा भाषिक क्षमताओं के विकास को वैज्ञानिक विकास भी कहा जाता है।

भाषा आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त हो सके, इसकी कुछ शर्तें हैं। पहली शर्त है कि भाषा आधुनिक जीवन के सारे प्रसंगों को समाविष्ट करती हो। इसका अर्थ यह हुआ कि इन्टरनेट से लेकर मार्केट इकॉनॉमी तक जितनी स्थितियाँ हमारे सामने हैं, उन सबके लिए हमारी भाषा में सरल तथा सहज शब्द हों। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक प्रशासन तंत्र में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक होता है, उनका विकास हो। तीसरी बात यह है कि भाषा अपने सभी स्तरों पर मानकीकृत हो। इन स्तरों में ध्वनि, वर्ण, शब्द, वाक्य रचना, लिपि, वर्तनी तथा प्रोक्ति सम्मिलित हैं। इस विकास के स्तर को छूने वाली भाषा को वैज्ञानिक भाषा कहा जा सकता है।

राजभाषा हिन्दी के वैज्ञानिक विकास का दूसरा प्रमुख कार्य है—पारिभाषिक शब्दों का विकास। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भाषा के आधुनिकीकरण में एक मुख्य समस्या पारिभाषिक शब्दावली के विकास की है क्योंकि उसके बिना कोई भी भाषा विश्व के विकास स्तर के बराबर नहीं चल सकती। हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के लिए पर्याप्त प्रयास हुए हैं। सबसे पहले इतिहास में एक प्रसंग मिलता है कि मध्यकाल में शिवाजी के कहने पर रघुनाथ पंत ने राजकीय शब्दावली के निर्माण का प्रयास किया था। वर्ष 1871 में तत्कालीन बंगाल सरकार ने एक समिति बनाई थी जिसे यह निश्चित करना

था कि विज्ञान एवं विधि आदि क्षेत्रों के यूरोपीय भाषाओं के शब्द भारतीय भाषाओं में किस प्रकार रूपांतरित किए जायें। 1877 ई. में इस समिति के निर्णय को प्रकाशित किया गया। इसके बाद 1898 ई. में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने इसी उद्देश्य से एक समिति नियुक्त की जिसकी बनाई हुई 'हिन्दी साइंटिफिक ग्लॉसरी' 1901 में प्रकाशित हुई। 20वीं शताब्दी में 'नागरी प्रचारिणी सभा' एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाओं ने इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त प्रयास किये। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद 1950 में शिक्षा मंत्रालय ने 'Board of Scientific Terminology' का गठन किया। 1955 में राजभाषा आयोग की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने दो आयोगों का गठन किया-वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग तथा विधायी (शब्दावली) आयोग। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग को विधि क्षेत्र को छोड़कर अन्य सभी विषयों के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का दायित्व सौंपा गया।

विधायी (शब्दावली) आयोग का काम था कि विधि क्षेत्र में काम आने वाली सभी प्रयुक्तियों को वह हिन्दी में समतुल्य रूप में प्रस्तुत करे। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग वर्तमान समय में शिक्षा मंत्रालय के अधीन कार्य कर रहा है तथा इसने विज्ञान, वाणिज्य तथा मानविकी क्षेत्रों से संबंधित कई विषयों की मानक शब्दावली तैयार की है। विधायी (शब्दावली) आयोग, जो कि अब विधि मंत्रालय के एक विभाग के रूप में काम कर रहा है, ने भी विधि क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दावली का तीव्र विकास किया है। इस संबंध में एक समस्या यह आती है कि केन्द्र सरकार तथा राज्यों की सरकारें कुछ पारिभाषिक शब्दों को लेकर एकमत नहीं हैं। इस वजह से एक ही मूल शब्द के कई हिन्दी पारिभाषिक शब्द बन जाते हैं। जैसे 'डायरेक्टर' शब्द के लिये निर्देशक, निदेशक तथा संचालक, इसी प्रकार 'लेक्चरर' शब्द के लिये व्याख्याता, प्राध्यापक आदि। इन दोनों आयोगों के प्रयासों से शब्दकोश के स्तर पर सिद्धांततः हिन्दी एक वैज्ञानिक भाषा बन गयी है, किन्तु इन शब्दों के प्रचलित न होने के कारण व्यावहारिक स्तर पर अभी भी स्थिति बहुत उत्साहजनक नहीं है।

भाषा की वैज्ञानिकता का तीसरा आधार है अनुवाद कार्य की प्रगति अनुवाद की प्रगति इसलिए आवश्यक है कि संभावनाशील होने के बावजूद ऐतिहासिक कारणों से हिन्दी विश्व स्तर के संदर्भों को अपने आवरण में नहीं समेट सकी है। आज की दुनिया राष्ट्रीय स्तर पर परस्पर संबद्ध है। ऐसे समय में बाहर की दुनिया की जानकारी तथा उन संदर्भों की अपनी भाषा में अभिव्यक्ति आवश्यक है तथा इस कार्य के लिए अनुवाद की सहायता लेना जरूरी है। अनुवाद की जरूरत प्रशासन में इसलिए भी है कि भारत सरकार अभी द्विभाषिक नीति पर चल रही है। भारत सरकार ने इस संबंध में 'केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो' का गठन किया है जो राजभाषा विभाग (गृह मंत्रालय) के अधीन कार्य करता है। केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो लाखों शब्दों का अनुवाद कर चुका है तथा प्रत्येक वर्ष अपने लक्ष्यों को पूरा कर रहा है।

राजभाषा विषयक नवीन अनुसंधान और विकास के क्षेत्र में यांत्रिक उपकरणों के विकास की बहुत बड़ी भूमिका है इस विकास की प्रक्रिया को दो चरणों में बाँटा जा सकता है।

1. कम्प्यूटर पूर्व यांत्रिकीकरण : इसमें टाइपराइटर, टेलीप्रिंटर व इलेक्ट्रॉनिक टाइपराइटर आते हैं।

2. कम्प्यूटरीकरण : वर्तमान समय में हिन्दी के तकनीकी विकास के कारण कम्प्यूटर का प्रयोग अनिवार्य हो गया है। आज सभी क्षेत्रों में कम्प्यूटर का प्रयोग अनिवार्य हो गया है, इसलिए अब प्रयास किया जा रहा है कि हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं के लिए कम्प्यूटर उसी प्रकार काम करे जैसे रोमन लिपि के लिए कर रहा है।

1977 तक हिन्दी में ऐसा कोई कार्यक्रम उपलब्ध नहीं था। 1977 में हैदराबाद की ई सी आर एल नामक कंपनी ने फोर्ट्रान नामक कम्प्यूटर भाषा में पहली बार हिन्दी को कम्प्यूटर पर उतारा। 1980 के आस-पास दिल्ली की डी सी एम नामक कंपनी ने 'सिद्धार्थ' नामक मशीन पर 'शब्दमाला' कार्यक्रम तैयार किया। यह हिन्दी मशीन द्विभाषी शब्द-रसाधक थी, एक साथ दोनों भाषाओं में सामग्री संसाधन की सुविधा देती थी। इसी समय हैदराबाद की सी एम सी नामक कंपनी ने तीन भाषाओं (अंग्रेजी, हिन्दी और एक भारतीय भाषा) में शब्द संसाधन के लिए 'लिपि' नामक मशीन तैयार की। इसी तरह कई और कंपनियों तथा राजभाषा विभाग ने सॉफ्टवेयर तैयार किए, जिनमें प्रमुख है - शब्दरत्न, अक्षर, सुलेख आदि।

इस संदर्भ में पुणे स्थित भारत सरकार की कंपनी सी डैक (c&dac&center of developmnt of Advanced

computing) का योगदान महत्वपूर्ण है। इस कंपनी ने 1984 के आसपास GIST (Graphic based Indian Standard Terminology) नामक तकनीक का विकास किया। 'जिस्ट' एक कम्प्यूटर कार्ड है, जिसे कम्प्यूटर में लगा देने पर हिन्दी तथा सभी भारतीय भाषाओं में कम्प्यूटर के पर्दे पर अक्षर छापे जा सकते हैं। इसमें सारी भारतीय भाषाओं के लिए एक ही कुंजीपटल है, इसलिए किसी भी भाषा का किसी भी भाषा में लिप्यंतरण किया जा सकता है। यही नहीं इस कार्ड की सहायता से आँकड़ा संसाधन के कार्यक्रम भी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में चल सकते हैं।

हिन्दी के कम्प्यूटरीकरण में कुछ और क्षेत्रों को भी जोड़ा गया है जिसमें 'अनुवाद' तथा 'शिक्षण' प्रमुख है। ऐसे कुछ कार्यक्रम विकसित भी हुए हैं। मोदी जीरोक्स ने ऐसे ही एक कार्यक्रम का प्रयोग करते हुए एक फोटोकॉपी मशीन बनाई है जो अंग्रेजी के पाठ को हिन्दी में फोटोकॉपी करती है। नए लोग हिन्दी को कम्प्यूटर के माध्यम से सीख सकें, इसके लिए 'लीला' नामक एक पैकेज तैयार किया गया है जो उच्चारण, लिपि तथा चित्रों के माध्यम से बच्चों तथा विदेशियों को हिन्दी का ज्ञान कराता है। अन्य प्रयासों में एक महत्वपूर्ण प्रयास 'स्पेलिंग चेकर' (हिज्जे जाँचक) का विकास करना है।

राजभाषा हिन्दी के तकनीकी भाषा के रूप में नए विकास

1. कुछ समय पहले तक हिन्दी में अपना सिस्टम सॉफ्टवेयर (system Software) नहीं था। इस क्षेत्र में (Centre of Development and advanced Computing) C-DAC ने पहल की और 'लीप' (Leap) नामक सॉफ्टवेयर बनाया। इसी प्रकार माइक्रोसॉफ्ट ने भारतीय भाषाओं के लिए देहरादून में अनुसंधान केन्द्र स्थापित किया और 15 अगस्त 2004 को 'हिन्दी विंडोज' नामक सॉफ्टवेयर प्रस्तुत कर दिया।

2. एक आवश्यकता यह थी कि हिन्दी और अंग्रेजी के शब्दकोश कम्प्यूटर पर जुड़ सकें। राजभाषा विभाग के तकनीकी विभाग ने 'शब्दिका' नामक सॉफ्टवेयर बनाया जो अंग्रेजी से हिन्दी तथा हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवाद करता है। इसके अतिरिक्त भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान (IIIT) ने ओपन सोर्सिंग (Open Sourcing) के माध्यम से 'अनुस्मारक' नामक साफ्टवेयर तैयार किया जिसमें हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के परस्पर अन्तरण की सुविधा है।

3. कुछ समय पूर्व एक नई एनकोडिंग प्रणाली विकसित हुई जिसे यूनिकोड (Unicode) कहते हैं। यूनिकोड का अर्थ है सभी संकेतों को एकीकृत करने वाली व्यवस्था। सिस्टम सॉफ्टवेयर के अतिरिक्त बहुत सारे कस्टम या एप्लिकेशन सॉफ्टवेयर यूनिकोड संगत हो चुके हैं, जैसे-माइक्रोसॉफ्ट ऑफिस इत्यादि। अब कम्प्यूटर पर सॉफ्टवेयर के सभी कार्य, वर्तनी जाँच कार्य तथा ई-मेल से संबंधित समस्त कार्य हिन्दी में ही किए जा सकते हैं। नई वेबसाइटें भी यूनिकोड पर आधारित हैं, न कि पुराने फॉन्ट्स पर। गूगल, याहू, एम एस एन और बी बी सी तो भारतीय भाषाओं में भी यूनिकोड पर आधारित अपनी वेबसाइट जारी कर चुके हैं। यूनिकोड के महत्व को देखते हुए प्रसिद्ध कवि अशोक चक्रधर ने ठीक ही कहा है—

''सबको प्यारी अपनी भाषा, कम्प्यूटर से जागी आशा,
माँ हिन्दी की मिली गोद है, यूनिकोड का महागोद है।''

4. आज इंटरनेट की दुनिया में हिन्दी की उपस्थिति बढ़ी है—कुछ ऐसे पोर्टल उपलब्ध हैं जो हिन्दी में वेबसाइटों से पाठक को जोड़ते हैं। इनमें प्रमुख हैं वेबदुनिया.कॉम (Webdunia.com) हिन्दीनेट.कॉम (Hindinest.com) प्रभासाक्षी.कॉम (Prabhasakshi.com) आदि। कुछ साहित्यिक पत्रिकाएँ जैसे हंसमंथली.कॉम (Hansmonthly.com) तद्भव.कॉम भी इन्टरनेट पर उपलब्ध है। इंटरनेट पर अंग्रेजी में बहुत सारे विश्वकोश विद्यमान हैं। एक नया विकास 'विकिपीडिया' अर्थात ऐसा एन्साइक्लोपीडिया है जो ओपन सोर्सिंग (Open Sourcing) पर आधारित है जिसमें कोई भी इन्टरनेट प्रयोक्ता उसमें सूचनाओं को जोड़ सकता है। हाल ही में हिन्दी में यह व्यवस्था शुरू हुई है। एक प्रसिद्ध विश्वकोश है सर्चइंड जो विकीपीडिया पद्धति पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त विकीपीडिया प्रबंधन की ओर से एक औपचारिक विश्वकोश हिन्दी विकीपीडिया भी शुरू कर दिया गया है।

5. ई-कॉमर्स के क्षेत्र में राजभाषा हिन्दी में कुछ सुविधाएँ उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए भारतीय रेलवे से कोई टिकट

खरीदने के लिए उसकी साइट का प्रयोग किया जा सकता है। आई टी सी (ITC) का प्रसिद्ध प्रयास 'चौपाल' भारतीय भाषाओं पर ही आधारित है जो लोकभाषा तथा ई-कॉमर्स के सुंदर समन्वय का उदाहरण है। चलभाष (मोबाइल) तकनीक में भी हिन्दी भाषा का प्रयोग होने लगा है। अब मोबाइल उपकरण बनाने वाली कंपनियाँ ऐसे उपकरण तथा सॉफ्टवेयर बना रही हैं जिनमें न केवल सभी विकल्प हिन्दी में आते हैं बल्कि यूनिकोड संगत होने के कारण 'लघु संदेश सेवा' (SMS) का टंकण भी हिन्दी में किया जा सकता है।

6. पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग की नीति समन्वयकारी है। इस संदर्भ में आदर्श नीति के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार हो सकते हैं :

वे शब्द जिनके लिए उपयुक्त शब्द हमारी भाषा में मौजूद हैं उनका अनुवाद किया जाना चाहिए उदाहरण के लिए Battalion के लिए वाहिनी Calculus के लिए dyu Surgery के लिए शल्य चिकित्सा आदि। यदि अन्य भारतीय भाषाओं से सरल अनुवाद मिल रहा हो तो ग्रहण कर लेना चाहिए उदाहरण के लिए Acknowledgement के लिए 'पावती' शब्द स्वीकार किया गया है जो कि मूलतः मराठी का है।

कहीं-कहीं अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली का ग्रहण तो किया गया किन्तु ध्वनि व्यवस्था का अनुकूलन कर-Academy अकादमी Technique तकनीक Tragedy-त्रासदी Comedy-कामदी ध्वनियों का अनुकूलन विश्व की अन्य भाषाओं ने भी अपने अनुसार किया है। उदाहरण के लिए ईरानी भाषा में Television को 'टेलीविज्यों' तथा Radio को 'रादियों' बना दिया गया एवं जापान में Bridge को 'बुरिज्जि' बना दिया इसका लाभ यह है कि विदेशी शब्द भी स्वदेशी प्रतीत होने लगता है।

वैज्ञानिक व तकनीकी शब्दावली आयोग 5 लाख के लगभग शब्दों का अनुवाद कर चुका है और विधायी शब्दावली आयोग भी विधि क्षेत्र के लगभग सभी शब्दों का अनुवाद प्रस्तुत कर चुका है किन्तु समस्या उनके प्रचलन की है। भाषा का जन्म प्रयोगशाला में नहीं, समाज में होता है। यदि शब्दों के निर्माण हो जाने के बावजूद उनका प्रचलन न हो तो विकास की संपूर्ण प्रक्रिया निरर्थक हो जाती है। उदाहरण के लिए कम्प्यूटर के लिए संगणक शब्द का निर्माण तो कर लिया गया किन्तु प्रचलन न होने के कारण विकास की प्रक्रिया को निरर्थक घोषित करता है।

नई सम्भावनाएँ

भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विश्व में तीसरा स्थान बना चुका है। विकसित देश जैसे अमेरिका, इंग्लैंड, जापान आदि भारत में अधिक से अधिक निवेश कर रहे हैं। अपने उत्पादों के प्रसार हेतु हिन्दी का सीखना उनकी जरूरत के रूप में सामने आ रहा है। ऐसे में राजभाषा के विकास की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नई सम्भावनाएँ दिखाई दे रही हैं।

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Exploring the Geography and Socioeconomic Profile of Foothill Residents in Saddle Peak National Park, Andaman and Nicobar Islands

Kishore Kumar Baraik
(Research Scholar)
Dr. Manoj Kumar (Research Guide)
Department of Geography
Shri Jagdish Prasad Jhabarmal Tibrewala University Jhunjhunu, Rajasthan

Abstract : Saddle Peak National Park, located in North Andaman, is the highest peak in the Andaman and Nicobar Islands, characterized by unique tropical ecosystems, dense forests, and diverse flora and fauna. The park's foothill areas host small, scattered communities whose livelihoods are closely tied to natural resources and forest ecosystems. This study explores both the geographical characteristics of the park and the socioeconomic profile of the residents in its foothills. Using a combination of field surveys, satellite data analysis, and household interviews, the research highlights patterns in land use, settlement distribution, income sources, educational levels, and access to basic infrastructure. Findings suggest that while the foothill communities maintain a strong dependence on traditional occupations such as agriculture, fishing, and forest produce collection, they face challenges in education, health, and sustainable development. This study provides insights for policymakers and conservationists to balance ecological protection with community welfare.

Introduction

Saddle Peak National Park, situated in the North Andaman region of the Andaman and Nicobar Islands, is renowned for its rich biodiversity and ecological significance. Covering approximately 32 km², the park encompasses a variety of habitats including tropical evergreen forests, montane ecosystems, and freshwater streams. Its location near human settlements in the foothills presents a unique interface between conservation and local livelihoods. The foothill residents rely on agriculture, forest resources, and fishing for their subsistence and income, but face multiple challenges due to limited infrastructure, environmental constraints, and restricted access to services. Understanding both the physical geography and the socioeconomic profile of these communities is essential for developing sustainable conservation strategies while improving local quality of life.

Objectives of the Study:

1. To examine the geographical features of Saddle Peak National Park and its surrounding foothill areas.

2. To document the socioeconomic conditions, livelihood patterns, and infrastructure access of foothill residents.
3. To identify the challenges faced by local communities and propose recommendations for sustainable development and conservation integration.

Geographical Characteristics of Saddle Peak National Park

Saddle Peak National Park, located in the northern part of North Andaman Island, is the largest and highest peak in the Andaman and Nicobar archipelago, rising to an elevation of 732 meters above sea level. The park encompasses an area of approximately 32 square kilometers and is characterized by a rugged hilly terrain with steep slopes, narrow valleys, and deep gorges. Its topography is dominated by dense tropical evergreen forests interspersed with semi-evergreen and littoral vegetation along the lower slopes and foothills. The region experiences a tropical monsoon climate with high humidity throughout the year, mean annual rainfall ranging from 3,000 to 3,500 millimeters, and temperatures fluctuating between 23°C and 32°C. The park's hydrological network consists of perennial streams and small rivers that originate from the higher slopes and flow through the valleys, providing vital water resources for both wildlife and local settlements. Geologically, the area is composed of sedimentary and volcanic formations, giving rise to fertile alluvial soil in the foothills and lateritic soils in the upland zones. The park is rich in biodiversity, supporting numerous endemic and endangered species of flora and fauna, including the Andaman wild boar, saltwater crocodile, and several rare orchid species. Land use in and around the park is highly influenced by conservation priorities, with the upper slopes largely reserved as protected forest, while the lower slopes and foothills support limited human settlements, agricultural fields, and collection zones for forest produce. The juxtaposition of steep, forested highlands with gently sloping foothills creates a diverse ecological gradient, making Saddle Peak National Park an important area for both ecological conservation and human habitation studies.

Location and Topography Saddle Peak National Park is located in the northern part of North Andaman Island, approximately 24 km northeast of Diglipur town. The park is part of a hilly terrain dominated by **Saddle Peak (732 m)**, the highest point in the Andaman and Nicobar archipelago. The topography includes steep slopes, narrow valleys, and lowland foothills where settlements are concentrated.

Climate and Rainfall

The park experiences a tropical monsoon climate:

- Average annual rainfall: 3000–3500 mm.
- Temperature ranges: 23°C to 32°C.
- High humidity throughout the year, favoring dense evergreen forests.

Flora and Fauna

The park is rich in biodiversity:

- **Flora:** Evergreen forests, semi-evergreen patches, orchids, and rare medicinal plants.
- **Fauna:** Endangered species such as the Andaman wild boar, saltwater crocodiles, and

various endemic bird species.

Hydrology

The hydrology of Saddle Peak National Park is a defining feature of its landscape and plays a crucial role in sustaining both the park's rich biodiversity and the livelihoods of foothill residents. Numerous small rivers and perennial streams originate from the slopes of Saddle Peak, fed by the region's high annual rainfall and natural springs scattered throughout the hills. These waterways flow through narrow valleys and gorges, eventually reaching the lower foothills, where they provide a vital source of freshwater for domestic use, irrigation, and small-scale agriculture. The streams are characterized by clear, fast-flowing water in the upper reaches and slower, meandering courses in the lowlands, often forming natural ponds and wetlands that support aquatic life and attract a variety of bird species. The hydrological system also plays a key role in maintaining soil moisture, regulating local microclimates, and sustaining the dense evergreen and semi-evergreen forests of the park. For the human settlements in the foothills, these streams are indispensable, supplying water for paddy fields, vegetable gardens, and daily household needs, while also influencing settlement patterns and agricultural practices. Seasonal variations, particularly during the monsoon, significantly affect water flow, sometimes causing temporary flooding in the valleys and erosion along the banks, which in turn impacts both natural ecosystems and human infrastructure. Overall, the park's hydrology forms an intricate and interdependent network that is central to the ecological health of Saddle Peak National Park and the socioeconomic well-being of the communities living in its foothills.

Land Use Patterns

- Upper slopes: Reserved forest areas with minimal human activity.
- Mid-slopes: Restricted access, occasional trekking and conservation activities.
- Foothills: Agricultural lands, villages, and collection zones for forest resources.

Socioeconomic Profile of Foothill Residents

The foothill residents of Saddle Peak National Park represent small, scattered communities whose livelihoods are closely linked to the natural environment of the region. These communities are a mix of indigenous Andamanese groups and settlers from mainland India, with household sizes averaging four to six members. Agriculture forms the backbone of their economic activities, with paddy cultivation, vegetable farming, coconut plantations, and small-scale horticulture being the primary sources of income. In addition, fishing in nearby rivers and streams provides an important supplementary livelihood, while the collection of forest products, such as honey, fruits, and medicinal plants, further contributes to household sustenance and income. Some residents are employed in government services, education, and tourism-related activities, though these opportunities are limited and often seasonal. Education levels among the foothill population are moderate, with primary schooling available locally, while secondary and higher education require travel to larger towns such as Diglipur, leading to higher dropout rates beyond primary levels. Access to health facilities is restricted, with only a primary health sub-center located within the foothills and major medical services available only in urban centers. Infrastructure challenges, including limited road connectivity, intermittent electricity, and inadequate water supply, affect daily life and economic productivity. Socially and culturally, the communities are tightly knit, relying on traditional practices, local governance structures,

and shared cultural events to maintain cohesion and identity. Despite their resilience and strong connection to the environment, foothill residents face vulnerabilities due to dependence on natural resources, environmental hazards such as landslides and soil erosion, and restrictions imposed by conservation regulations, making their socioeconomic profile a blend of traditional subsistence, emerging modern influences, and ecological interdependence.

Demographic Characteristics

The foothill population is small and scattered:

- Average household size: 4–6 members.
- Ethnic composition: Predominantly indigenous Andamanese, along with settlers from mainland India.
- Gender distribution: Slightly higher male population due to migration patterns for work.

Livelihood and Occupation

The main sources of income include:

1. **Agriculture:** Cultivation of paddy, vegetables, and coconut plantations.
2. **Fishing:** Small-scale fishing in nearby rivers and coastal areas.
3. **Forest Resource Collection:** Honey, fruits, medicinal plants.
4. **Government and Service Sector Employment:** Some residents work in local administration, schools, and tourism.

Observation: Livelihoods are closely dependent on natural resources, making the communities vulnerable to ecological changes and conservation regulations.

Education

- Literacy rate: Moderate (~70–75%) among adults.
- School access: One primary school in the foothill area, secondary education requires travel to Diglipur.
- Challenges: Limited resources, shortage of teachers, and high dropout rates beyond primary education.

Health and Infrastructure

- Health facilities: A small primary health sub-center exists, major hospitals are in Diglipur.
- Transportation: Narrow roads, often affected by monsoon rains.
- Utilities: Electricity is available but intermittent; piped water supply is limited.

Social and Cultural Aspects

- Strong community ties, reliance on traditional practices.
- Festivals, local governance, and cultural events maintain social cohesion.
- Indigenous knowledge contributes to sustainable resource use.

Challenges Faced by Foothill Residents

1. **Environmental Constraints:** Soil erosion, landslides, and limited agricultural land.

2. **Infrastructure Deficit:** Roads, schools, health care, and electricity are inadequate.
3. **Economic Vulnerability:** Dependence on subsistence agriculture and forest products.
4. **Conservation Restrictions:** Limited access to certain forest areas affects livelihoods.
5. **Education and Health Gaps:** Low access to quality education and health services.

Recommendations

1. **Sustainable Livelihood Programs:** Promote agroforestry, eco-tourism, and value-added forest products.
2. **Infrastructure Development:** Improve road connectivity, schools, healthcare, and water supply.
3. **Environmental Education:** Raise awareness on conservation, climate change adaptation, and sustainable practices.
4. **Community Participation:** Involve residents in park management and decision-making.
5. **Government Support:** Provide subsidies, skill development, and social welfare schemes targeting foothill communities.

Conclusion

Saddle Peak National Park is a critical ecological zone in the Andaman and Nicobar Islands, and its foothill communities depend heavily on the natural environment for their livelihoods. This study highlights the intricate link between geography and socioeconomic conditions, showing that sustainable development and conservation efforts must consider both ecological preservation and human welfare. Addressing challenges in infrastructure, education, health, and livelihood diversification can enhance the quality of life for foothill residents while maintaining the park's ecological integrity.

References

1. Andaman & Nicobar Administration. (2021). *Statistical Handbook: Andaman and Nicobar Islands*. Directorate of Economics & Statistics, Port Blair.
2. Bisht, R. S. (2018). *National parks of India*. Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India.
3. Chakraborty, S., & Srivastava, R. (2019). *Forest ecology and conservation in tropical islands*. Oxford University Press.
4. Das, M., & Mahalakshmi, S. (2024). Government measures on sustainable tourism development in Andaman and Nicobar Islands, India: Residents' perspective. *RESEARCH HUB International Multidisciplinary Research Journal*.
5. Government of India. (2022). *Census of India 2021: Andaman and Nicobar Islands*. Office of the Registrar General & Census Commissioner.
6. Government of India. (2020). *Andaman and Nicobar Islands: Climate, Vegetation and Wildlife Report*. Ministry of Environment, Forest and Climate Change.
7. Indian Forest Service. (2019). *Saddle Peak National Park management plan* [PDF]. Ministry of Environment, Forest and Climate Change.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

हिंदी के साहित्यिक विरासत के संरक्षण में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना की भूमिका

सूचित कुमार
शोधार्थी
हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ. विजय कुमार
शोध निर्देशक

हम जब भी समाज की बात करते हैं, तो पूरे समाज का प्रतिबिंब रूपी चेहरा हमारे सामने दिखने लगता है। मानो वह शुक्ल की परिभाषा को चरितार्थ करता रहा हो, जहां शुक्ल साहित्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता के चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता के चित्तवृत्तियों में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता-चला जाता है।"[1] अर्थात जनता ही साहित्य का आधार है, जनता की चित्तवृत्ति ही साहित्य जो लिखित रूप में है, वह साहित्य है। जब साहित्य की बात होती है, तब यह भी प्रश्न उठता है, कि जो लिखा जा रहा है उसे भविष्य में कैसे संरक्षित किया जाए ताकि हमारे आगे आने वाली पीढ़ी इस देश का स्वरूप कैसा था, उसके साहित्य कैसे थे उसका सही-सही आकलन लगा सके, ताकि उसका आधार बनाकर अपने अतीत के बारे में जान सके, उससे कुछ सीख सके। इन्हीं सब बातों को लेकर हमारे देश में साहित्य कैसा रचा जा रहा है, क्या रचा जा रहा है, उसके मायने क्या हैं, यह सब हमें अगर कहीं संरक्षित रूप में देखने को मिलता है तो वह हैं वहाँ की साहित्यिक संस्थाएं -चाहे वह देश के स्तर पर हो या राज्य के स्तर पर हो, उनके साहित्यिक विरासत को संरक्षित करने का काम करती हैं। इसी संदर्भ में बिहार के प्रख्यात साहित्यिक संस्थानों में से एक साहित्यिक संस्थान बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना के योगदान एवं संरक्षण पर यह आलेख है।

वर्तमान समय में देखा जाए तो हमारे देश के अन्दर साहित्यिक गतिविधियाँ पहले की अपेक्षा कम हुई हैं।इसके कई कारण हैं, चाहे समाज के गिरते स्तर का हो, या फिर साहित्यिक संस्थानों पर बढ़ते राजनीतिक प्रभाव हो, या फिर साहित्य के प्रति कम होती रुचि हो, या फिर सरकार को इन संस्थानों का नजरअंदाज करना हो। वर्तमान युग में देश तथा समाज की जो भीषण स्थिति है उस पर ध्यान देते हुए यह कहना तर्कसंगत न होगा कि बिहार की साहित्यिक संस्थाओं की संरक्षण की आवश्यकता है, हालांकि प्रगति कुछ हद तक अन्य राज्यों के संस्थानों के मुकाबले संतोषजनक रहा है। किसी देश अथवा राज्य की साहित्यिक प्रगति का निरीक्षण करते समय इस बात पर विचार करना पड़ता है कि वहाँ के साहित्य सेवि कैसे हैं,और क्या कर रहे हैं, पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति कैसी है,उच्च शिक्षा संस्थानों में साहित्य को लेकर क्या-क्या प्रयत्न हो रहे हैं, साहित्यिक संस्थानों में साहित्य में कैसी पहल एवं सुधार हो रहा है, साहित्य से संबंधित प्रकाशकों की साहित्य के प्रति कितना समर्पण है, साहित्य के प्रति उनका क्या-क्या कर्तव्य है, क्या वे उसे साहित्य की मूल से देख रहे हैं, किस तरह की वातावरण में अपनी कृतियाँ दे रहे हैं, क्या वे इसे साहित्य की नजर से देख रहे हैं या बढ़ते हुए बाजारबाद के प्रभाव में आकर साहित्य की तरफ झुकाव आया है, साहित्य की क्या ऐसा कार्यक्रम चल रहा है, जो हमारे साहित्य का गौरव बनने वाले हैं, उनके साहित्य को संरक्षित रखने के लिए क्या-क्या अनुदान मिल रहा है, वर्तमान समय में जनता किस तरह की साहित्यों की

पठन-पाठन कर रहा है, उसकी रुचि किस तरह की साहित्य पढ़ने में है। साहित्य को आगे बढ़ाने वाली कितनी भागीदारियों-अंधकार में पड़ी हुई है, साहित्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में क्या-क्या पहल उठाया जा रहा है, वह किस तरह की आलोचनाओं का सामना कर रहा है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए बिहार की साहित्यिक प्रगति पर नजर डालते हैं, तो कुछ हद तक हमें खुशी मिलती है क्योंकि समकालीन समय की कठिनाइयों यदि हमारा मार्ग अवरोध न करती तो आज हम चारों ओर आशा की ही ज्योति जगमगाते हुए देख पाते, ओर यह सर्वत्र निश्चित है की "जब कभी इस विभीषकामय युग का अवसान होगा, बिहार के साहित्यिक प्रगति आज की तरह अबरुद्ध न रहकर द्रुत वेग से अग्रसर होगी। इस समय उपयुक्त साधनों और सुलभ सुविधाओं के अभाव में भी जो कुछ ही रहा है वह पर्याप्त न होते हुए भी असंतोषप्रद नहीं है। हमारी आशा की किरणों की दुर्दिन के बादल ढके हुए अवश्य हैं, पर क्षितिज के छोर पर आशा की किरणें झलक रही हैं और उनका झांकना ही हमें शुभ भविष्य के लिए आश्वासन दे रहा है"[2]

"स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बिहार ने राजभाषा हिन्दी के विकास के लिए दो ऐसे महत्वपूर्ण कार्य किये जिनके लिए भारती हिन्दी जगत इस राज्य का तथा इन दोनों श्लाघनीय कार्यों के पुरस्करताओं को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखता है। ये स्मरणीय एवं स्तुत्य कार्य हैं–

देश में सबसे पहले बिहार द्वारा राजभाषा अधिनियम 1950 पारित कर हिन्दी को बिहार राज्य की राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना तथा दूसरा 1947 में बिहार सरकार द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य के उन्नायक डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की प्रेरणा और तत्कालीन मुख्यमंत्री बिहार केसरी श्री कृष्ण सिंह के प्रयास से बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद की स्थापना के प्रस्ताव को विधान सभा द्वारा स्वीकृत होना।"[3] राजभाषा अधिनियम पारित एवं प्रवृत्त कर बिहार ने जिस प्रकार राजभाषा हिन्दी के विकास-विस्तार का विस्तृत वितान खड़ा कर दिया उसी प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य तथा अन्य अनुषंगी भाषाओं के उत्थान-उत्कर्ष के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद ने उल्लेखनीय कीर्तिमान स्थापित किया। बिहार के ये दोनों चिरस्मरणीय अवदान हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहास में निश्चय ही शिरोरेखिय महत्व आयात करेंगे।

"हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास एवं विस्तार तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की दृष्टि से परिषद के अन्तर्गत कई स्तर के विभागों का गठन किया गया। जो इस प्रकार हैं, लोकभाषा-अनुसंधान-विभाग, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ-शोध-विभाग, विद्यापति स्मारक अनुसंधान विभाग,भाषा-सर्वेक्षण-विभाग, अनुसंधान पुस्तकालय, परिषद-पत्रिका-विभाग, प्रकाशन विभाग, भण्डार एवं विक्रय विभाग। इन समस्त विभागों के माध्यम से 'परिषद' ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के लिए अनेकानेक कार्य सम्पन्न किये हैं। लोकभाषा 'अनुसंधान' विभाग के माध्यम से कृषिकोश (दो खंड), कहावत-कोश, मुहावरा-कोश, पहेली-कोश, भिखारी ठाकुर-रचनावली, मगही, भोजपुरी, मैथिलि, अंगिका संस्कार गीतों आदि का प्रकाशन हो चुका है। भाषा-सर्वेक्षण-विभाग में बिहार के भाषाओं के सर्वेक्षण एवं प्रकाशन की योजना थी।"[4] बिहार के "साहित्यकारों की हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन में उपेक्षित न हो। इस दृष्टि से बिहार का साहित्यिक इतिहास-विभाग द्वारा श्हिन्दी साहित्य और बिहारश के पाँच खण्ड प्रकाशित किये गये हैं; जिनमें 1925 तक के सभी साहित्यकारों के विवरण संकलित हैं। विद्यापति-स्मारक अनुसंधान-विभाग द्वारा 'विद्यापति पदावली के पाठभेद', अर्थों और टिप्पणीयों के साथ तीन खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। उनके अन्य ग्रन्थों पर भी शोधकार्य हुआ है। 'कीर्तिलता, भूपरिक्रमण आदि, विद्यापति कोश' का भी निर्माण किया गया है। प्रकाशन विभाग अपनी सक्रियता-निभाते हुए अब तक 148 ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। 'परिषद' ने संस्कृत, अंग्रेजी, जर्मन, उर्दू, बांग्ला तथा अन्य भारतीय भाषाओं के मानक ग्रन्थों का अनुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। जैसे-श्तमिल भाषा से कम्बरामायण, तेलुगु भाषा से रंगनाथ फ्रेंच से मैटरलिंक के (ब्लु बर्ड) का नीलपंछी, संस्कृत से श्कथा सरित्सागर (तीन खंड), काव्यमीमांसा आदि।"[5]

बिहार राज्य के वयोवृद्ध एवं लब्धप्रतिष्ठ साहित्यसेवियों को सम्मान करने, हिन्दी में साहित्य एवं साहित्यकार (विषयों) पर उत्तमतम ग्रंथो के प्रणयन के लिए,राष्ट्रीय एवं भावनात्मक एकता को सुदृढ़ करने के उदेश्य से अहिंदी भाषा-भाषी लेखकों को भी प्रतिवर्ष पुरस्कृत एवं सम्मानित किया जाता है।

हिंदी के साहित्यिक विरासत के संरक्षण में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, का योगदान काफी अहम रहा है परन्तु वर्तमान समय की मांग को देखते हुए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद को भी संरक्षित और इसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है, क्योंकि 21वीं सदी का भारत डिजिटल भारत की ओर अग्रसर है। आज के समय में प्रत्येक गतिविधियाँ ऑनलाइन होती हैं, कोरोना काल के समय से आए एक युगान्तकारी परिवर्तन ने देश के लगभग सभी विश्वविद्यालय में अब पठन-पाठन का कार्य भी डिजिटली हीं होने लगी है, ।जहाँ छात्र अब पुस्तकालय जाकर पुस्तकों का अध्ययन करने के बजाय इ-बुक पर शिफ्ट होने लगे हैं, साहित्यिक गतिविधि भी काफी हद तक डिजिटल मोड में हीं हो रहे हैं। अब साहित्य के प्रचार का माध्यम भी डिजिटल होता जा रहा है। भारतीय गुरुकुल पद्धति से डिजिटल पद्धति पर शिफ़्ट होती दुनिया में तब यह और आवश्यक हो जाता है कि इन साहित्यिक संस्थानों को संरक्षित करने के लिए इसे भी डिजिटल रूप प्रदान दें, ताकि हम देश और राज्य के साहित्यिक गतिविधियों को घर बैठें हीं अवगत हो सकें, खासकर उनलोगों के लिए जो ग्रामीण क्षेत्र में रहते हैं वो भी इन संस्थानों से जुड़ सकेंगे इससे लेखकों और पाठकों की संख्या में वृद्धि तो होंगी हीं साथ हीं साथ प्राकृतिक आपदायों एवं मानवीय आपदा जैसे की बाढ़ आग एवं भूकंप की स्थिति में भी अगर इन साहित्यिक संस्थानों को नुकसान पहुँचता है तो आसानी से सारी साहित्यिक सामग्री को एकत्रित किया जा सकें।

निष्कर्ष

वर्तमान युग में मूल ग्रंथो का लगातार प्रभाव घट रहे हैं, एवं उसका लगातार संरक्षण होता जा रहा है, तब साहित्यिक संस्थाएं हीं उसे संरक्षित करने का काम कर रही है। आज आवश्यकता है की साहित्यिक विरासत के संरक्षण के लिए आधुनिक तकनीक और सरकारी सहयोग का प्रभावी उपयोग किया जाए। यदि साहित्यिक संस्थाएं, सरकार और समाज मिलकर कार्य करें,तो हिन्दी साहित्य की समृद्ध परंपरा आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित रह सकती है ।बिहार की साहित्यिक चेतना भारतीय संस्कृति और हिन्दी विरासत की अमूल्य धरोहर है जिसे बचाए रखना हमारा मौलिक कर्तव्य होना चाहिए।

सन्दर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल(1929)-हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, नागिरी प्रचारिणी सभा काशी, पृष्ठ-13
2. स्वर्ण जयंती अंक, परिषद-पत्रिका, बिहार की साहित्यिक प्रगति वर्ष -50, अंक 1-4 बिहार- राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, पृष्ठ-7
3. मिथलेशकुमारी मिश्र, स्वर्ण जयंती अंक, परिषद- पत्रिका, संपादकीय बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, पृष्ठ-11
4. वही, पृष्ठ-12
5. वही, पृष्ठ-13

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

भारतीकेशरिप्रबोधकुमारमिश्रविरचिते स्वप्नदूते गुणरीतितत्त्वसमीक्षा

अजित कुमार नायक
विद्यावारिधिः, शोधार्थी, स्नातकोत्तरसाहित्यविभागः
श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः श्रीविहारः, पुरी, ओडिशा
मोबा. - 9437809269, email : ajitkumarnayak500@gmail.com

शोधसारः

संस्कृतसाहित्यस्य दीर्घसाहित्यपरम्परायां दूतकाव्यपरम्परा नाम विशिष्टा काव्यधारा विद्यते, या प्राचीनकालादारभ्य आद्यावधिः कविभिः विविधरूपेण संवर्धिता। परम्परायामस्यां मेघदूतमादर्शीभूतं काव्यमिति सर्वविदितं, तदेव आदर्शमाश्रित्य बहवः कवयः स्वकीयकाव्यानि निर्मितवन्तः, येषु उत्कलकालिदासभारतीकेशरिप्रबोधकुमारमिश्रविरचितं स्वप्रदूतमपि एकं विशिष्टं स्थानं भजति।

काव्येऽस्मिन् विप्रलम्भशृङ्गारस्य मार्मिकाभिव्यक्तिः, प्रकृतिचित्रणस्य सौन्दर्यं, छन्दोवैचित्र्यं, अलङ्काराणां समुचितप्रयोगः, गुण-रीत्योः सुललितसमन्वयश्च सहृदयानां मनांसि आकर्षयति। विशेषतः वैदर्भीरीतेः, माधुर्यगुणस्य, मन्दाक्रान्ताछन्दसश्च सफलः प्रयोगः काव्यस्यास्य काव्यवैशिष्ट्यं प्रकाशयति। प्रस्तुते शोधपत्रे स्वप्रदूतकाव्यस्य शास्त्रीयदृष्ट्या सम्यगनुशीलनं कृत्वा तत्र प्रयुक्तानां गुणानां, रीतीनां च समीक्षात्मकं विवेचनं विधास्यते।

कुञ्जिशब्दाः

संस्कृतसाहित्य, दूतकाव्यपरम्परा, उत्कलकालिदासो, भारतीकेशरी, प्रबोधकुमारमिश्र, स्वप्रदूतम्, गुणः, दोषः, वेदाः, काव्यशास्त्रं, रीतिः, मम्मट, गुणलक्षण, विश्वनाथकविराजः, साहित्यदर्पणः, माधुर्य, प्रसाद, पाञ्चाली, वैदर्भी, भरतमुनि, नाट्यशास्त्रं।

प्रस्तावना

संस्कृतसाहित्यं विश्वसाहित्येषु प्राचीनतमं, समृद्धतमं च साहित्यरूपेण प्रतिष्ठितम्। अस्यां दीर्घसाहित्यपरम्परायां काव्यानि विशेषं स्थानं धारयन्ति, यत्र दूतकाव्यपरम्परा नाम विशिष्टा काव्यधारा विद्यते, या प्राचीनकालादारभ्य आद्यावधिः कविभिः विविधरूपेण संवर्धिता। परम्परायामस्यां मेघदूतमादर्शीभूतं काव्यमिति सर्वविदितं, यत्र विरहवेदना, प्रकृतिसौन्दर्यं, भावगाम्भीर्यञ्च समन्वितरूपेण दृश्यते। तदेव आदर्शमाश्रित्य बहवः कवयः स्वकीयकाव्यानि निर्मितवन्तः, येषु उत्कलकालिदासभारतीकेशरिप्रबोधकुमारमिश्रविरचितं स्वप्रदूतमपि एकं विशिष्टं स्थानं भजति।

काव्येऽस्मिन् विप्रलम्भशृङ्गारस्य मार्मिकाभिव्यक्तिः, प्रकृतिचित्रणस्य सौन्दर्यं, छन्दोवैचित्र्यं, अलङ्काराणां समुचितप्रयोगः, गुण-रीत्योः सुललितसमन्वयश्च सहृदयानां मनांसि आकर्षयति। विशेषतः

वैदर्भीरीतेः, माधुर्यगुणस्य, मन्दाक्रान्ताछन्दसश्च सफलः प्रयोगः काव्यस्यास्य काव्यवैशिष्ट्यं प्रकाशयति। प्रस्तुते शोधपत्रे स्वप्नदूतकाव्यस्य शास्त्रीयदृष्ट्या सम्यगनुशीलनं कृत्वा तत्र प्रयुक्तानां गुणानां, रीतीनां च समीक्षात्मकं विवेचनं विधास्यते।

गुणविमर्शः

गुणशब्दः संस्कृतवाङ्मये नानार्थकः। प्रतिशास्त्रमस्यार्था भिद्यन्ते। गुणशब्देन सांख्ये सत्त्वरजस्तमांसि, न्याये रूपरसगन्धादीनि, व्याकरणे 'अ, ए, ओ' इत्यक्षराणि, अन्यत्राऽप्रधानं चेत्यादि बोध्यते। किन्तु काव्यशास्त्रे मुख्यरूपेण माधुर्यादयो गृह्यन्ते। काव्यशास्त्रीयस्य गुणस्याप्युद्गमो वेदादेवेति मन्तुं शक्यते। यद्यपि वेदे गुणस्वरूपं न लभ्यते तथापि गुणस्योदाहरणानि द्रष्टुं शक्यन्ते। यथा "**कङ्कतो न कङ्कतोऽथो सतीनकङ्कतः। द्वाविति प्लुषी इति न्यदृष्ट अलिप्सत॥**"[१] इत्यत्र माधुर्यस्य, "**वर्धस्वा सु पुरुष्टुत ऋषिष्टुताभिरूतिभिः। धुक्षस्व पिप्युषीमिषमवा च नः॥**"[२] इत्यत्रेन्द्रसम्बिन्धिनि सूक्त ओजसः, "**यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽइव। तत्रऽइन्द्रो बृहस्पतिरदंतिः शर्म्म यच्छतु विश्वाहा शर्म्म यच्छतु॥**"[३] इत्यत्र समासाभावेन झटित्यर्थसमर्पकत्वेन प्रसादस्य च सत्त्वं स्पष्टम्। सर्वप्रथमं भरतमुनेर्नाट्यशास्त्रे दश गुणा निर्दिष्टाः, यतः काव्यशास्त्रे गुणविवेचनं प्रारभते।

भरतादनु दण्डिप्रथमवाग्भटप्रभृतयो दशगुणवादिनः। **"उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः"**[४] इति विश्वनाथमतोक्तदिशा गुणाः काव्यात्मभूतस्य रसस्योत्कर्षहेतवः सन्ति। अस्य लक्षणं लक्षयता मम्मटेनोक्तम्-

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[५]

अर्थात् यथा शौर्यादयः आत्मनः धर्माः भवन्ति न शरीरस्य तथैव काव्यात्मभूतस्य रसस्य धर्माः माधुर्यादयः गुणाः भवन्ति न शब्दार्थयोः। एते च गुणाः अव्यभिचरिताः सदैव रसेन सह मिलित्वा तिष्ठन्ति। एवमत्र मम्मटोक्तगुणलक्षणे गुणस्य धर्मद्वयं भाव्यते यथा - रसोत्कर्षाधायकत्वं, रसनिष्ठत्वञ्च।

स्वप्नदूते गुणः

प्रबोधकुमारमिश्रप्रणीतस्य स्वप्नदूतस्यापि समीक्षायां ज्ञायते यत् तत्रापि काव्येऽस्मिन् माधुर्यगुणस्य प्रयोगोऽभवत्। माधुर्यगुणस्य लक्षण यथा- **चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते।**[६] अर्थात् यत्र सहृदयहृदयानां द्रवीभावमयोत्पन्नं भवति तत्र माधुर्यगुणो भवति। काव्यस्यास्याध्ययनेन चित्तस्य द्रुतिरूत्पन्ना भवति। अतोऽत्र माधुर्यगुणः। तेनोक्तं - माधुर्यद्रुतिकारणमिति तन्न द्रवीभावस्य स्वादरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्यत्वभावात्।

---

[१] ऋग्वे.म.१ अनु.२४ सू.१९१.१

[२] ऋग्वे.म.८ अनु.३ सू.१३.२५

[३] यजु. १७. ४८

[४] सा.द०. १.३

[५] का.प्र. ८.१

[६] तत्रैव. ८. १

द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्वविस्मय-हासाद्युपहितचिक्षेपपरित्यागे सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम्। तच्च माधुर्याभिव्यञ्जकक्षेत्रं - **सम्भोगे करूणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥**[७] सम्भोगादिशब्दाः उपलक्षणानि तेन संभोगभासादिष्वप्येतस्य स्थितिज्ञेया। यथा-

सन्तप्तायाः हरतु विरहोच्छ्वास सम्भार पूरं कान्त प्रेम प्रवण हृदय-प्लाविनं दीर्घतापम्।
तस्मात्तूणं धवल नगरी शारिके! याहि दिल्लीं खेदोद्भिन्नां प्रणयजदशां वर्णयः प्राणमित्र! ॥[८]

अत्र विरहावस्थायां सन्तप्तायाः नायिकायाः वर्णनत्वाद् विप्रलम्भश्रृङ्गारस्य वर्णनमस्ति। अतोऽत्र माधुर्यगुणः। अपि च-

बिम्बोष्ठे मे लिखति चटुलश्चुम्बनंद्रागकालं 'लज्जाहीन' प्रिय इति रुषा वच्मि तत्रान्तरेऽहम्।
मन्दं मन्दं गिरसि! मधुरं त्वं तदा शारिके! यद् भावं भावं प्रियसहचर! सम्भवेत् शोकतप्तः॥[९]

उदाहरणेऽस्मिन् चुम्बनेत्यादीनां स्मरणेन विप्रलम्भश्रृङ्गारस्य-च्छटाऽवलोक्यते अपि च माधूर्यपदानां प्रयोगः कारणादत्र माधुर्यगुणः। एवञ्चात्रापि –

प्रेमस्निग्धा मृदुमधुमयी भारती दुर्लभाऽद्य आश्लेषोऽसौ भुजयुग-गतः पुष्टलीलाप्रसूतः।
यामिन्याश्च प्रथित मिलनोद्दप्तरागप्रकाशि स्नेहोद्भार-क्षरण-कणिका-प्लावितं-चुम्बनं च ॥[१०]

रीतिलक्षणं गुणैश्च सह तासां सम्बन्धः -

काव्यशास्त्रे विशिष्टपदरचनारूपे रीतिशब्दार्थे प्रवृत्ति-वृत्ति-सङ्घटना-मार्ग शब्दाः प्रयुज्यन्ते। रीतिशब्दः 'रीङ् प्रस्रवणे' इति धातोः 'रीङ् गतौ' इति धातोश्च क्तिन्प्रत्यये कृते निष्पद्यते। काव्यशास्त्रीयरीतितत्त्वस्योद्गमो वेदात् स्वीकर्तुं शक्यते। काव्यशास्त्रेऽपि हि रीत्यर्थे प्रवृत्तिमार्गाद्यर्थाः प्रयुक्ता एव।

अयं रीतिविकासो भरतात् प्रारभते। भरतेन पश्चात् प्रयुज्यमानस्य रीतिशब्दस्याप्यर्थे प्रवृत्तिशब्दः प्रयुक्तः। रीतिरात्मा काव्यस्येति मतं सर्वप्रथमं वामनाचार्येण अष्टमशताब्द्यां प्रतिष्ठापितम्। तथापि ध्वनिवादिष्वाचार्येषु विश्वनाथो रीतीनां सविशदं विशेषवर्णनं कृतवान्। साहित्यदर्पणस्य नवमे परिच्छेदे रीतीनामेव निरूपणं विद्यते। तत्र साहित्यदर्पणस्य प्रथमे परिच्छेदे रीतेरवयवसंस्थानविशेषवत् इत्युक्त्वा उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयोऽपि प्रतिपादितवान्। कविराजविश्वनाथमते यथा अङ्गविन्यासः सुसङ्गठिततया विशेषसौन्दर्याधायकः सन् आत्मन उपकारको भवति तथैव पदसङ्घटनारूपा रीतिः काव्यात्मभूतस्य रसस्योपकारिणी भवति। अर्थात् अङ्गसंस्थानवत् पदसङ्घटनारूपा रीतिः रसानुपकरोति। रीतिश्च चतुर्विधाः वैदर्भी-गौडी पाञ्चाली लाटी च। यथा -

---

[७] तत्रैव. ८.२
[८] स्वप्न०. ६
[९] तत्रैव ६६
[१०] तत्रैव ६६

पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा॥ वैदर्भी चाऽथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा।[११]

रीतीनां निरूपणे विश्वनाथो वर्णानां विन्यासं समासञ्च विशेषहेतुत्वेन न्यरूपयत्।

वामनपूर्ववर्तिनौ भामहदण्डिनौ काव्येष्वलङ्कारान् महनीयतत्त्वरूपेण प्रस्थापितवन्तौ। परन्तु वामनेनाऽनुभूतं यत् काव्ये किञ्चिदलङ्कारेष्वपि सूक्ष्मतरं तत्त्वं वर्तते, यद्विना काव्यरचना न तथा चमत्कारकारिणी सफला च भवति। तेनोद्घोषितं रीतिरेव तत्तत्त्वं वर्तते। रीतिरेव काव्यस्याऽऽत्मा। काव्यशरीरं ध्रुवं शब्दार्थनिर्मितं वर्तते, तयोश्च सौन्दर्यं तत्र चमत्कृतिमादधाति। परं यावत् पदसङ्घटानायां पदसन्निवेशे च औचित्यं न तिष्ठति, तावत् काव्ये काव्यत्वं न प्रवर्तते। पदानामियं सङ्घटनैव रीतिः वर्तते। अथ च चेयं सङ्घटना गुणविशिष्टाऽपि भवितव्या। अतो वामनो रीतिलक्षणं जगाद - **विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा॥** अत्र वैशिष्ट्यं विद्यते गुणयुक्तत्वम्।

अनेन ज्ञायते यत् रीतयो गुणैर्निष्पद्यन्ते। वामनेन गुणानां सम्बन्धः साक्षाद्रूपेण रीतिभिः सह संस्थापितः। असौ तिस्रो रीतीः प्रतिपादितवान् वैदर्भी गौडीं पाञ्चालीं च।

स्वप्नदूते रीतिः

अतः अस्मिन् प्रसङ्गे अस्माभिः आलोच्यमानस्वप्नदूतस्य रीतिविचारः शास्त्रीयदृष्ट्या विस्तरेण क्रियते। काव्यशास्त्रे "विशिष्टपदरचना रीतिः" इति सिद्धान्तः प्रसिद्धः। तत्र वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी इति त्रयो रीतिभेदाः निर्दिष्टाः सन्ति। एतेषु च वैदर्भी रीतिः सर्वोत्कृष्टा परिगण्यते, यतः अस्याम् एकत्रैव माधुर्य-ओजः-प्रसाद इत्येते त्रयः गुणाः सम्यक् समन्विताः दृश्यन्ते। वैदर्भीरीतेः लक्षणमिदं यत्—

माधुर्यव्यञ्जकैरवर्णै रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।[१२] इति

माधुर्यगुणव्यञ्जकवर्णसमन्विता, ललिता, अल्पसमासा, सुललितपदरचनायुक्ता च या रचना, सा वैदर्भीरीतिरिति कथ्यते। यत्र भाषायाः श्रुतिमाधुर्यं, पदलालित्यं, स्वाभाविकता, सारल्यं च सहजतया प्रवहति, यत्र दीर्घसमासानां क्लिष्टकल्पनानां कृत्रिमपाण्डित्यप्रदर्शनस्य च सर्वथा अभावः दृश्यते—तत्र वैदर्भीरीतेः स्फुटा प्रतिष्ठा भवति। रीतिनामकरणस्यापि आधारः प्रादेशिकपरम्परा एव—विदर्भ, गौड, पाञ्चाल, लाटादिदेशेषु निवसतां कवीनां येषु येषु रीतयः विशेषतया प्रियाः आसन्, तासामेव नाम्ना ताः रीतयः प्रसिद्धिं गताः।

अतः निःसंशयं प्रतिपादयितुं शक्यते यत् स्वप्नदूतेऽपि पण्डितप्रबोधकुमारमिश्रेण वैदभीरीतेः प्रयोगः कृतः। काव्येऽस्मिन्नपि माधुर्यगुणस्य व्यञ्जकयुक्तानि पदानि दृश्यन्ते। अतः अत्र वैदर्भीरीतेः प्रयोगोऽभवत्। यथा-

पत्रं प्रेमप्रसर मधुरं दुर्लभं जातमद्य व्यक्तोद्राग ललितवचनं श्रोत्रपेयं न चाऽत्र।

---

[११] सा.द०. ९.१,२

[१२] सा.द०. ९.२, ३

का वाऽवस्था किमिति वसति स्वस्ति शारीरिकी या, का वा चिन्ता कियति विषये साधुभाषिप्रियस्य ॥[१३]

अत्र पत्रं-प्रेम प्रसर मधुरेत्यादीनां माधूर्यव्यञ्जकवर्णानां प्रयोगेन वैदर्भी रीतिः। एवञ्चात्रापि-

स्नेहार्द्रे! तां मधुररजनीं प्रेमसंभाषणान्तां यस्यामासीत् प्रथम-मिलनं दम्पतीजीवनस्य।

स्मारं स्मारं तदतिललितं श्याममूर्तिर्मदीयः नेत्रप्लावैः प्रणयभरितैः सम्भवेत् चित्रकल्पः ॥[१४]

उपसंहारः

अतः निष्कर्षतः वक्तुं शक्यते यत् स्वप्नदूते प्रबोधकुमारमिश्रेण माधुर्यगुणस्यातीव सुकुमारः, हृदयग्राही च प्रयोगः कृतः। सरलपदविन्यासः, कोमलभावाभिव्यक्तिः, रससंपन्ना भाषा च काव्यस्यास्य माधुर्यमुत्कर्षेण प्रकाशयन्ति। अतः स्वप्नदूतं माधुर्यगुणप्रधानं सरसकाव्यमिति सिद्धम्।

एवं समग्रे स्वप्नदूते कविः वैदर्भीरीतेः प्रयोगे पूर्णतया सफलः अभवत् इति निःसंशयं वक्तुं शक्यते। तस्य काव्ये सर्वत्र माधुर्यगुणसमन्विता, ललिता, स्वाभाविकी च पदरचना दृश्यते, या सहृदयमनांसि शीघ्रमेव आकर्ष्य रसास्वादे निमज्जयति। अतः अस्य सम्पूर्णकाव्यस्य रचनाशैली वैदर्भीरीतिप्रधानैव इति सिद्धम्।

परामृष्टग्रन्थावली

- पण्डितप्रबोधकुमारमिश्रः — *स्वप्नदूतम्*, कटक: शकुन्तलामिश्रः (प्रकाशिका)।
- पण्डितप्रबोधकुमारमिश्रः — *स्वप्नदूतम्* (ओडिआ-पद्यानुवाद:प्रमोदकुमारत्रिपाठी)। कटक: अल्ट्रा इम्प्रेसन्।
- विश्वनाथकविराजः — *साहित्यदर्पणः*, सम्पा. लोकमणिदाहालः, त्रिलोकीनाथद्विवेदी च, वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
- विश्वनाथकविराजः — *साहित्यदर्पणः* (ओडिआ-व्याख्यासहितः), सम्पा. सूर्यमणिरथः, पुरी: सांविदी प्रकाशनम्।
- सोमनाथदासः — *संस्कृतवाङ्मयान्तः प्रवेशिका*, पुरी: SARI।
- भरतमुनि — *नाट्यशास्त्रम्*, सम्पादिका-व्याख्याकर्त्री सुधा रस्तोगी, वाराणसी: चौखम्बा कृष्णदास अकादमी।

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

महर्षि अरविंद का शिक्षा दर्शन तथा उसकी वर्तमान युग में उपादेयता

सुनिता
शोधकर्त्री
श्री बालाजी टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, जयपुर

श्रीमती बबीता जाँगिंड़
सहायक आचार्या
श्री बालाजी टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, जयपुर

1. सारांश :

प्रस्तुत शोध पत्र में 21 वीं सदी के महान योगी, दार्शनिक तथा प्रखर राष्ट्रवादी महर्षि अरविंद के शिक्षा दर्शन का पर आधारित है। वर्तमान समय में हमारी शिक्षा व्यवस्था अत्यधिक यांत्रिक, रोजगार-उन्मुख और सूचना-प्रधान हो गई है, जिसके परिणामस्वरूप युवा पीढ़ी में नैतिक मूल्यों का पतन, मानसिक तनाव और सांस्कृतिक अलगाव देखा जा रहा है। इस पृष्ठभूमि में महर्षि अरविंद का 'समग्र शिक्षा' का सिद्धांत एक सशक्त विकल्प प्रस्तुत करता है।

महर्षि अरविंद के विचार भारत की वर्तमान 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020)' के मूल उद्देश्यों, जैसे मातृभाषा में शिक्षा, चरित्र निर्माण और होलिस्टिक डेवलपमेंट (समग्र विकास) के साथ पूरी तरह मेल खाते हैं। यह शोध पत्र यह प्रतिपादित करता है कि आधुनिक तकनीकी युग में मानवीय संवेदनाओं, देशभक्ति और वैश्विक नागरिकता के विकास के लिए महर्षि अरविंद का शिक्षा दर्शन आज भी अत्यंत प्रासंगिक और अनुकरणीय है।

2. तकनीकी शब्दावली : महर्षि अरविंद, शिक्षा दर्शन, वर्तमान युग, उपादेयता, समग्र शिक्षा, अंतःकरण, सर्वांगीण विकास।

3. प्रस्तावना :

महर्षि अरविंद 21 वीं सदी के एक महान योगी, दार्शनिक, कवि और राष्ट्रवादी नेता थे। उन्होंने जीवन को समग्रता में देखा और इसी समग्रता को उन्होंने शिक्षा में भी उतारा। उनके अनुसार, शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के भीतर छिपी हुई दैवीय शक्ति और पूर्णता को प्रकट करना है। आज की यांत्रिक और केवल डिग्री-उन्मुख शिक्षा व्यवस्था में जहाँ नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है, वहीं महर्षि अरविंद का शिक्षा दर्शन एक नई दिशा दिखाता है।

4. अरविंद के शिक्षा दर्शन का मूल आधारः 'समग्र शिक्षा' :

अरविंद घोष ने 'अंतःकरण' की शुद्धि और विकास पर बल दिया। उन्होंने ''समग्र शिक्षा'' की अवधारणा दी, जिसके पांच मुख्य आयाम हैं -

शारीरिक शिक्षा :- महर्षि अरविंद के अनुसार शरीर को सुदृढ़, स्वस्थ और फुर्तीला बनाना ताकि वह आत्मा का एक योग्य माध्यम बन सके।

प्राणिक शिक्षा :- महर्षि अरविंद के अनुसार हमारी इच्छाओं, संवेगों और इंद्रियों को अनुशासित और सही दिशा में मोड़ना ही प्राणिक शिक्षा है।

मानसिक शिक्षा :- महर्षि अरविंद का मानना था कि ध्यान, एकाग्रता और विचार प्रक्रिया को शुद्ध करना ताकि

बुद्धि तीक्ष्ण हो सके।

मनोवैज्ञानिक शिक्षा :- महर्षि अरविंद का मानना था अपने सच्चे 'स्व' या अंतरात्मा की आवाज को पहचानने हेतु मनोवैज्ञानिक षिक्षा का होना जरूरी होता है।

आध्यात्मिक शिक्षा :- महर्षि अरविंद के अनुसार स्वयं को समष्टि (ब्रह्मांड) और परमात्मा के साथ एकाकार करके महसूस करना ही आध्यात्मिक शिक्षा है।

5. महर्षि अरविंद के शिक्षा दर्शन की वर्तमान युग में प्रासंगिकता :

वर्तमान का युग सूचना क्रांति और कृत्रिम बुद्धिमत्ता का युग है, जहाँ जानकारियों की कमी नहीं है, लेकिन मानवीय मूल्यों और मानसिक शांति का अभाव है। इस परिप्रेक्ष्य में अरविंद का दर्शन निम्नलिखित कारणों से अत्यंत प्रासंगिक है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) का पूरक :- भारत की नई शिक्षा नीति (2020) में 'होलिस्टिक डेवलपमेंट' (समन्वित विकास) और मातृभाषा में शिक्षा पर जो जोर दिया गया है, जिसकी जड़ें महर्षि अरविंद के सिद्धांतों में मिलती हैं।

मानसिक तनाव और अवसाद का समाधान :- आज के युवा तीव्र प्रतिस्पर्धा के कारण तनाव और अवसाद से जूझ रहे हैं। ऐसे में महर्षि अरविंद की मानसिक और मनोवैज्ञानिक शिक्षा (ध्यान और एकाग्रता) छात्रों को आंतरिक शांति और मानसिक दृढ़ता प्रदान करती है।

देशभक्ति और वैश्विक नागरिकता का समन्वय :- महर्षि अरविंद का मानना था कि सच्ची शिक्षा व्यक्ति में अपने देश के प्रति अगाध प्रेम (राष्ट्रवाद) तो जगाती ही है, साथ ही उसे 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना से ओतप्रोत कर वैश्विक नागरिक भी बनाती है।

नैतिक और चारित्रिक पतन पर रोक :-मात्र बौद्धिक विकास (किताबी ज्ञान) मनुष्य को चतुर तो बना सकता है, पर संवेदनशील नहीं। अरविंद की शिक्षा प्रणाली हृदय और चरित्र के निर्माण पर बल देती है, जिससे समाज में अपराध और भ्रष्टाचार को कम किया जा सकता है।

निष्कर्ष :

महर्षि अरविंद का शिक्षा दर्शन केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि भविष्य का मार्गदर्शक है। आज के तकनीकी युग में यदि हमें ऐसी पीढ़ी तैयार करनी है जो बुद्धि से कुशाग्र हो, शरीर से स्वस्थ हो और आत्मा से परोपकारी व देशभक्त हो, तो हमें अरविंद के 'समग्र शिक्षा' के मॉडल को अपनाना ही होगा। विज्ञान और आध्यात्मिकता का यह अनूठा संगम ही आधुनिक विश्व को विनाश से बचाकर कल्याण की ओर ले जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

- डॉ. दीक्षित राघर्वेन्द्र ''महर्षि अरविंद का शिक्षा दर्शन'' International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR), Vol 7, feb 2025
- लाल एवं तोमर ''विश्व के श्रेष्ठ शैक्षिक चिन्तक'' आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, संस्करण 2008, पृष्ठ संख्या 404-405.
- पूनम मदान, विजय गुप्ता, रोमा श्रीवास्तव ''शिक्षा के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य'' अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, संस्करण 2015-16, पृष्ठ संख्या 208-209.
- डॉ. रामशकल पाण्डे, डॉ. बीना कपूर ''शिक्षा के दार्शनिक आधार'' अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, संस्करण 2007-08, पृष्ठ संख्या 180-181
- www.google.com

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

हिंदी कहानी आलोचना में प्रतिमान और उसकी समस्याएँ

निकिता आनंद
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

साहित्य और समाज में गहरा संबंध है, क्योंकि हर रोज हमारे समाज में कुछ ऐसी घटनाएँ घटती हैं जो किस्से या कहानी का रूप लेकर लोगों की जुबान पर चढ़ जाती है और बाद में अनेक विधाओं के रूप में साहित्य में परिलक्षित होती हैं। परन्तु जब साहित्य के मान और मूल्यों की चर्चा होती है, वहाँ कहानियों के हवाले नहीं मिलते। हवाले मिलते हैं तो प्रायः कविताओं के और कभी-कभी उपन्यासों के। जबकि 'कहानी' साहित्य का एक रूप मात्र नहीं बल्कि जीवन को समझने का एक बहुत ही सरल और सहज माध्यम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- "जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है उसी प्रकार कथा कहानी कहना और सुनना भी। कहानियों का चलन सभ्य असभ्य सभी जातियों में चला आ रहा है।"[1]

रिचर्ड बर्टन का प्रसिद्ध कथन है कि 'कहानी विश्व की सर्वाधिक प्राचीन वस्तु है, इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उसका आरंभ उसी समय हुआ होगा, जब मनुष्य ने घुटनों के बल चलना सीखा होगा।'[2]

हिंदी आलोचना के सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप के प्रवर्तक आचार्य माने जाने वाले रामचन्द्र शुक्ल मूलतः कविता प्रेमी थे। उस दौर की कहानियों के बारे में उनकी राय है कि "ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए और वे इस काल के भीतर ही प्रायः सब मासिक पत्रिकाओं में बीच-बीच में निकलती रही।" आश्चर्य होता है इस अगंभीरता युक्त वक्तव्य को पढ़कर, खासकर इसलिए भी कि यह एक ऐसे आचार्य का वक्तव्य है जिनकी खुद की लिखी कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय'[3] को हिंदी की पहली कहानी की खोज में निकले कुछ अध्येताओं और स्वयं शुक्ल जी ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। आचार्य शुक्ल हिंदी कहानी के विकास में हिंदी कवियों के योग की बात शुरू में ही कह चुके थे- "छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ और उसमें वर्तमान कवियों का पूरा योग रहा।"[4] यह धारणा दूर तक किसी न किसी रूप में कहानी आलोचना का ऐसा पीछा करती रही कि प्रायः काव्यालोचना के उपकरणों का ही उपयोग कहानी आलोचना में भी होता रहा।

रामचन्द्र शुक्ल से लेकर नामवर सिंह तथा उनके बाद के आलोचकों तक परमानंद श्रीवास्तव जैसे आलोचकों को कविता में छंद की तर्ज पर कहानी के छंद की बात करते देखे गए।

अगर हम हिंदी कहानी के पहले हिंदी साहित्य को स्पष्ट करने के लिए आलोचना प्रणाली की बात करें तो यह 'द्विवेदी युग' के साथ ही विधिवत प्रारंभ हुआ और उन्हीं मान्यताओं के आधार पर 'रामचन्द्र शुक्ल' का प्रवेश हुआ होता हैं परंतु इससे पूर्व के आलोचकों का दृष्टिकोण स्पष्ट होता दिखाई नहीं पड़ता है। उन्होंने बस अपनी-अपनी मान्यताओं के हिसाब से विचारों को अभिव्यक्त कर आलोचना का नाम दे दिया परंतु शुक्ल जी के आगमन के साथ ही आलोचना के क्षेत्र में परिवर्तन दिखाई पड़ने लगे। इन्होंने पारंपरिक मान्यताओं एवं शास्त्रीय पद्धति के स्थान पर मनोवैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक और निगमन-पद्धति को आलोचना का आधार बनाकर हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक कार्य प्रारंभ किए। इन्होंने देशी पारंपरिक

सिद्धांतों को तोड़ते हुए, विदेशी साहित्य का भी अध्ययन कर उनके विभिन्न मानदंडों को भी हिन्दी साहित्य के विकास में सहायक रूप में प्रस्तुत किया। परंतु उन्होंने हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक विकास में काव्य को जितनी गंभीरता से लिया उतनी रूचि उन्होंने कहानी में नहीं दिखाया। शुक्लजी ने हिन्दी कहानी के क्षेत्र में किसी मौलिक तथा स्थायी आलोचनात्मक मानदंड की तो स्थापना नहीं कि परंतु हमें यह भी याद रखना चाहिए कि उन्होंने हिंदी साहित्य में आलोचनात्मक मूल्यों की शुरूआत तो की तथा उसे आधार देने का काम बखूबी किया। वैसे तो हिन्दी साहित्य में जितने तरह के वाद है- छायावाद, प्रयोगवाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद आदि सभी पाश्चात्य विचारों से प्रभावित है। जब हम कहानियों की ओर भेद-उपभेद निरूपित कर सकते हैं।

जब कहानियों की ओर ध्यान देते हैं तो इसका स्रोत भी द्विवेदी युग से ही जुड़ा है। वैसे तो हिंदी साहित्य से पहले ही भारतीय परंपरा में आख्यानों, पुरू- संवाद आदि के रूप में कहानियों का आधार उपहार स्वरूप मिला हुआ था। परंतु द्विवेदी युग से इसके विकास का रूप प्रारंभ होता हे। इस समय की कहानियाँ उपन्यासों के आधार पर ही या तो शास्त्रीय कथाओं या जन जीवन के अभिव्यक्त करने वाले थे। इस काल तक उपन्यासों की भाँति ही कहानियों में भी पाश्चात्य प्रभाव अपने कथात्मक नाटकीय और विश्लेषणात्मक रूप में शामिल हो चुके थे। बांग्ला साहित्य में भी अंग्रेजी साहित्य की ही झलक थी। परंतु यह हिंदी कहानी के विकास में सहायक सिद्ध जरूर हुई।

इसी क्रम में इंदु (1909) और सरस्वती (1900) नामक पत्रिकाओं में अनूदित और मौलिक कहानियों का प्रकाशन आरंभ हो गया था। उससे कहानी विधा के विकास में विशेष सहायता मिली। इसी क्रम में इंदु (1909) और सरस्वती (1900) नामक पत्रिकाओं में अनूदित और मौलिक कहानियों का प्रकाशन आरंभ हो गया था। उससे कहानी विधा के विकास में विशेष सहायता मिली।

'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' जी स्वयं उपन्यास और कहानी दोनों को पश्चिम की देन स्वीकारकरते हुए कहते हैं कि- "उपन्यासों और छोटी कहानियों का हमारे वर्तमान हिंदी साहित्य में इतनी अनेकरूपता के साथ विकास हुआ है कि उनके संबंध में हम अपने कुछ स्वतंत्र सिद्धांत स्थिर कर सकते हैं, अपने ढंग पर उनके भेद-उपभेद निरूपित कर सकते हैं।"[5]

इसी कारणवश हिंदी कहानी साहित्य की सबसे सरल और लोकप्रिय विधा होने के बाद भी अपने प्रारम्भिक दौर में आलोचनात्मक मानदंड के अभाव में साहित्य जगत में उतनी विकसित होती दिखाई नहीं पड़ती है। राजेन्द्र यादव का मानना है। कि- 'मेरा विश्वास है कि किसी भी विधा की समझ का विकास और विस्तार सैद्धांतिक या अकादमिक बहसों से उतना नहीं होता जितना उस विधा में काम करने वालों की रचनात्मकता के विश्लेषण से होता है। कविता में यह परंपरा पुरानी है, वहाँ कवियों या उनकी प्रमुख रचनाओं को हर नई पीढ़ी ने अपने ढंग से पुनर्व्याख्यायित किया है और इस प्रक्रिया में कविता की समझ के नए मानदंड उपलब्ध किए। कहानी- उपन्यास में चूंकि यह बहुत कम हुआ है, इसलिए कथा-समीक्षा हमारे यहाँ उतनी विकसित नहीं है। जाहिर है यह काम कथाकारों को ही करना होगा। कवि तो उसमें अपने प्रतिमान स्मगल करेंगे, शुद्ध समीक्षक उसे अमूर्तनों में भटका देंगे।

हिंदी-कहानी पर आज तक इतना लिखा जा रहा है कि इसने इसके स्वरूप को समझने में बाधाएँ अधिक डाली है और सहायता कम की है। यह शायद 'अध्यापकीय' भाषा में मानदण्डों को आरोपित करने का परिणाम है। हर कृति के अपने-अपने कला नियम होते हैं और इनके आधार पर ही इन्हें जाना-पहचाना जाता है। परंतु हिंदी कहानी की सबसे बड़ी व्यथा यह है कि हिंदी कहानी में इसके आलोचनात्मक प्रतिमानों की ओर ध्यान दिया ही नहीं गया। अगर मानदण्ड बनाए भी गए तो कविताओं के मानदंड ही कहानियों पर थोप दिए गए।

इसी दिशा में 'कमलेश्वर' जी का कथ्य भी विचारनीय है। उन्होंने लिखा है कि "आलोचना के मान पर शास्त्रीय मतमतांतरों में न फंस कर हम ऐसे मूल्यों पर दृष्टिपात कर सकते हैं जो एक ओर पाठक के साहित्यबोध में सहायक हों और दूसरी ओर रचनाकार को स्वस्थ दिशा दे सकें... आप ऐसे आधारों की ओर इंगित कर सकते हैं जो आज की समीक्षा प्रधान और पूर्वग्रह युक्त आलोचनात्मक मूल्यों के स्थान पर स्वस्थ और विकासशील मानों का निर्धारण कर सकें, जो बीज रूप

में आज भी वर्तमान हैं- आलोचना की प्रचलित परिपाटी से अलग, व्यापक मानवीय मूल्यों के संदर्भ में ऐसे मूल्यों का आधार खोजा जा सकता है, जो आलोचक की सत्ता, पाठक की ग्रहणशीलता और लेखक के दिशाबोध में सहायक हो सकें।"[6] कमलेश्वर जी ने अपने इस कथ्य के माध्यम से व्यवहारिक समीक्षा के स्तर पर फैली अराजकता को इंगित किया है। इस प्रकार की अराजकता सैद्धांतिक स्तर पर उन्हें बिल्कुल भी पसंद नहीं। क्योंकि सैद्धांतिक स्तर के मान ही किसी भी साहित्य का स्वस्थ और विकासशील मूल्य निर्धारित करते हैं जो व्यवहारिक समीक्षा स्तर की आलोचना को भी एक नई दृष्टि प्रदान करता है।

प्रेमचंद से लेकर आज तक कहानीकार-आलोचक और कहानी-आलोचक इसके बदलते स्वरूप को आँकने की कोशिश करते रहे हैं। सबसे पहले प्रेमचंद ने 'कहानी-कला' पर अपने तीन लेखों के माध्यम से कहानी को लेकर अपने दृष्टिकोण स्पष्ट किए। इन लेखों से उस समय की हिन्दी कहानी की स्थिति एवं उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं।

इनके सिवाय कहानीकार-आलोचकों ने भी कहानी विधा पर अपने-अपने विचार प्रकट किए। इनकी एक लंबी फहरिस्त है जिसमें यशपाल, जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, अश्क, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, श्रीकान्त वर्मा, शिवप्रसाद सिंह, गंगा प्रसाद विमल, निर्मल वर्मा, प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी आदि शामिल हैं। आलोचकों में नामवर सिंह, इन्द्रनाथ मदान, देवीशंकर अवस्थी, परमानंद श्रीवास्तव, सुरेन्द्र चौधरी, धनंजय वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल, मधुरेश, जगदीश पांडेय, नित्यानंद तिवारी, बच्चन सिंह आदि हैं। अज्ञेय भी इसी फहरिस्त में वात्स्यायन के उपनाम से सम्मिलित हुए।

परंतु जब हम 'हिंदी कहानी आलोचना में प्रतिमानों के विकास' को समझना चाहते हैं तो हमारे सामने ऐसी ही अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। जो कहानी के विभिन्न स्वरूपों पर बात करते हुए तो मिलती है परंतु कहानी के विकास में आलोचनात्मक प्रतिमानों का निर्धारण करने से चूक जाती है। जिस प्रकार जीवन की गति में सहायक होने के लिए जीवन के कई प्रतिमान समय के हिसाब से बदलते रहते हैं। उसी प्रकार कहानी के प्रतिमानों में भी बदलाव आते रहते हैं जो कहानी कला की गति को दर्शाते हैं। यह प्रतिमान अगर आलोचनात्मक रूप में सामने आते हैं तो उस विधा के विकास में अधिक सहायक होते हैं। उपरोक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद की लखनऊ में हुए, 'प्रगतिशील लेखक संघ' के 'पहले अधिवेशन 1936' में सभापति आसन से दिया गया भाषण बड़ी ही सटीक सी जान पड़ती है- "साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"[7]

संदर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण-2015, पृष्ठ 344
2. कहानी की आधार शिलाएँ, नवयुग ग्रंथगार, लखनऊ, संस्करण-1958, पृष्ठ 10
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण-2015, पृष्ठ 346
4. वही, पृष्ठ 371
5. वही, पृष्ठ 369
6. आलोचना के मान - शिवदान सिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 25
7. साहित्य का उद्देश्य - प्रेमचंद, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2017, पृष्ठ 2

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

बी.पी.एल. परिवारों में अभिभावक सहभागिता का विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं पर प्रभाव : एक अध्ययन

डॉ. निरूपमा जैन
शोध निदेशक, सहायक आचार्य, शिक्षा संकाय, आर. एम. टी. टी. कॉलेज, उदयपुर
महेश गंड़ेर
शोधार्थी, शिक्षा विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

सार

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थियों में अभिभावक सहभागिता के स्तर का विश्लेषण करना तथा विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं पर उसके प्रभाव का अध्ययन करना था। अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया गया। अध्ययन का न्यादर्श 300 विद्यार्थियों (150 छात्र एवं 150 छात्राएँ) का था, जिनका चयन सरल यादृच्छिक न्यादर्शन विधि द्वारा किया गया। तथ्य संकलन के लिए डॉ. विजयलक्ष्मी चौहान एवं गुंजन गनौत्रा अरोड़ा द्वारा निर्मित अभिभावक सहभागिता मापनी तथा डॉ. वी. पी. शर्मा एवं डॉ. (कु.) अनुराधा गुप्ता द्वारा निर्मित शैक्षिक आकांक्षा मापनी का प्रयोग किया गया। प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण आवृत्ति, प्रतिशत, माध्य, मानक विचलन तथा पियर्सन के सहसंबंध गुणांक की सहायता से किया गया। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि अधिकांश विद्यार्थियों को अभिभावकों से मध्यम स्तर की शैक्षिक सहभागिता प्राप्त हो रही थी, जबकि विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाएँ अपेक्षाकृत उच्च स्तर की थीं। दोनों चरों के मध्य धनात्मक एवं सांख्यिकीय रूप से सार्थक संबंध प्राप्त हुआ। परिणामों से यह स्पष्ट हुआ कि जिन विद्यार्थियों को अभिभावकों का अधिक सहयोग एवं प्रोत्साहन प्राप्त होता है, उनमें उच्च शैक्षिक लक्ष्य निर्धारित करने की प्रवृत्ति भी अधिक विकसित होती है। अध्ययन के निष्कर्ष शिक्षा नीति-निर्माताओं, विद्यालयों एवं अभिभावकों के लिए उपयोगी आधार प्रस्तुत करते हैं।

मुख्य शब्द : अभिभावक सहभागिता, शैक्षिक आकांक्षाएँ, बी.पी.एल. परिवार, विद्यार्थी, पारिवारिक सहयोग।

प्रस्तावना

किसी भी विद्यार्थी के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया परिवार से प्रारम्भ होती है। बालक के जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जो अनुभव, संस्कार एवं प्रेरणाएँ उसे परिवार से प्राप्त होती हैं, वही उसके शैक्षिक दृष्टिकोण तथा भविष्य के लक्ष्यों को आकार देती हैं। विद्यालय ज्ञान प्रदान करता है, परन्तु उस ज्ञान को ग्रहण करने की प्रेरणा, आत्मविश्वास तथा निरंतरता का विकास प्रायः परिवार के वातावरण से होता है। इसलिए विद्यार्थी के शैक्षिक विकास में अभिभावकों की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।

अभिभावक सहभागिता का तात्पर्य केवल विद्यालयी बैठकों में उपस्थित होने तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें बच्चों के अध्ययन में रुचि लेना, गृहकार्य की जानकारी रखना, शैक्षिक प्रगति पर चर्चा करना, भविष्य की योजनाओं के लिए प्रेरित

करना तथा सीखने हेतु सकारात्मक वातावरण उपलब्ध कराना भी सम्मिलित है। अनेक अध्ययनों में यह पाया गया है कि जिन परिवारों में अभिभावक बच्चों की शिक्षा के प्रति सक्रिय रहते हैं, वहाँ विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धि एवं आत्मविश्वास अपेक्षाकृत अधिक होता है।

बी.पी.एल. परिवारों की परिस्थितियाँ सामान्य परिवारों से भिन्न होती हैं। सीमित आय, अस्थिर रोजगार, कम शैक्षिक पृष्ठभूमि तथा सामाजिक चुनौतियों के कारण अनेक अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा में पर्याप्त समय नहीं दे पाते। इसके बावजूद अनेक परिवार अपनी आर्थिक कठिनाइयों के बीच भी बच्चों की शिक्षा को प्राथमिकता देते हैं तथा उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में यह जानना आवश्यक है कि अभिभावकों की सहभागिता विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं को किस सीमा तक प्रभावित करती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 में भी विद्यालय एवं परिवार के मध्य प्रभावी सहभागिता को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का महत्वपूर्ण आधार माना गया है। नीति इस बात पर बल देती है कि विद्यार्थियों के समग्र विकास के लिए अभिभावकों की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। इसी संदर्भ में प्रस्तुत अध्ययन बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं पर अभिभावक सहभागिता के प्रभाव का विश्लेषण करने का प्रयास करता है।

अध्ययन का औचित्य

आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों के विद्यार्थियों के समक्ष शैक्षिक अवसरों की उपलब्धता आज भी एक महत्वपूर्ण चुनौती है। ऐसी परिस्थितियों में केवल आर्थिक सहायता ही पर्याप्त नहीं होती, बल्कि परिवार का नैतिक सहयोग, प्रोत्साहन तथा शैक्षिक मार्गदर्शन भी विद्यार्थियों की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान देता है। यदि अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा में रुचि लेते हैं, उनकी समस्याओं को समझते हैं तथा उन्हें निरंतर प्रेरित करते हैं, तो विद्यार्थियों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा एवं आत्मविश्वास दोनों विकसित होते हैं।

यद्यपि अभिभावक सहभागिता पर अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं, फिर भी बी.पी.एल. परिवारों के संदर्भ में इसके प्रभाव का विश्लेषण अपेक्षाकृत सीमित है। विशेष रूप से यह जानना आवश्यक है कि आर्थिक रूप से वंचित परिवारों में अभिभावकीय सहयोग विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है। प्रस्तुत अध्ययन इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु किया गया है।

इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष शिक्षकों, विद्यालय प्रशासकों, अभिभावकों एवं शिक्षा नीति-निर्माताओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसके आधार पर ऐसे कार्यक्रम विकसित किए जा सकते हैं, जिनसे अभिभावकों की सहभागिता बढ़ाई जा सके तथा विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं को सकारात्मक दिशा प्रदान की जा सके।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थियों में अभिभावक सहभागिता के स्तर का अध्ययन करना।
2. बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं के स्तर का विश्लेषण करना।
3. अभिभावक सहभागिता एवं विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं के मध्य संबंध का परीक्षण करना।

परिकल्पना

शून्य परिकल्पना (H0) : ''बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थियों की अभिभावक सहभागिता एवं शैक्षिक आकांक्षाओं के मध्य कोई सांख्यिकीय रूप से सार्थक संबंध नहीं होता है।''

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण शोध विधि का उपयोग किया गया। यह विधि वर्तमान परिस्थितियों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करने तथा विभिन्न चरों के मध्य संबंधों का परीक्षण करने के लिए उपयुक्त मानी जाती है। अध्ययन के अंतर्गत विद्यार्थियों से मानकीकृत मापनियों के माध्यम से तथ्य संकलित किए गए तथा सांख्यिकीय विश्लेषण द्वारा निष्कर्ष प्राप्त किए गए।

अध्ययन की जनसंख्या

अध्ययन की जनसंख्या में राजस्थान राज्य के बीकानेर जिले के राजकीय एवं मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थी सम्मिलित किए गए।

न्यादर्श एवं न्यादर्श चयन

अध्ययन हेतु कुल 300 विद्यार्थियों का चयन किया गया, जिनमें 150 छात्र एवं 150 छात्राएँ सम्मिलित थीं। न्यादर्श का चयन सरल यादृच्छिक न्यादर्शन विधि द्वारा किया गया, जिससे प्रत्येक विद्यार्थी को चयनित होने की समान संभावना प्राप्त हो सके।

शोध उपकरण

अध्ययन में तथ्य संकलन हेतु निम्नलिखित मानकीकृत उपकरणों का उपयोग किया गया—

(क) अभिभावक सहभागिता मापनी—डॉ. विजयलक्ष्मी चौहान एवं गुंजन गनौत्रा अरोड़ा द्वारा निर्मित।

(ख) शैक्षिक आकांक्षा मापनी—डॉ. वी. पी. शर्मा एवं डॉ. (कु.) अनुराधा गुप्ता द्वारा निर्मित।

दोनों मापनियों का चयन अध्ययन के उद्देश्यों एवं परिकल्पना के अनुरूप किया गया। इन उपकरणों के माध्यम से प्राप्त आँकड़ों का उपयोग सांख्यिकीय विश्लेषण के लिए किया गया।

सांख्यिकीय तकनीक

संकलित आँकड़ों का विश्लेषण अध्ययन के उद्देश्यों के अनुसार किया गया। अभिभावक सहभागिता एवं शैक्षिक आकांक्षाओं के स्तर का निर्धारण करने हेतु आवृत्ति एवं प्रतिशत का उपयोग किया गया। दोनों चरों के मध्य संबंध का परीक्षण पियर्सन के सहसंबंध गुणांक द्वारा किया गया। परिकल्पना का परीक्षण 0.05 तथा 0.01 सार्थकता स्तर पर किया गया।

परिणाम एवं विवेचन

तालिका 1

बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थियों में अभिभावक सहभागिता का स्तर

अभिभावक सहभागिता का स्तर	आवृत्ति	प्रतिशत
अत्यंत उच्च	42	14.00
उच्च	86	28.67
औसत	112	37.33
निम्न	44	14.67
अत्यंत निम्न	16	5.33
कुल	**300**	**100.00**

व्याख्या

तालिका के अनुसार 300 विद्यार्थियों में से सर्वाधिक 37.33 प्रतिशत विद्यार्थियों ने अभिभावक सहभागिता का स्तर औसत अनुभव किया। 28.67 प्रतिशत विद्यार्थियों के अनुसार उनके अभिभावकों की सहभागिता उच्च स्तर की थी, जबकि 14.00 प्रतिशत विद्यार्थियों ने अत्यंत उच्च सहभागिता का अनुभव किया। दूसरी ओर 20.00 प्रतिशत विद्यार्थियों ने निम्न अथवा अत्यंत निम्न स्तर की अभिभावक सहभागिता की सूचना दी।

इन परिणामों से स्पष्ट होता है कि अधिकांश अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा में किसी न किसी रूप में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं, किन्तु सभी परिवारों में सहभागिता का स्तर समान नहीं है। आर्थिक एवं सामाजिक सीमाओं के बावजूद अनेक अभिभावक अपने बच्चों की शैक्षिक प्रगति के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखते हैं तथा उपलब्ध संसाधनों के अनुरूप सहयोग प्रदान करने का प्रयास करते हैं।

तालिका 2

बी.पी.एल. परिवारों के विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं का स्तर (N = 300)

शैक्षिक आकांक्षा का स्तर	आवृत्ति	प्रतिशत
	आवृत्ति	प्रतिशत
अत्यधिक उच्च	34	11.33
उच्च	62	20.67
औसत से अधिक	96	32.00
औसत	58	19.33
औसत से कम	30	10.00
निम्न	14	4.67
अत्यधिक निम्न	6	2.00
कुल	**300**	**100.00**

व्याख्या

तालिका से ज्ञात होता है कि अधिकांश विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाएँ सकारात्मक दिशा में विकसित थीं। सर्वाधिक 32.00 प्रतिशत विद्यार्थी औसत से अधिक स्तर की आकांक्षा श्रेणी में पाए गए। इसके अतिरिक्त 20.67 प्रतिशत विद्यार्थियों की आकांक्षाएँ उच्च तथा 11.33 प्रतिशत विद्यार्थियों की आकांक्षाएँ अत्यधिक उच्च स्तर की थीं। केवल 16.67 प्रतिशत विद्यार्थी औसत से कम, निम्न अथवा अत्यधिक निम्न श्रेणियों में सम्मिलित थे।

यह परिणाम इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आर्थिक रूप से वंचित परिवारों के अधिकांश विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने, प्रतियोगी परीक्षाओं में सफलता अर्जित करने तथा अपने भविष्य को बेहतर बनाने के प्रति आशान्वित हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आर्थिक कठिनाइयाँ उनकी शैक्षिक आकांक्षाओं को पूर्णतः सीमित नहीं कर पातीं।

तालिका 3

अभिभावक सहभागिता एवं शैक्षिक आकांक्षाओं के मध्य सहसंबंध (N = 300)

अध्ययनाधीन चर	N	पियर्सन का सहसंबंध गुणांक (r)	p-मूल्य	निष्कर्ष
अभिभावक सहभागिता एवं शैक्षिक आकांक्षाएँ	300	0.58	$p < 0.001$	सार्थक संबंध

व्याख्या

अभिभावक सहभागिता एवं विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं के मध्य प्राप्त पियर्सन का सहसंबंध गुणांक ($r = 0.58$) धनात्मक दिशा का है। प्राप्त ज-मूल्य (12.17) तथा $p < 0.001$ यह प्रमाणित करते हैं कि दोनों चरों के मध्य संबंध 0.01 स्तर पर सांख्यिकीय रूप से अत्यंत सार्थक है। अतः शून्य परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है तथा यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि बी.पी.एल. परिवारों में अभिभावक सहभागिता एवं विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं के मध्य धनात्मक एवं सांख्यिकीय रूप से सार्थक संबंध विद्यमान है।

शैक्षिक निहितार्थ

अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर निम्नलिखित शैक्षिक निहितार्थ सामने आते हैं–

1. विद्यालयों को अभिभावकों की सक्रिय सहभागिता सुनिश्चित करने हेतु नियमित अभिभावक-शिक्षक संवाद कार्यक्रम आयोजित करने चाहिए।

2. बी.पी.एल. परिवारों के अभिभावकों के लिए शैक्षिक जागरूकता एवं परामर्श कार्यक्रम संचालित किए जाने चाहिए, जिससे वे बच्चों की शिक्षा में अधिक प्रभावी भूमिका निभा सकें।

3. विद्यार्थियों में उच्च शैक्षिक आकांक्षाओं के विकास हेतु विद्यालयों में कैरियर मार्गदर्शन, प्रेरक व्याख्यान एवं उच्च शिक्षा संबंधी जानकारी उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

4. शिक्षा विभाग द्वारा ऐसी योजनाओं का विस्तार किया जाना चाहिए, जिनसे आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों के विद्यार्थियों को शैक्षिक एवं परामर्श संबंधी सहयोग एक ही मंच पर उपलब्ध हो सके।

5. विद्यालयों को अभिभावक सहभागिता को केवल औपचारिक उपस्थिति तक सीमित न रखकर, उसे विद्यार्थियों के समग्र शैक्षिक विकास से जोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि बी.पी.एल. परिवारों में अभिभावक सहभागिता विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं को सकारात्मक रूप से प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। अध्ययन में दोनों चरों के मध्य प्राप्त धनात्मक एवं सांख्यिकीय रूप से सार्थक संबंध इस तथ्य की पुष्टि करता है कि परिवार से मिलने वाला प्रोत्साहन एवं सहयोग विद्यार्थियों को उच्च शैक्षिक लक्ष्य निर्धारित करने के लिए प्रेरित करता है। यह भी स्पष्ट हुआ कि आर्थिक अभाव के बावजूद यदि अभिभावक बच्चों की शिक्षा में रुचि लेते हैं, उनकी शैक्षिक प्रगति पर ध्यान देते हैं तथा भविष्य के प्रति उन्हें प्रेरित करते हैं, तो विद्यार्थियों की आकांक्षाओं का स्तर उल्लेखनीय रूप से सुदृढ़ हो सकता है। इसलिए समावेशी एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विद्यालय, परिवार तथा समुदाय के मध्य समन्वित सहभागिता को बढ़ावा देना समय की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची

- बंडूरा, ए. (1997). स्व-प्रभावकारिता रू नियंत्रण का अभ्यास. डब्ल्यू. एच. फ्रीमैन.
- बेस्ट, जे. डब्ल्यू., एवं काह्न, जे. वी. (2016). शिक्षा में अनुसंधान (10वाँ संस्करण). पियर्सन एजुकेशन.
- भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय. (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020. नई दिल्ली : शिक्षा मंत्रालय.
- गैरेट, एच. ई. (2008). मनोविज्ञान एवं शिक्षा में सांख्यिकी. नई दिल्ली : सुरजीत पब्लिकेशन्स.
- शर्मा, वी. पी., एवं गुप्ता, अनुराधा. शैक्षिक आकांक्षा मापनी. आगरा : राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक निगम.
- चौहान, विजयलक्ष्मी, एवं अरोड़ा, गुंजन गनौत्रा. अभिभावक सहभागिता मापनी. आगरा : राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक निगम.
- सिंह, ए. के. (2019). व्यवहार विज्ञान में परीक्षण, मापन एवं अनुसंधान विधियाँ. पटना : भारती भवन.
- यूनेस्को. (2021). शिक्षा के भविष्य की पुनर्कल्पना रू शिक्षा हेतु नया सामाजिक अनुबंध. पेरिस : यूनेस्को.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति अभिधारकों के प्रत्यक्षण का अध्ययन

किशन लाल जाट
(शोधार्थी)
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर-राजस्थान

डॉ. के.आर.काक
(सहायक आचार्य)
विद्या भवन जी.एस. टीचर्स कॉलेज,
उदयपुर-राजस्थान

सार : प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों (DIETs) में संचालित सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विभिन्न अभिधारकों—प्रशिक्षकों, प्रतिभागियों तथा विशेषज्ञों—के प्रत्यक्षण स्तर का अध्ययन करना था। अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया। न्यादर्श के रूप में राजस्थान के सात संभागों से चयनित 7 DIETs के 259 अभिधारकों (35 प्रशिक्षक, 210 प्रतिभागी एवं 14 विशेषज्ञ) को सम्मिलित किया गया। आँकड़ों के संकलन हेतु शोधकर्ता द्वारा निर्मित प्रश्नावली का उपयोग किया गया तथा प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण वर्णनात्मक सांख्यिकी एवं प्रतिशत के आधार पर किया गया। अध्ययन के निष्कर्षों से ज्ञात हुआ कि तीनों अभिधारक समूहों का प्रत्यक्षण मुख्यतः उच्च एवं अत्यंत उच्च स्तर का है तथा किसी भी समूह में निम्न अथवा अत्यंत निम्न स्तर का प्रत्यक्षण प्राप्त नहीं हुआ। सर्वाधिक प्रतिभागियों ने प्रशिक्षण कार्यक्रमों को उपयोगी, प्रभावी एवं सुव्यवस्थित माना। परिणाम यह भी संकेत करते हैं कि DIETs द्वारा संचालित सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम शिक्षकों के व्यावसायिक विकास एवं प्रशिक्षण उद्देश्यों की पूर्ति में सकारात्मक भूमिका निभा रहे हैं। अध्ययन के आधार पर प्रशिक्षण कार्यक्रमों को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप अधिक सहभागितापूर्ण, तकनीक-सक्षम तथा प्रशिक्षणोपरांत अनुवर्ती सहयोग से युक्त बनाने की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। यह अध्ययन DIETs में संचालित सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन के संबंध में नीतिगत एवं प्रशासनिक निर्णयों के लिए उपयोगी आधार प्रदान करता है।

मुख्य शब्द : सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम, जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (DIETs), अभिधारकों का प्रत्यक्षण, शिक्षक प्रशिक्षण, प्रशिक्षक, प्रतिभागी, विशेषज्ञ, क्रियान्वयन, शैक्षिक गुणवत्ता, व्यावसायिक विकास

1. प्रस्तावना

शिक्षा किसी भी राष्ट्र के समग्र विकास की आधारशिला होती है, और इस व्यवस्था की गुणवत्ता का सीधा संबंध शिक्षकों की दक्षता एवं व्यावसायिक क्षमता से होता है। वर्तमान समय में शिक्षा के क्षेत्र में तीव्र परिवर्तन हो रहे हैं, जिनमें तकनीकी विकास, नवीन शिक्षण विधियाँ, तथा छात्र-केंद्रित शिक्षण दृष्टिकोण प्रमुख हैं। ऐसे परिदृश्य में शिक्षकों के सतत व्यावसायिक विकास (Continuous Professional Development) की आवश्यकता अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। भारत में शिक्षक

प्रशिक्षण को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से विभिन्न संस्थागत व्यवस्थाएँ विकसित की गई हैं, जिनमें जिला स्तर पर स्थापित District Institutes of Education and Training (DIETs) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये संस्थान प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक स्तर के शिक्षकों के प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम विकास, तथा शैक्षिक नवाचारों के क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राजस्थान राज्य में भी DIETs के माध्यम से सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों का संचालन किया जाता है, जिनका उद्देश्य शिक्षकों की विषयगत समझ, शिक्षण कौशल, तथा तकनीकी दक्षता को विकसित करना है। इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से शिक्षकों को नवीन शिक्षण रणनीतियों, मूल्यांकन पद्धतियों, तथा शैक्षिक नीतियों से अवगत कराया जाता है। हालाँकि, इन कार्यक्रमों की प्रभावशीलता केवल उनके आयोजन तक सीमित नहीं होती, बल्कि उनके सफल क्रियान्वयन एवं विभिन्न अभिधारकों (जैसे—शिक्षक, प्रशिक्षक, प्रशासनिक अधिकारी आदि) के अनुभव एवं प्रत्यक्षण पर भी निर्भर करती है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति अभिधारकों की धारणाओं एवं अनुभवों का गहन अध्ययन किया जाए, ताकि प्रशिक्षण की गुणवत्ता एवं प्रभावशीलता में सुधार किया जा सके।

2. अध्ययन की आवश्यकता एवं औचित्य

वर्तमान शोध की आवश्यकता एवं औचित्य इस तथ्य पर आधारित है कि सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रम शिक्षक गुणवत्ता को उन्नत करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम हैं, किन्तु इन कार्यक्रमों के वास्तविक प्रभाव एवं क्रियान्वयन की गुणवत्ता पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। प्रथम, विभिन्न अभिधारकों के प्रत्यक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रमों की सफलता का महत्वपूर्ण संकेतक होते हैं। यदि शिक्षक, प्रशिक्षक एवं प्रशासक इन कार्यक्रमों को उपयोगी, प्रासंगिक एवं व्यवहारिक मानते हैं, तो उनके माध्यम से प्राप्त ज्ञान एवं कौशल का कक्षा में प्रभावी उपयोग संभव होता है। इसके विपरीत, यदि इन कार्यक्रमों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण होता है, तो उनका अपेक्षित प्रभाव प्राप्त नहीं हो पाता। द्वितीय, राजस्थान के DIETs में संचालित प्रशिक्षण कार्यक्रमों की वास्तविक स्थिति, उनकी गुणवत्ता, तथा उनके क्रियान्वयन में आने वाली चुनौतियों का समुचित विश्लेषण अभी भी सीमित है। इस संदर्भ में यह अध्ययन न केवल वर्तमान स्थिति का आकलन करेगा, बल्कि प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सुधार हेतु सुझाव भी प्रदान करेगा। तृतीय, शिक्षा के क्षेत्र में नीतिगत सुधार एवं नवाचारों के सफल कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण कार्यक्रम अभिधारकों की आवश्यकताओं के अनुरूप हों। इस अध्ययन के माध्यम से अभिधारकों के प्रत्यक्षणों का विश्लेषण करके प्रशिक्षण कार्यक्रमों को अधिक प्रभावी एवं प्रासंगिक बनाने में सहायता मिलेगी। अतः प्रस्तुत अध्ययन DIETs में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की वास्तविकता को समझने, उनकी प्रभावशीलता का मूल्यांकन करने, तथा भविष्य में उनके सुधार हेतु ठोस आधार प्रदान करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान देगा।

3. पूर्ववर्ती अध्ययन

सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण एवं जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों (DIETs) की भूमिका पर राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनेक अध्ययन किए गए हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (NCERT, 2021) की वार्षिक रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है कि DIETs द्वारा संचालित प्रशिक्षण कार्यक्रमों में DIKSHA जैसे डिजिटल प्लेटफॉर्म के उपयोग से शिक्षकों की सहभागिता में वृद्धि हुई है, किन्तु प्रशिक्षण की गुणवत्ता, व्यवहारिक उपयोगिता तथा प्रशिक्षणोपरांत अनुवर्ती सहयोग को और अधिक सुदृढ़ किए जाने की आवश्यकता है। शिक्षा मंत्रालय (Ministry of Education, 2022) द्वारा प्रकाशित प्रतिवेदन में यह प्रतिपादित किया गया है कि स्थानीय आवश्यकताओं एवं विद्यालयी संदर्भों पर आधारित प्रशिक्षण कार्यक्रम शिक्षकों की व्यावसायिक दक्षताओं के विकास में अधिक प्रभावी सिद्ध होते हैं।

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (NCTE, 2023) के दिशा-निर्देशों में शिक्षकों के सतत व्यावसायिक विकास को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का आधार मानते हुए प्रशिक्षण कार्यक्रमों को सहभागितापूर्ण, आवश्यकता-आधारित एवं परिणामोन्मुख बनाने पर बल दिया गया है। इसी प्रकार, संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO, 2022) ने

डिजिटल युग में शिक्षक प्रशिक्षण को सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी, मिश्रित अधिगम तथा सतत व्यावसायिक सहयोग से जोड़ने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (OECD, 2019) के अध्ययन में यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि नियमित सेवाकालीन प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले शिक्षकों की शिक्षण दक्षता, कक्षा प्रबंधन क्षमता तथा व्यावसायिक संतुष्टि अपेक्षाकृत अधिक होती है।

उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट होता है कि अधिकांश अध्ययन शिक्षक व्यावसायिक विकास, प्रशिक्षण कार्यक्रमों की उपयोगिता अथवा DIETs की संस्थागत भूमिका पर केंद्रित रहे हैं। इसके विपरीत, राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षकों, प्रतिभागियों एवं विशेषज्ञों के प्रत्यक्षण का समग्र एवं तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षाकृत कम उपलब्ध है। विशेष रूप से विभिन्न अभिधारकों के दृष्टिकोण के आधार पर प्रशिक्षण कार्यक्रमों की प्रभावशीलता एवं क्रियान्वयन का मूल्यांकन करने वाले अध्ययन सीमित हैं। प्रस्तुत अध्ययन इसी शोध-अंतर की पूर्ति करते हुए राजस्थान के DIETs में संचालित सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विभिन्न अभिधारकों के प्रत्यक्षणों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

3. शोध पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन में राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों (DIETs) में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विभिन्न अभिधारकों के प्रत्यक्षणों का अध्ययन करने हेतु वर्णनात्मक सर्वेक्षण विधि (Descriptive Survey Method) का प्रयोग किया गया। अध्ययन का उद्देश्य प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षकों, प्रतिभागियों तथा विशेषज्ञों के प्रत्यक्षण स्तर का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करना था।

शोध प्रश्न

1. राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षकों का प्रत्यक्षण स्तर क्या है?

2. राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रतिभागियों का प्रत्यक्षण स्तर क्या है?

3. राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विशेषज्ञों का प्रत्यक्षण स्तर क्या है?

शोध के उद्देश्य

1. राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षकों के प्रत्यक्षण स्तर का अध्ययन करना।

2. राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रतिभागियों के प्रत्यक्षण स्तर का अध्ययन करना।

3. राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विशेषज्ञों के प्रत्यक्षण स्तर का अध्ययन करना।

अध्ययन की जनसंख्या

अध्ययन की जनसंख्या में राजस्थान राज्य के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों (DIETs) से संबद्ध सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों से जुड़े प्रशिक्षक, प्रतिभागी तथा विशेषज्ञ सम्मिलित थे।

न्यादर्श

अध्ययन हेतु राजस्थान राज्य के सात संभागों से एक-एक जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों (DIETs) का चयन किया गया। इस प्रकार कुल 7 DIETs से 259 अभिधारकों को न्यादर्श में सम्मिलित किया गया, जिनमें 35 प्रशिक्षक, 210 प्रतिभागी तथा 14 विशेषज्ञ शामिल थे।

शोध उपकरण

अध्ययन में आँकड़ों के संकलन हेतु शोधकर्ता द्वारा निर्मित संरचित प्रश्नावली का प्रयोग किया गया। प्रश्नावली में सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से संबंधित विभिन्न आयामों को सम्मिलित किया गया, जिनके आधार पर अभिधारकों के प्रत्यक्षणों का मापन किया गया।

शोध उपकरण की वैधता एवं विश्वसनीयता

प्रश्नावली की विषय-वस्तु वैधता (Content Validity) सुनिश्चित करने के लिए शिक्षक शिक्षा एवं शैक्षिक अनुसंधान के विशेषज्ञों से परामर्श प्राप्त किया गया तथा उनके सुझावों के आधार पर आवश्यक संशोधन किए गए। संशोधित प्रश्नावली का सीमित स्तर पर पूर्व-परीक्षण (Pilot Testing) किया गया, जिससे इसकी स्पष्टता, उपयुक्तता एवं उपयोगिता सुनिश्चित की गई। अंतिम रूप में प्रश्नावली को अध्ययन हेतु उपयुक्त पाया गया।

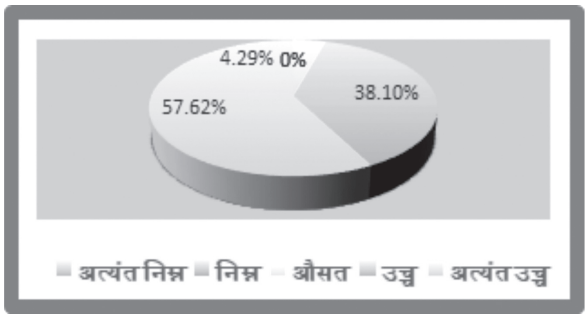
सांख्यिकीय प्रविधि

संकलित आँकड़ों के विश्लेषण हेतु वर्णनात्मक सांख्यिकी का प्रयोग किया गया। उत्तरदाताओं द्वारा प्राप्त अंकों के आधार पर उनके प्रत्यक्षण स्तर को अत्यंत निम्न, निम्न, औसत, उच्च तथा अत्यंत उच्च श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया। प्रत्येक श्रेणी के लिए आवृत्ति एवं प्रतिशत की गणना की गई तथा परिणामों को सारणियों एवं आरेखों के माध्यम से प्रस्तुत कर उनका विश्लेषण एवं व्याख्या की गई। अध्ययन के निष्कर्ष मुख्यतः प्रतिशत विश्लेषण पर आधारित हैं, जिसके माध्यम से विभिन्न अभिधारकों के प्रत्यक्षण स्तर का तुलनात्मक अध्ययन किया गया।

5. आंकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या

सारणी एवं आरेख : 1
प्रशिक्षणार्थियों के प्रत्यक्षण का स्तर (N = 210)

अंक सीमा	स्तर	प्रतिशत
0 15	अत्यंत निम्न	0.00%
16 30	निम्न	0.00%
31 45	औसत	4.29%
46 60	उच्च	38.10%
61 75	अत्यंत उच्च	57.62%



विश्लेषण एवं व्याख्या

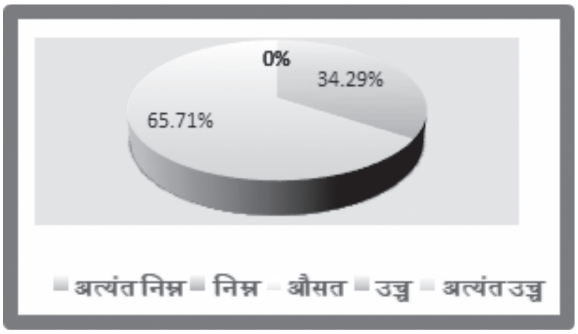
उपरोक्त सारणी एवं आरेख के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षणार्थियों का प्रत्यक्षण समग्र रूप से अत्यंत सकारात्मक है। अध्ययन में सम्मिलित 210 प्रशिक्षणार्थियों में से किसी भी

प्रशिक्षणार्थी का प्रत्यक्षण अत्यंत निम्न अथवा निम्न स्तर पर नहीं पाया गया, जो यह दर्शाता है कि कार्यक्रम के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। केवल 9 प्रशिक्षणार्थी (4.29%) औसत स्तर पर पाए गए, जिससे यह संकेत मिलता है कि अपेक्षाकृत बहुत कम प्रतिभागियों की धारणा मध्यम स्तर की है। इसके विपरीत, 80 प्रशिक्षणार्थी (38.10%) उच्च स्तर पर तथा सर्वाधिक 121 प्रशिक्षणार्थी (57.62%) अत्यंत उच्च स्तर पर पाए गए। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षणार्थियों का प्रत्यक्षण मुख्यतः उच्च एवं अत्यंत उच्च स्तर का है। यह परिणाम कार्यक्रम की प्रभावशीलता, उपयोगिता तथा सफल कार्यान्वयन की पुष्टि करता है।

सारणी एवं आरेख : 2

प्रशिक्षकों के प्रत्यक्षण का स्तर (N = 35)

अंक सीमा	स्तर	प्रतिशत
0 12	अत्यंत निम्न	0.00%
13 24	निम्न	0.00%
25 36	औसत	0.00%
37 48	उच्च	34.29%
49 60	अत्यंत उच्च	65.71%



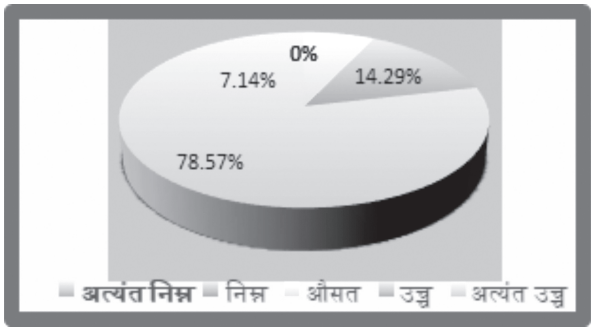
विश्लेषण एवं व्याख्या

उपरोक्त सारणी एवं आरेख के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षकों का प्रत्यक्षण स्तर समग्र रूप से अत्यंत सकारात्मक है। कुल 35 प्रशिक्षकों में से किसी भी प्रशिक्षक का प्रत्यक्षण अत्यंत निम्न, निम्न अथवा औसत स्तर पर नहीं पाया गया, जो यह दर्शाता है कि कार्यक्रम के क्रियान्वयन के प्रति नकारात्मक या सामान्य दृष्टिकोण का अभाव है। 12 प्रशिक्षक (34.29%) उच्च स्तर पर पाए गए, जबकि सर्वाधिक 23 प्रशिक्षक (65.71%) अत्यंत उच्च स्तर में सम्मिलित हैं। यह परिणाम स्पष्ट करता है कि अधिकांश प्रशिक्षकों का प्रत्यक्षण अत्यधिक अनुकूल, सकारात्मक एवं संतोषजनक है तथा वे सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन को प्रभावी, सुव्यवस्थित एवं उपयोगी मानते हैं। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति प्रशिक्षकों का प्रत्यक्षण मुख्यतः उच्च एवं अत्यंत उच्च स्तर का है, जो कार्यक्रम की गुणवत्ता, प्रभावशीलता एवं सफल कार्यान्वयन को प्रतिबिंबित करता है।

सारणी : 3

विशेषज्ञों के प्रत्यक्षण का स्तर (N = 14)

अंक सीमा	स्तर	प्रतिशत
0 6	अत्यंत निम्न	0.00%
7 12	निम्न	0.00%
13 18	औसत	7.14%
19 24	उच्च	14.29%
25 30	अत्यंत उच्च	78.57%



विश्लेषण एवं व्याख्या

उपरोक्त सारणी एवं आरेख के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विशेषज्ञों का प्रत्यक्षण स्तर अत्यंत सकारात्मक है। कुल 14 विशेषज्ञों में से किसी का भी प्रत्यक्षण अत्यंत निम्न या निम्न स्तर पर नहीं पाया गया, जो यह दर्शाता है कि कार्यक्रम के क्रियान्वयन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। केवल 1 विशेषज्ञ (7.14%) औसत स्तर पर पाया गया, जबकि 2 विशेषज्ञ (14.29%) उच्च स्तर में सम्मिलित हैं। सर्वाधिक 11 विशेषज्ञ (78.57%) अत्यंत उच्च स्तर पर पाए गए, जो यह संकेत देता है कि अधिकांश विशेषज्ञ सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन को अत्यंत प्रभावी, सुव्यवस्थित एवं गुणवत्तापूर्ण मानते हैं। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विशेषज्ञों का प्रत्यक्षण मुख्यतः अत्यंत उच्च स्तर का है, जो कार्यक्रम की प्रभावशीलता, गुणवत्ता तथा सफल कार्यान्वयन की पुष्टि करता है।

6. समग्र निष्कर्ष

उपरोक्त तीनों अभिधारक समूहों—प्रशिक्षणार्थी, प्रशिक्षक एवं विशेषज्ञ—के प्रत्यक्षणों के समेकित विश्लेषण से यह स्पष्ट रूप से निष्कर्ष निकलता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन समग्र रूप से अत्यंत प्रभावी, उपयोगी एवं संतोषजनक है। सभी समूहों में अधिकांश प्रतिभागियों का प्रत्यक्षण उच्च एवं अत्यंत उच्च स्तर पर पाया गया, जबकि निम्न अथवा अत्यंत निम्न स्तर पर किसी का भी प्रत्यक्षण नहीं मिला। यह तथ्य इस बात का सशक्त संकेत है कि प्रशिक्षण कार्यक्रमों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण का अभाव है तथा कार्यक्रम व्यापक रूप से स्वीकार्य एवं सराहनीय है।

प्रशिक्षणार्थियों के संदर्भ में यह पाया गया कि बड़ी संख्या में प्रतिभागियों ने कार्यक्रम को अत्यंत उपयोगी एवं प्रभावी माना, जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रशिक्षण उनके शिक्षण कौशल, ज्ञान एवं व्यावसायिक दक्षता के विकास में सहायक है। प्रशिक्षकों के प्रत्यक्षण भी इसी दिशा में सकारात्मक पाए गए, जो यह दर्शाते हैं कि कार्यक्रम का क्रियान्वयन सुव्यवस्थित, उद्देश्यपूर्ण एवं व्यवहारिक है। विशेषज्ञों के प्रत्यक्षणों में अत्यंत उच्च स्तर की प्रधानता यह इंगित करती है कि कार्यक्रम न केवल प्रभावी है, बल्कि उसकी गुणवत्ता एवं संरचना भी उच्च मानकों के अनुरूप है।

अतः समग्र रूप से कहा जा सकता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन सभी अभिधारकों की दृष्टि में सफल, प्रभावशाली एवं गुणवत्ता-संपन्न है। यह परिणाम न केवल वर्तमान प्रशिक्षण व्यवस्था की सुदृढ़ता को प्रमाणित करता है, बल्कि भविष्य में ऐसे कार्यक्रमों के विस्तार एवं उन्नयन के लिए भी सकारात्मक आधार प्रदान करता है। साथ ही, यह निष्कर्ष नीति-निर्माताओं एवं शैक्षिक प्रशासकों के लिए यह संकेत देता है कि वर्तमान प्रशिक्षण मॉडल को बनाए रखते हुए उसमें नवाचार एवं स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप सुधार किए जा सकते हैं, ताकि इसकी प्रभावशीलता और अधिक बढ़ाई जा सके।

7. सुझाव

अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर यह सुझाव दिया जा सकता है कि सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए उन्हें शिक्षकों की वास्तविक आवश्यकताओं एवं कक्षा-परिस्थितियों के अनुरूप तैयार किया जाना चाहिए। प्रशिक्षण में सैद्धांतिक पहलुओं के साथ-साथ प्रायोगिक एवं सहभागितापूर्ण गतिविधियों—जैसे कार्यशालाएँ, समूह-चर्चा एवं माइक्रो-टीचिंग—को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, जिससे शिक्षकों को प्राप्त ज्ञान का व्यवहारिक उपयोग करने में सुविधा हो। इसके साथ ही प्रशिक्षण कार्यक्रमों के पश्चात् फॉलो-अप, मेंटरिंग एवं कक्षा-अवलोकन की प्रभावी व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिए, ताकि प्रशिक्षण का वास्तविक प्रभाव शिक्षण प्रक्रिया में परिलक्षित हो सके। इसके अतिरिक्त, डिजिटल प्लेटफॉर्म एवं सूचना प्रौद्योगिकी का समुचित उपयोग बढ़ाया जाना चाहिए, जिससे शिक्षकों को नवीन शिक्षण तकनीकों से जोड़ा जा सके। प्रशिक्षकों की दक्षता बढ़ाने हेतु उनके लिए भी नियमित उन्नयन कार्यक्रम आयोजित किए जाने

आवश्यक हैं। साथ ही, प्रशिक्षण के सफल क्रियान्वयन के लिए आवश्यक संसाधनों की उपलब्धता सुनिश्चित की जानी चाहिए तथा सभी अभिधारकों की सक्रिय सहभागिता को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। प्रशिक्षण कार्यक्रमों का समय-समय पर मूल्यांकन करते हुए प्राप्त फीडबैक के आधार पर सुधार किए जाएँ तथा स्थानीय भाषा एवं संदर्भों को भी प्रशिक्षण में सम्मिलित किया जाए। अंततः, उत्कृष्ट प्रदर्शन करने वाले शिक्षकों को प्रोत्साहन प्रदान करने की व्यवस्था की जाए, जिससे प्रशिक्षण के प्रति उनकी रुचि एवं सहभागिता और अधिक सुदृढ़ हो सके।

8. उपसंहार

अध्ययन के निष्कर्षों से स्पष्ट है कि राजस्थान के DIETs में संचालित सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति विभिन्न अभिधारकों का प्रत्यक्षण सकारात्मक एवं संतोषजनक है। यह अध्ययन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन एवं गुणवत्ता संवर्धन के लिए उपयोगी संदर्भ प्रस्तुत करता है।

संदर्भ

1. कुमार, ए. (2023). Teachers' Attitude towards In&service Training Programmes in Government Schools-Educational Quest: An International Journal of Education and Applied Social Sciences],14(2)] 95–102-
2. मीणा, एस. (2024). Role of DIETs in Enhancing Teaching Competency among Primary School Teachers-Indian Journal of Educational Studies, 16(1)] 33–41-
3. शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार. (2022). Implementation of Teacher Training Programmes through DIKSHA Platform- नई दिल्ली : भारत सरकार।
4. शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार. (2023). PM eVIDYA and DIKSHA: Digital Initiatives in Teacher Training- नई दिल्ली : भारत सरकार।
5. राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (NCTE). (2021). National Professional Standards for Teachers (NPST). नई दिल्ली : NCTE.
6. राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (NCTE). (2023). Guidelines for Continuous Professional Development of Teachers- नई दिल्ली : NCTE.
7. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (NCERT). (2021). Annual Report 2020-21. नई दिल्ली : NCERT.
8. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (NCERT). (2022). National Achievement Survey ¼NAS½ 2021 Report- नई दिल्ली : NCERT.
9. राजस्थान सरकार, विद्यालयी शिक्षा विभाग. (2022). Report on Strengthening of District Institutes of Education and Training (DIETs) in Rajasthan. जयपुर : राजस्थान सरकार।
10. शर्मा, पी. (2023). Stakeholders' Perception towards Implementation of Teacher Training Programmes पद DIETs. Journal of Teacher Education and Research] 18(1), 60-68.
11. सिंह, आर. (2022). Effectiveness of In&service Teacher Training Programmes पद DIETs. International Journal of Educational Research, 11(2), 45-52.
12. संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO). (2022). Reimagining Our Futures Together: A New Social Contract for Education. पेरिस : UNESCO-
13. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (OECD). (2019). TALIS 2018 Results (Volume I): Teachers and School Leaders as Lifelong Learners- Paris: OECD Publishing- https://doi.org/10-1787/1d0bc92a-en

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Understanding Stress and Coping Patterns in Gifted Adolescents'

Dr. Rajendra Jakhar
Asstt. Professor in Education
J.K.Memorial College of Education
Birhi Kalan, Ch. Dadri (Haryana)
Mobile No. 7375915563
Email: drrajendrajakhar007@gmail.com

ABSTRACT

Children who are in the high extreme of their IQ are called as Gifted Children and they are also called as exceptional. Intellectually gifted children use problem solving strategies more frequently than the students who are not gifted. Students who are enrolling in academically gifted face a multiple of stressors related to increased academic demands in addition to the developmental and biological challenges that are normative to adolescence. Social disconnection to be more common among highly gifted children (Hollingworth, 1942). Gifted children realize that their exceptionality sets them apart (Gross, 1998). This perceived difference could lead to insecurity, depression, isolation, low-self-esteem and feelings of being misunderstood (Barow and Rubin, 1999; Falk and Miller, 1998). Adolescence with gifts and talents may also feel they need to hide their ability to gain peer acceptance in their search for intimacy. Due to the discrepancy between their intellectual and social abilities, gifted adolescence tend to rate themselves low in terms of self esteem (Borelly and Genshaft, 1991). But studies among gifted children are usually rare. Researchers, teachers as well as peers usually keep them away due to many reasons. Though talented, somehow they lack social skills and social support from peers. The present study explores the stress of the gifted adolescents and the coping patterns they adopts. Sample consists of 40 gifted adolescents. The study results can be utilized to redesign the educational perspective, as it has got an individual oriented perspective.

Keywords: *Gifted Adolescents - Stress - Coping - Coping with Stress.*

INTRODUCTION

Giftedness is a controversial construct to define and assess. Numerous definitions have appeared about giftedness in both main stream and educational contexts. The Federal definition says:

> *"Giftedness and talented children are those identified by professionally qualified persons who by virtue of outstanding abilities, are capable of high performance. These are children who require differentiated educational programmes and/or services beyond those normally provided by the regular school program in order to*

realize their contribution to self and society. Children capable of high performance include those with demonstrated achievement and/or potential ability in any of the following areas singly or in combination (1) General intellectual ability, (2) specific academic aptitude, (3) Creative or productive thinking, (4) leadership ability, (5) visual and performing arts, (6) psychomotor ability. It can be assumed that utilization of these criteria for identification of the gifted and talented will encompass of a minimum of 3-5%" (Marland, 1972)

The challenges faced by gifted adolescents are multifaceted and complex (Buscher, 1991). Due to the parental pressure and over expectation from teachers, adolescent gifted children experience more stress in their studies, because of that in the adolescent period, many talented adolescent may reject their gifted label and they do not want to feel different (Holliday, Koller and Thomas, 1999). They lie on the other end of the continuum of cognitive, academic, artistic and social abilities. Gifted and talented children may find that a traditional curriculum is inappropriate, as it may not provide the advanced and unique challenges they require to learn most effectively.

Gifted kids are not different from any other in terms of what they need during their emotional development. All parents and educators should pay more attention on how gifted kids are growing up instead of how much or how quickly they are learning. They will learn for the rest of their lives, but they can only be children ones. All talents, including giftedness, can suffer from a lack of quality education experiences, informative feed back and emotional support. Students who exhibit high ability and talent are susceptible to the same fears and frustrations that come with a lack of interest or understanding of their needs and abilities, regardless of race, gender, socio-economic status and disability status.

There is a pressing need to provide counselling services to gifted and talented students (Neihart, Robinson and Moon, 2002). Our track record of understanding and then facilitating the emotional growth of gifted and talented students is weak to nonexistent. As with all children and adults, a number of predictable sense of social justice and greater awareness of the needs of others, students who are gifted and talented often experience confusion and estrangement more deeply than their peers.

Gifted children may also feel they need to hide their ability to gain peer acceptance in their search for intimacy. Perhaps due to the discrepancy between their intellectual and social abilities, gifted adolescents tend to rate themselves low in terms of social self esteem (Birley and Genshaft, 1991). They are a very diverse group of individuals who have abilities, in one or more domains, that in sufficiently advanced and requires changes in the school environment, such as the instructional curriculum and teacher behaviours (Stormount, M, Stebins and Holliday).

Students who are extremely talented tend to have a few peers as they may become less socially adopt, more introverted and more inhibited and lonely (Neihart et. al., 2020). The gifted

under achievers missed the most needed early experiences in realistic goal setting which generally led to a personality with strong super ego. The gifted under achievers turns to be a "kind of intellectual delinquent who withdraws from goals and activities and active social participation generally. The achievement and under achievement in the gifted may be viewed as social and a social responses of the individual to proper stimulation regarding developmental tasks either tended or denied by the parental and educational environments (Mitra, 1991).

The educational environment itself create stress to the children, stressors, they experienced, have also been categorized according to the degree of threat associated with them and the extend to which threat is perceived may vary depending on the context in which the stressor is experienced (Gore and Anshensel, 1991). It is possible that identified high ability may provide a context that increases the degree of perceived threat and therefore the stress, associated with the normative increase in the importance of peer relationship. If so one might expect some type of coping responses to be enacted. Acute situations are often termed events whereas ongoing sources of stress are termed difficulties (Kerla, 1991) or when they are related to individual's social roles, role strains (Bird and Harris, 1990). The distinction between events and difficulties is important because the kinds of strategies used to manage long-term stressful situations almost certainly differ from those used to manage acute stressor" (Kessler, 1991). The social stigma of giftedness best fits the definition of a difficulty / role strain.

Many gifted adolescents believe that their high ability level complicates their social relationships. This situation can be described as a stressor more specifically as a normative interpersonal difficulty that is excerbated by the context of giftedness and that prompts the use of any of a number of coping strategies. Strategy choice may be related to various personal and social characteristics including gender, age and social concept.

The over excitabilities have a potential to stimulate movement from a lower state of emotional development to a high one. Because gifted individuals are likely to possess one or ore of these lightened sensitivities particularly emotional over excitabilities they have gender potential to reach advanced levels of development. The over excitabilities in combination with advanced intellectual ability makes gifted individuals unique and puts them at odds with the rest of the world. They are valuable to psychological stress because the combination of qualities results in rich but intense emotions that make them feel out of synch with the different from others. Conceptions of giftedness that emphasize social emotional dimensions rest in part on the assumption that gifted children by virtue of their intellectual giftedness and concomitant emotional characteristics have increased vulnerability to emotional stress and other behavioural problems (Neihart, 1998).

Among gifted students some common problems included in adjusting to being gifted. These problems included their concerns for good relationship with peers as well as their talents receiving recognition, feeling the lack of challenges in their school, feeling emotionally involved intensely in what was happening around them, feeling that they were different from their peers, engaging in perfectionist behaviours and feeling stressed by the high expectations from their

parents. The presence of these adjustment problems could in turn prompt the use of a number of coping strategies (Chan, 2003).

Coping with stress is the process of developing ways to decrease its effects to get through difficult tasks despite the stress (Kalat, 1996). Each individual will have a personal coping style. This may be influenced by cultural factors, gender, socio-economic status and current environmental factors (Geldard and Geladard, 2005). Coping responses have been grouped into various categories, as well. At a basic level, coping strategies have been described as problem focused or emotion focused (Lazarus and Folkman, 1984). Problems - focused strategies attempt to change the stressful situation itself, whereas emotion focused strategies endeavour to alleviate negative emotional responses to the stressor. The social coping strategies used by gifted adolescents can be placed into

the categories like hiding evidence of high ability (Gross et. al., 1991, Swintek, 1995) might be considered a problem focused strategy, because it represents students attempt to change their social situations by changing the information other's have about them. In contrast, denial of high ability is better considered an emotion-focused strategy because it is an attempt to minimize stress by managing one's own beliefs rather than by chancing the situation itself.

High ability students are generally at least as well adjusted as any other group of youngsters, meaning that most talented students do not face any more social and emotional problems than do others students. However, gifted and talented students can often do face a number of situations that, while not unique to them, constitute sources of risk to their social and emotional development if their needs are not met (Neihart, et. al., 2002). The peer relations of high achievers seemed to be more helpful for their emotional problems (Maitra, 1991). Gifted adolescents are found to have several coping strategies, including denying giftedness, hiding giftedness, denying the importance of popularity, denying the impact of giftedness on peer acceptance and maintaining high levels of interpersonal interaction.

RESEARCH DESIGN

PROBLEM

To explore the stress and coping patterns among gifted adolescents.

OBJECTIVE

To study and explore the relationship between stress and coping patterns of gifted adolescents.

HYPOTHESIS

There is significant relationship between stress and coping patterns among gifted adolescents.

METHOD

Sample

40 male and female intellectually gifted adolescent students were selected from various schools of Ch.dadri,Haryana, as the sample. It was purposefully drawn.

Tools

1. Advanced Progressive Matrices (APM).
2. Stress Among Gifted Children Scale (SAGC), Rinju and Baby Shari (2010).
3. Adolescent Coping Pattern Scale (ACP), Rinju and Baby Shari (2010).

Procedure

110 students were primarily selected from various schools in Ch. Dadri district through teacher rating. From that 40 adolescent gifted children were selected using Advanced Progressive matrices (APM). APM scored using the manual and accordingly the participants were selected as per the inclusion criteria. The researcher contacted the heads of the selected institutions in advance and sought the permission to administer the tools with parental consent. Sufficient copies of both the tools and response sheets were arranged before administering the test to subjects. Rapport was established. After that each student was given the tools containing items one after the other. Instructions written in the tools were readout with an example worked out in the board. Suitable

atmosphere was created for conducting the test.

Statistical Analysis

Analysis of the data was done using statistical procedures namely descriptive statistics, Pearson product moment correlation. Statistical Package for Social Sciences (SPSS) was used for the analysis.

RESULT AND DISCUSSION

The present study tried to analyze the stress and coping patterns among gifted adolescents. The descriptive statistics used for preliminary analysis of the data. The important statistical values like mean, median, mode, standard deviation etc. were worked out for the variables, stress and coping patterns.

Table-1: Important statistical values of stress and coping patterns of Gifted Children in Total sample

Variable	Mean	Median	Mode	Standard Deviation	Minimum Score	Maximum Score
Stress	155.08	152	118	34.11	85	233
Problem Focused Coping	108.85	109.5	109	9.31	85	126
Emotion Focused Coping	71.25	73	67	10.95	47	85
Other Coping Strategies	23	23	22	3.05	15	29
Coping Total	203.43	206.5	193	14.24	181	224

Table-1 indicates that the mean score obtained for stress, problem-focused coping, Emotion-focused coping, other coping strategies and total coping are 155.08, 108.85, 71.25, 23 and 203.43 respectively. The median obtained for stress and coping strategies are 152, 109.5, 73, 23 and 206.5 respectively. The obtained mode for stress is 118. The mode of problem focused coping, emotion focused coping other strategies and total coping are 109, 67, 22 and 193 respectively. The standard deviation score for stress, problem focused coping, emotion focused coping, other strategy and total coping are 34.11, 9.31, 10.95, 3.05 and 14.24 respectively. The maximum score for stress can be attained using the tool is 270. The data of the present study ranges from 85 to 233. Similarly the coping (total) scores range from 181 to 224.

Adolescent Coping Pattern Scale (ACP) was used for assessing the coping patterns of gifted children. Though they are found to have high in cognitive function on the basis of their IQ, they are not avoided from stress. The mean scores and standard deviation indicate their level of stress which is found to be more than the midpoint. This emphasizes a need for intervention.

The study was proceeded using coping patterns used by the sample. Problem focused coping and emotion focused coping strategies are used by the sample. Using the tool another kind of strategy employed by the gifted children also can be found out.

RELATIONSHIP AMONG VARIABLES

The collected data alongwith the sub factors for the whole sample under the study was correlated one another. The correlation matrix is as follows.

Table 2: The correlation matrix

Variable	Problem Focused Coping	Emotion Focused Coping	Other Coping Strategies	Total Coping
Stress	0.004	0.437**	-0.062	0.317*
Problem Focused Coping	-	-0.199	0.109	0.503**
Emotion Focused Coping	-	-	0.342*	0.729**
Other coping Strategies	-	-	-	0.503*

** Significant at 0.05 level / ** Significant at 0.01 level. (P<0.05, P<0.01)*

The correlation matrix becomes important because of two reasons. The sample becomes exceptional and usually not studied thoroughly. More over their peculiar pattern of coping also can be seen.

The correlation matrix indicates that the stress is significantly positively correlated with emotion focused coping and total coping scores (r = 0.437 and 0.317 respectively). Which shows that when stress increases the gifted children may use different coping styles, here the score implies that children who have high stress will use emotion focused coping style more. Stress is found to correlated significantly and positively to the emotion focused coping where as a significant relation is not found with problem focused coping. A very minute negative correlation only was found between the other strategies and stress. This indicates that the present sample does not use these strategies significantly.

In this problem focused coping is negatively correlated with emotion focused coping and significantly positively correlated with total coping score. This indicates that problem focused strategies are not used simultaneously in high levels. But the correlation is not found to be significant. The children who have high stress will adopt emotion focused coping strategies than problem focused coping, that they do not try to change the actual problem or its causes led to the stress, but they have a tendency to use emotional adjustments with that stressors. This can be internal and external demands of situations. Supporting evidence is reported by Lazarus and Folkman (1984). In gifted adolescent denial of high ability is better considered an emotion focused strategy because it is an attempt to minimize stress by managing one's own beliefs, rather than by changing the situation itself.

While considering the emotion focused coping scores, they are found to be significantly positively correlated with other coping strategies and total coping score (r = 0.342* and 0.729**).

That means children who have use the emotion focused coping style are also using the other coping strategies. Which are usually found among the gifted adolescents. When they use of emotion focused coping strategy and other coping styles like finding alternate strategies, having contact and interaction with experts.

SUMMARY AND CONCLUSION

Adolescents face many kinds of stressors in their life. Intellectual giftedness helps to face life easily. But gifted adolescents experience specific types of stressors in their life, due to the over expectation of parents and teachers, lack of co-operation of their friends, variety in talents, lack of agreements from peers, lack of understanding of their higher ideas etc. Their peculiarities in coping were also studied. Other than trying to change the problems and stressors, they are more prone to make emotional adjustments and changes in them selves so that coping becomes easier. Moving away from the stressors, scientific planning, cognitive reframing, using better coping strategies, trying not to increase the problems with over excitations. There are certain strategies usually used by the gifted, as too much peculiar to them, like discussing with elders, finding some are who had already faced the problems, postponing the response etc.

LIMITATIONS OF THE STUDY

The present study was conducted in a limited sample with a limited time period. Sample selected from only one district. In the beginning of the study sample selected through teacher rating.

FURTHER SCOPE

The study can be extended to larger sample. Different age group can be also included for the selection criteria. Sample can be selected from various districts. Observation and interview of the students, teachers and parents can be included to add more authenticity of the data.

REFERENCES

1. Basow, S.A. and Rubin, L.R. (1999). Gender influences on adolescent development. In N.G. Johnson, M.C. Roberts and J. Worell (Eds.), Beyond appearance: A new look at adolescent girls. Washington, DC: American Psychological Association.
2. Brreley, M. and Genshaft, J. (1991). Understanding the gifted adolescents Educational, developmental and multicultural issues. New York: Teachers College Press.
3. Buesher, T.M. (1991). Gifted Adolescents. In N. Colangelo and G.A. Davis (Eds), Handbook of Gifted Education (pp. 382-401) Boston: Allyn and Bacom.
4. Chan, D.W. (2003). Assessing adjustment problems of gifted students in Hong Kong: The development of the student adjustment problems inventory Gifted child 47: 107-117.
5. Cox, J., Daniel, N. and Boston, B.O. (1955). Educating able learners. Pryiamer and promising practices. Austin: Texas Unity Press.
6. Falk, R.F. and Miller, N.B. (1998). The reflexive self: A sociological perspective. Roeper Review.
7. Geldard, K. and Geldard, D. (2004). Councelling Adolescents. The proactive approach. London: Sage Publications.
8. Gross, M.U.M. (1998). The "me" behind the mask: Intellectually gifted students and the search for identity. Roeper Review.
9. Gulloth, T.P. and Adams, G.R. (2005). Adolescent Behavioural Problems. Evidence based Approaches to prevention and Treatment. New York. Springer Science and Buinum Media. Inc.
10. Holliday, G.A. Koller, J.R. and Thomas, C.D. (1999). Post-high School Outcomes of high IQ adults with learning disabilities. Journal for the Education of the Gifted, 22, 266-281.

11. Holliday, G.A., Koller, J.R. and Thomas, C.D. (1999). Post-high school outcomes of high IQ adults with learning disabilities. Journal for the Education of the Gifted.
12. Hollingworth, L. S. (1942) Children above 180 IQ: Origin and Development. New York: World Book.
13. Kalat, J.W. (1996). Introduction to Psychology New York: Brooks/Cole Publishing Company.
14. Lazarus, R.S. and Folkman, S (1984). Stress, Appraisal and coping, New York: Springa Publishing co.
15. Masland, S.P. (1972). Education of the gifted and Talented: Report of the longness of the United states by the U.S. Commission of Education: Washington DC: USG Printing office.
16. Neihart, M. (1998). Preserving the true self of the gifted child. Roeper Review, 20, 187-191.
17. Neihart, M. (1999). The impact of giftedness on Psychological well being: What does the empirical Literatures. Say? The Roeper Review, 22(11). 10-17.
18. Neihart, M., Reis, S.M., Robinson, N.M. and Moon, S.M. (Eds.) (2002). The social and emotional development of gifted children: What do we know? Waco, Texas: Prufrock Press, Inc.
19. Starmount, M., Stebbins, M.S. and Holiday, G. (2001). Characteristics and Educational Support Needs of Under represented gifted adolescents. Psychology in the Schools: John Willey and Son. Inc. Vol. 38(5).
20. Tanneahanon, A.J. (1983). Gifted Children. Psychological and educational perspectives. New york: Menillan.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

The Moral Geography of Justice: Mapping the Systematic Prioritization of Humans Over Animals in Ethical Consciousness

Mr. Hari Shanker Singh
Ph.D. Scholar, department of Political Science, University of Delhi
Email Id: hssingh.phd2025@polscience.du.ac.in/abpr90@gmail.com

Abstract

We examine the systematic privileging of human beings over non-human animals within ethical awareness, a construct we term moral geography. This research charts the psychological, legal, social, and temporal dimensions of speciesism, examining the hypothesis that species membership operates as an invisible boundary that creates a graded hierarchy of moral concern. A multi-method approach was adopted, combining a systematic literature review on moral circles and mind perception with legal document analysis of the U.S. Animal Welfare Act and EU frameworks, public opinion data from Eurobarometer 2023 and validated speciesism surveys, and discourse analysis of news and social media from 2020 to 2026. The psychological literature indicates that speciesism functions as a stable prejudice-like construct that predicts prosocial behavior toward animals, and the attribution of mental states mediates the assignment of moral standing. Legal analysis indicates a structured hierarchy: the Animal Welfare Act explicitly excludes birds, rats, mice bred for research, and all farm animals, whereas covered animals are legally categorized as property. Although public opinion reveals robust abstract endorsement of animal welfare (e.g., 84% think farmed animals ought to be more strongly safeguarded), speciesism scores predict a substantial gap between expressed concern and costly personal behavior. Discourse analysis identifies four categories of moral conflict events under scarcity conditions, indicating that the moral circle contracts most severely for peripheral animals but stays constant for companion animals. Furthermore, temporal discounting diverts public focus toward immediate threats, such as poaching, rather than chronic issues, including habitat loss. The central insight is that moral geography is systematically stratified across all examined dimensions, and humans invariably hold the central position in ethical concern. This hierarchy is reinforced by speciesism, legal property status, and the psychological discounting of distant and future suffering, with profound implications for justice theory, animal ethics, and policy design.

Keywords: Moral Geography, Speciesism, Graded Hierarchy, Moral Concern, Stable Prejudice, Chronic Issues, Habitat Loss.

1. Introduction

The issue of which entities merit moral regard has been a central concern in ethics for centuries, yet a notable imbalance endures in the manner humans allocate their moral attention. Despite the growing

acknowledgment within philosophical discourse of the moral status of sentient beings [1], practical circumstances disclose a markedly hierarchical moral terrain in which human priorities consistently take precedence over those of non-human animals. This phenomenon, frequently termed speciesism or moral circle stratification, is not merely an abstract philosophical conundrum but a concrete facet of how ethical consciousness functions within psychological, legal, and social spheres [2].

Moral geography, as a framework, establishes a spatial basis for grasping this systematic prioritization. Just as physical geography maps the distribution of resources across terrain, moral geography maps the distribution of ethical concern across different categories of beings. Humans sit at the core of this moral landscape, enclosed by successive spheres of decreasing responsibility that extend outward toward other humans, then to some animals, and ultimately to the farthest entities [3]. This spatial metaphor captures not only the psychological reality of how people actually distribute their moral concern but also the normative questions about how they ought to do so.

The central hypothesis guiding this research is that species membership functions as a powerful, often invisible boundary for moral inclusion, thereby creating a graded hierarchy of moral concern that privileges humans even in cases where animals are deemed morally considerable. This hypothesis draws on empirical findings from developmental psychology indicating that children as young as five years old show speciesist biases, from legal analysis uncovering codified hierarchies of protection, and from public opinion research showing systematic gaps between abstract support for animal welfare and concrete behavioral commitments [4].

Our objective is to map the psychological, legal, social, and temporal dimensions of this moral geography, and to explore the reasons why humans consistently occupy the center of ethical concern while animals are consigned to the periphery. This study examines the mechanisms that sustain this hierarchy, such as empathy, mind perception, legal institutionalization, and temporal discounting, thus adding to discussions in moral psychology, animal ethics, and justice theory [5]. This research is important because it can clarify the mechanisms that drive moral prioritization and examine what this moral topography means for justice, policy, and relationships between species.

This research makes three distinct contributions. Initially, we synthesize empirical findings across multiple disciplines to present a comprehensive account of how and why humans are regarded as more important than animals in ethical consciousness. Second, we establish that moral geography is systematically stratified across psychological, legal, social, and temporal dimensions, and these dimensions mutually reinforce one another. Third, we identify the mechanisms that sustain this stratification, namely speciesism as a measurable prejudice-like construct, the legal classification of animals as property, and the psychological discounting of distant and future suffering [6].

The remainder of this paper is organized as follows: Section 2 reviews the relevant literature on normative ethics, speciesism, and moral circles. Section 3 establishes the conceptual foundations by examining speciesism, moral circles, and mind perception as key mechanisms. In Section 4, we delineate a multi-method approach for charting moral geography. Section 5 presents the stratified architecture of moral concern across psychological, legal, social, and temporal dimensions. Section 6 examines the ramifications for justice, policy, and relationships between species. Section 7 concludes with reflections on the significance of this research and directions for future inquiry.

2. Literature Review

The systematic prioritization of humans over non-human animals has been examined across multiple scholarly traditions, each contributing distinct insights into the mechanisms and consequences of this moral hierarchy. In moral philosophy, the concept of speciesism was introduced by Ryder [2] to denote the arbitrary discrimination against beings based on species membership, explicitly paralleling it with racism and sexism. Singer [7] subsequently popularized this concept within utilitarian ethics, positing that the capacity for suffering, rather than species membership, should determine moral standing. This position contests the anthropocentric presumption that human interests automatically take precedence over those of other sentient beings, yet empirical research consistently shows that such presumptions stay deeply embedded in ethical consciousness.

Empirical research in psychology has supplied robust foundations for comprehending speciesism as a quantifiable and consistent individual difference. Caviola et al. [8] developed and validated the Speciesism Scale, and their findings indicated that speciesism predicts prosocial behavior toward animals (such as charitable donations, time investment, and food choices) beyond related constructs like general empathy or beliefs about animal intelligence. This construct aligns with a cluster of other forms of prejudice, indicating that the devaluation of non-human animals shares psychological roots with intergroup bias among humans [9]. The moral circle construct offers a spatial framework for this stratification, wherein moral concern is arranged as concentric circles, with the strongest obligations directed toward inner-circle entities such as family members, and progressively weaker concern for outgroup humans, non-human animals, and environments [10].

Mind perception emerges as a central mediating mechanism in this moral geography. Gray et al. [11] showed that perceived mental capacity, especially the ability to experience pain, pleasure, and emotions, is a key factor in determining moral standing. Anthropomorphism is associated with moral concern for animals and environments, whereas the denial of mental capacities to certain human groups constitutes their dehumanization, which suggests that mind perception acts as a flexible boundary for moral inclusion [12]. This mechanism helps explain why companion animals, which are perceived as having rich mental lives, receive greater moral concern than farm animals or wildlife, which are perceived as more distant and less mentally sophisticated.

Legal scholarship has documented the official establishment of this moral ranking. The U.S. The Animal Welfare Act [13] defines an 'animal' as a warm-blooded creature, but it explicitly excludes birds, rats, and mice bred for research, along with all farm animals destined for food or fiber production. Animals covered by the Act are legally classified as property, not persons, and are subject to federal standards for housing, transport, veterinary care, and sanitation. The resultant geographic differentiation of legal protection is pronounced: animals that are physically and socially nearer to humans obtain the highest degree of protection, whereas those farthest away are explicitly omitted from the Act's safeguards. The EU legal framework conceptually supports a similar gradient, as the Treaty on the Functioning of the European Union recognizes animals as sentient beings, yet their legal status remains that of property, and protection levels vary dramatically by species and application [14].

Investigations into public opinion uncover a nuanced interplay between abstract moral ideals and concrete behavioral intentions. Data from the 2023 Eurobarometer survey indicate that 84% of respondents think farmed animals ought to receive greater protection, and 91% deem farmed-

animal welfare to be important [15]. However, these figures denote abstract policy endorsement rather than costly personal behavior. The psychological literature on speciesism presents a critical link, as speciesism scores are predictive of actual prosocial behavior, such as charitable donations and food choices, which implies a discrepancy between abstract endorsement of rights and concrete action [8]. This gap is further illuminated by research on temporal discounting, where future animal suffering is systematically undervalued compared to immediate concerns [16].

Analyzing moral conflict events within contexts of resource scarcity creates a natural setting for studying transformations in moral geography. During the COVID-19 pandemic, livestock animals were culled en masse due to supply chain disruptions, justified by the need to protect the national food supply, whereas the pet food shortage of 2021 to 2022 caused intense anxiety among owners, as companion animals were firmly regarded as family members [17]. This distinction indicates that the moral circle does not shrink evenly; it shrinks most sharply for animals already on the edge while staying comparatively steady for those at the core.

The existing literature, while rich and diverse, has largely examined these dimensions in isolation. Philosophical treatments of speciesism often remain at the normative level without engaging with empirical findings on how moral geography actually operates. Psychological research has documented speciesism as an individual difference but has not fully integrated legal and institutional dimensions. Legal scholarship has documented explicit hierarchies but has not linked these to the psychological mechanisms that sustain them. Investigations into public opinion have indicated general support for animal welfare, yet the discrepancy between stated principles and actual conduct across diverse animal types has not been systematically examined. Discourse analysis has examined specific moral conflict events but has not synthesized these into a comprehensive account of how moral geography shifts under different conditions.

Our research addresses these gaps by presenting a multi-dimensional synthesis that concurrently maps the psychological, legal, social, and temporal dimensions of moral geography. We show that speciesism, legal property status, mind perception, and temporal discounting function as mutually reinforcing mechanisms that generate and uphold the systematic prioritization of humans over animals. This integrated account not only explains why humans matter more than animals in ethical consciousness but also identifies the specific points at which intervention might be most effective in expanding the moral circle.

3. Conceptual Foundations: Speciesism, Moral Circles, and Mind Perception

To methodically explore the moral geography of justice, we must first define the conceptual framework governing how moral concern is allocated across diverse categories of beings. This analysis rests on three interconnected constructs: speciesism as a measurable prejudice-like orientation, the moral circle as a spatial metaphor for ethical inclusion, and mind perception as the cognitive mechanism determining moral standing. Together, these concepts supply the theoretical apparatus needed to grasp why humans invariably sit at the center of moral concern, whereas animals are consigned to the margins.

Speciesism constitutes the primary psychological mechanism through which moral geography is stratified. Speciesism, defined as the differential moral valuation of individuals based on their species membership, constitutes a stable individual difference predicting a broad spectrum of attitudes and

behaviors toward non-human animals [8]. This construct is not merely a philosophical abstraction but a measurable psychological variable with predictive validity. Individuals who score higher on validated speciesism scales are less likely to donate to animal charities, less willing to reduce meat consumption, and more likely to endorse harmful practices toward animals, even when controlling for general empathy or beliefs about animal intelligence. Crucially, speciesism is associated with other forms of prejudice, for instance racism and sexism, which implies a shared psychological basis for undervaluing those perceived as different or distant [9]. This discovery carries deep consequences for comprehending moral geography, as the identical cognitive and motivational operations generating intergroup prejudice in humans likewise generate the human-animal hierarchy.

The moral circle establishes the spatial structure for understanding this hierarchy. The moral circle, initially articulated by Singer [7] and later codified by Laham [10], denotes the set of entities to which an individual or society extends moral regard. This circle is conventionally depicted as concentric rings, with the strongest obligations directed toward family members and close associates at the center, then toward ingroup members, outgroup humans, non-human animals, and finally environments and ecosystems at the periphery. The essential insight from this framework is that moral concern is not binary—entities are not simply inside or outside the circle—but rather graded, where the force of obligation weakens as distance from the center increases. This graded structure explains why humans can simultaneously endorse abstract principles of animal welfare while failing to extend those principles to concrete behavioral commitments: the moral circle includes animals, but only at its periphery, where obligations are weak and easily overridden by competing interests.

Mind perception emerges as the cognitive mechanism determining where entities are situated within this moral geography. Gray et al. According to [11], moral standing is essentially tied to perceived mental capacity, especially the capacity for experience, the ability to feel pain, pleasure, fear, and other affective states. Entities perceived as having rich mental lives are granted higher moral standing and placed closer to the center of the moral circle, while those perceived as lacking mental complexity are relegated to the periphery. This mechanism operates flexibly: companion animals such as dogs and cats are typically regarded as possessing sophisticated mental capacities, for instance the ability to form emotional bonds and experience suffering, and are consequently placed relatively near the center of the moral circle. In contrast, farm animals such as chickens and pigs are often perceived as less mentally sophisticated, despite growing scientific evidence to the contrary, and are consequently placed further from the center [12]. This disparity in the attribution of mental states is not merely a descriptive observation but a causal process: by withholding cognitive attributes from certain animals, humans rationalize their exclusion from full moral standing.

The interplay among these three constructs yields the stratified structure of moral concern observed in empirical data. Speciesism supplies the motivational direction that drives differential treatment on the basis of species membership. The moral circle supplies the spatial structure that organizes this differential treatment into a graded hierarchy. Mind perception constitutes the cognitive mechanism by which every entity is assigned its position within this hierarchy. Together, they explain why humans consistently occupy the center of ethical concern: humans are perceived as having the richest mental lives, are members of the same species, and are therefore placed at the center of the moral circle. Animals, by contrast, are perceived as having less sophisticated mental capacities, belong to different species, and are therefore placed at the periphery. This conceptual framework

permits the generation of precise hypotheses regarding the functioning of moral geography in diverse settings and the specification of the mechanisms by which it could be altered.

4. A Multi-Method Approach to Mapping Moral Geography

To investigate the systematic prioritization of humans over non-human animals across psychological, legal, social, and temporal dimensions, we employed a multi-method systematic approach designed to capture the full complexity of moral geography. This methodology integrates four complementary components: a systematic literature review, legal and institutional document analysis, public opinion data collection, and discourse analysis of news and social media. Each component was designed to address specific aspects of the research question while permitting triangulation across methods to strengthen the validity and robustness of our findings.

4.1 Systematic Literature Review

The initial step of our methodology comprised a systematic literature review targeting empirical and theoretical anchors on moral circles, speciesism, and mind perception. We developed a structured extraction framework that facilitated the systematic capture of metadata across twelve coding domains, specifically moral circle definition, speciesism measures, spatial proximity variables, and psychological mechanisms. Key sources included studies on speciesism as a measurable prejudice-like construct [8], moral-circle placement tasks [10], and moral-circle expansion [3]. The review extracted information on study design, sample characteristics, theoretical frameworks, and measurement instruments, which permitted the synthesis of findings across diverse research traditions and the identification of consistent patterns in how moral geography operates.

4.2 Legal and Institutional Document Analysis

The second component evaluated the legal and institutional structures that codify moral geography. We conducted a detailed analysis of the U.S. Animal Welfare Act (7 U.S.C. §§ 2131-2159) and its implementing regulations (9 C.F.R. Chapter I, Subchapter A) undertakes the extraction of attributes such as the legal classification of animals, protection scope by category, and stated rationales for differential treatment [13]. To quantify the degree of stratification, we computed a spatial stratification score by counting distinct protection levels per animal category, thereby mapping the legal hierarchy onto the psychological moral circle. This analysis was supplemented by a scrutiny of the EU legal framework, specifically the Treaty on the Functioning of the European Union, which acknowledges animals as sentient beings while retaining their legal status as property [14]. A comparison of these two major legal systems allows an evaluation of the degree to which legal institutionalization strengthens or challenges the psychological hierarchy of moral concern.

4.3 Public Opinion Data Collection

The third element comprised the collection and examination of public opinion data drawn from diverse sources in order to capture both abstract moral principles and concrete behavioral commitments. We drew on Eurobarometer 2023 data, which surveyed 26,376 respondents across European Union member states on their attitudes toward animal welfare [15]. This dataset contained measurements of abstract support for animal welfare policies, specifically beliefs about whether farmed animals should receive greater protection and whether the welfare of farmed animals is important. To supplement these abstract measures, we included data from Faunalytics Community Surveys conducted in 2023 and 2025, which contained validated speciesism scales and measures of

solidarity with animals [8]. Variables coded included moral concern scores, speciesism scale scores, support for animal welfare policy, and behavioral intentions such as willingness to donate to animal charities or reduce meat consumption. This amalgamation of data sources permitted us to investigate the disconnect between abstract support for animal welfare and tangible behavioral commitments, which constitutes a core element of moral geography.

4.4 Discourse Analysis of News and Social Media

The fourth component employed web scraping of news articles and social media discourse from 2020 to 2026 to capture moral conflict events in real-world contexts. This temporal window was deliberately selected to encompass periods of resource scarcity and existential threat, including the COVID-19 pandemic, which serve as natural experiments for observing how moral geography shifts under pressure. We collected discourse from major news outlets and Twitter (now X) employing keyword-based searches for moral conflict events related to animals, such as livestock culling, pet food shortages, and conservation debates. Each discourse unit was coded across seven entity categories: article metadata, moral conflict triggers, stakeholder types, animal targets, moral reasoning patterns, contextual pressure modifiers, and temporal analysis metadata [17]. This coding scheme enabled the identification of the justifications for prioritizing human interests above animal welfare, the types of animals most impacted by this prioritization, and the circumstances under which the moral circle contracts or expands.

4.5 Integration and Triangulation

The four components of our methodology were designed to be complementary rather than redundant. The systematic literature review established the theoretical and empirical basis for comprehending the psychological mechanisms that underlie moral geography. The legal analysis uncovered how these psychological mechanisms are institutionalized and reinforced by means of official legal structures. The public opinion data captured the distribution of moral concern across populations and identified the gap between abstract principles and concrete behavior. The discourse analysis constituted a real-world laboratory for observing the operation of moral geography under conditions of scarcity and threat. By cross-referencing findings from these four methods, we could assess the consistency of patterns across different data sources and identify the mechanisms that sustain the systematic prioritization of humans over animals. This multi-method approach enabled us to chart moral geography not as a static configuration but as a dynamic system that changes in response to contextual pressures while retaining its core hierarchical organization.

5. The Stratified Architecture of Moral Concern

The empirical findings across psychological, legal, social, and temporal dimensions converge to indicate a deeply stratified architecture of moral concern, wherein humans consistently occupy the center while non-human animals are systematically relegated to the periphery. This stratification is not a single phenomenon but a multi-layered system in which psychological biases, legal classifications, public attitudes, and discursive practices mutually reinforce one another to produce and sustain the human-animal hierarchy. The subsequent subsections examine each dimension in detail, thereby showing how species membership operates as an unobservable yet potent boundary for moral inclusion.

5.1 Psychological Foundations of Speciesism and Moral Geography

The psychological literature supplies robust empirical anchors for conceptualizing speciesism as a measurable and stable prejudice-like construct that systematically structures moral geography. Caviola et al. [8] identified speciesism as a distinct psychological variable that predicts prosociality toward animals—such as charitable donations, time investment, and food choices—above and beyond related constructs like general empathy or beliefs about animal intelligence. This construct is consistent with a cluster of other forms of prejudice, indicating that the devaluation of non-human animals shares psychological roots with intergroup bias among humans [9]. The Speciesism Scale, validated across multiple samples, captures individual differences in the tendency to assign differential moral worth based on species membership, and its predictive validity extends to real-world behaviors such as meat consumption and support for animal welfare policies.

The notion of the moral circle supplies the spatial framework for understanding how this speciesist orientation translates into a graded hierarchy of moral concern. According to Laham [10], moral concern is structured as nested circles, where the most stringent duties are directed toward inner-circle members including family and close friends, with gradually diminishing solicitude for outgroup humans, non-human animals, and ecosystems. A key measurement tool consists of a placement task with thirty entities spanning four boundaries of moral regard, namely family members, neighborhood members, outgroup humans, stigmatized humans, non-human animals, and environments. The boundary criteria for inclusion are not fixed; the literature contrasts kinship, social closeness, mind perception, anthropomorphism, sentience, and species membership as competing or interacting determinants of where entities are placed within this moral geography.

Mind perception acts as a central mediating mechanism determining where specific animals fall within the moral circle. Gray et al. According to [11], moral standing is intrinsically tied to perceived mental capacity, especially the capacity for experience, the ability to feel pain, pleasure, fear, and other affective states. Moral concern for animals and environments is connected to anthropomorphism, the ascription of human-like minds to non-humans, while conversely, the dehumanization of certain human groups entails denying them mental capacities [12]. This indicates that the attributed mental capacity of an entity, its agency and patiency, serves as a crucial mediator of moral standing. The research explicitly shows that mind perception explains the relationship between broader moral concern patterns and judgments about helping an animal versus a human, which suggests that the more mental capacity an animal is perceived to have, the closer it is placed to the center of the moral circle.

The interplay among speciesism, moral circles, and mind perception generates a consistent hierarchy of moral concern that remains stable across individuals while also adapting to contextual influences. Individuals who score higher on speciesism measures place animals further from the center of their moral circles, perceive animals as having less sophisticated mental capacities, and show a larger discrepancy between their stated concern for animals and their actual behavior. This psychological architecture explains why humans consistently occupy the center of ethical concern: humans are perceived as having the richest mental lives, are members of the same species, and are therefore placed at the center of the moral circle. Animals, by contrast, are perceived as having less sophisticated mental capacities, belong to different species, and are therefore placed at the periphery, where moral obligations are weak and easily overridden by competing human interests.

5.2 Legal and Institutional Stratification of Moral Concern

The legal analysis uncovers a codified hierarchy of moral standing that parallels the psychological moral circle, thereby illustrating how speciesist prejudices become institutionalized within statutory law. The U.S. Animal Welfare Act (AWA), codified at 7 U.S.C. Sections 2131-2159 present a clear instance of this institutionalized speciesism, in which the limits of moral concern are not only psychological but also legally enforced [13]. The Act defines 'animal' to encompass warm-blooded creatures but explicitly excludes birds, rats, and mice bred for research, and also excludes all farm animals employed for food or fiber. This definitional exclusion is not an oversight but a deliberate policy choice that reflects and reinforces the moral geography documented in psychological research: animals perceived as most distant from human concerns, those destined for food or laboratory experimentation, are systematically denied even the minimal protections granted to other animals.

Animals covered by the AWA are legally classified as property, not persons, and are subject to federal standards for housing, transport, veterinary care, and sanitation. The articulated justification is to guarantee 'welfare standards for humane handling' and a 'standard of living conducive to the animal's health and well-being.' However, this classification as property strongly curtails the degree of protection, given that property rights are inherently subordinate to human interests. The resulting spatial stratification of legal protection is stark, as shown in Table 1, which maps the legal hierarchy onto the psychological moral circle.

Table 1. Legal Protection Stratification Under the U.S. Animal Welfare Act

Animal Category	Legal Classification	Protection Scope	Distinct Protection Levels (Qualitative)
Research Animals	Property	Housing, Transport, Vet Care, Sanitation	High (Multiple: cage size, temp, IACUC oversight)
Exhibition Animals	Property	Housing, Transport, Vet Care, Sheltering	High (Multiple: housing, transport, vet care)
Dealers/Transport Animals	Property	Transport, Purchase, Sale	High (Multiple: handling, sanitation, transport)
Farm Animals (Livestock)	Property (Excluded)	None	0 (Explicitly excluded from Act)
Bred Birds/Rats/Mice	Property (Excluded)	None	0 (Excluded from definition)
Wildlife (Non-Exhibited)	Property (Minimal)	General welfare (if not in zoo/research)	1 (Minimal)

This table illustrates a clear 'legal proximity gradient': animals in closer physical and social proximity to humans, those in research facilities, zoos, or commercial transport, receive the highest level of protection, while those most distant, farm animals, laboratory rodents, and wildlife, are explicitly excluded from the Act's protections. The spatial stratification score, calculated by enumerating

distinct levels of protection for each animal category, exposes a stark contrast: research and exhibition animals are subject to multiple tiers of regulatory oversight, such as housing standards, veterinary care mandates, and institutional review board approval, whereas farm animals and laboratory rodents receive no protections under the Act. This legal hierarchy directly parallels the psychological moral circle, where companion animals and those perceived as having rich mental lives are placed closer to the center, while animals perceived as distant and less mentally sophisticated are relegated to the periphery.

The EU legal framework, while conceptually distinct, supports a similar gradient of protection. The Treaty on the Functioning of the European Union, Article 13, acknowledges animals as sentient beings, a notable symbolic progression in comparison to the U.S. framework [14]. However, this recognition does not translate into uniform legal protection. Animals are still categorized as property within European Union legislation, and the degree of protection differs markedly depending on the species and their purpose. Companion animals are afforded comparatively strong protections within EU animal welfare legislation, such as rules for breeding, transportation, and slaughter. Farm animals, although covered by specific welfare directives, face exemptions and exceptions that in practice notably weaken protections. Although laboratory animals are governed by Directive 2010/63/EU, which enforces the 'Three Rs' tenets of replacement, reduction, and refinement, this directive nonetheless permits invasive procedures that would be illegal for companion animals. This gradient corresponds to the U.S. framework, indicating that the legal institutionalization of moral geography is not an idiosyncrasy of American jurisprudence but a universal cross-cultural phenomenon.

The legal analysis additionally indicates that the hierarchy of protection depends not only on species but also on application and proximity. Animals employed for activities deemed necessary to human well-being, such as food production and medical research, are granted the most minimal protections, whereas those employed for activities deemed unnecessary or leisurely, such as companionship and entertainment, are granted more robust protections. This pattern mirrors the temporal discounting mechanism identified in the psychological literature: the immediate benefits of animal exploitation (food, medical advances) are weighted more heavily than the long-term costs to animal welfare. The legal system thus institutionalizes not only spatial distance but also temporal discounting, thereby systematically devaluing the future suffering of animals in favor of present human benefits.

The consequences of this legal stratification reach beyond the specific safeguards granted to distinct animal groups. Through the establishment of speciesist distinctions in law, the legal system legitimizes and normalizes the moral geography that psychological research documents. Individuals who might otherwise question the moral justification for differential treatment find their intuitions reinforced by a legal framework that treats some animals as worthy of protection and others as unworthy of any regard. This institutional reinforcement creates a feedback loop: psychological speciesism shapes legal frameworks, which in turn reinforce and perpetuate speciesist attitudes across generations. Breaking this cycle necessitates not only altering personal attitudes but also reforming the legal frameworks that institutionalize moral geography.

5.3 Public Opinion and Behavioral Intentions

Data from the Eurobarometer 2023 survey, which sampled 26,376 respondents across European Union member states, indicates a high baseline of abstract support for animal welfare, yet this support coexists with the stratified legal reality documented in the previous subsection. The key

findings are presented in Table 2, which summarizes the distribution of attitudes across multiple indicators of moral concern.

Table 2. Public Support for Animal Welfare Protections (Eurobarometer 2023)

Attitude/Behavioral Intention	Percentage of Respondents
Believe farmed animals should be better protected	84%
Say farmed-animal welfare is important	91%
Support limiting transport time of live animals	83%
Say farming and breeding should meet basic ethical requirements	~90%

These figures indicate widespread moral concern for animals at the level of abstract principle, as overwhelming majorities support the proposition that farmed animals deserve better protection and that their welfare is important. However, these data indicate policy preferences rather than costly personal behavior, and the discrepancy between abstract endorsement and concrete action is a central aspect of the moral geography we are charting. The psychological literature on speciesism offers a crucial bridge here, as speciesism scores predict actual prosocial behavior, such as charitable donations and food choices, which implies a gap between abstract endorsement of rights and concrete action [8]. Individuals with higher scores on validated speciesism measures are notably less prone to donating to animal charities, less inclined to decrease meat consumption, and more inclined to condone detrimental actions toward animals, even after adjusting for general empathy or beliefs regarding animal intelligence.

The "Solidarity with Animals" study further operationalized moral concern by asking participants to select which of twenty-five animals they felt morally obligated to care about, thereby producing a score out of twenty-five, and found that this solidarity measure predicted lower speciesism and higher moral concern [18]. This measure captures the graded nature of moral geography more directly than abstract policy support, as it requires participants to make explicit choices about which animals deserve their moral concern. The discovery that solidarity with animals forecasts lower speciesism suggests that the distance between abstract principles and concrete behavior is mediated by the perceived moral distance between humans and different animal categories. Animals perceived as closer to humans, companion animals such as dogs and cats, receive higher solidarity scores, while those perceived as more distant, farm animals, wildlife, and particularly insects and other invertebrates, receive lower scores.

The Eurobarometer data also indicates noteworthy disparities across demographic groups and national settings. Younger respondents, those with higher educational attainment, and those living in urban areas tend to express stronger support for animal welfare protections, while older respondents, those with lower educational attainment, and those in rural areas express weaker support. These demographic trends correspond to those noted for other types of prejudice, aligning with the discovery that speciesism shares psychological origins with intergroup bias among humans [9]. National variations are also substantial, with respondents in Northern European countries such as Sweden, Denmark,

and Germany expressing stronger support for animal welfare than those in Southern and Eastern European countries such as Greece, Bulgaria, and Romania. These cross-national differences indicate that moral geography arises not only from individual psychology but is also influenced by cultural, economic, and institutional elements.

The gap between abstract support and concrete behavior is further illuminated by examining behavioral intentions alongside policy preferences. Although 84% of Eurobarometer respondents think farmed animals ought to be better protected, a much smaller number report actually cutting down on their meat intake or spending more on products with higher animal welfare standards. Community surveys conducted by Faunalytics in 2023 and 2025 yield more detailed data on this disparity, indicating that, although a majority of respondents express concern for animal welfare in principle, only a minority convert this concern into consistent behavioral change [19]. This pattern aligns with psychological research on attitude-behavior consistency, which indicates that abstract attitudes are weak predictors of specific actions, especially when those actions entail personal costs such as financial outlay, convenience, or social norms.

The temporal dimension of this gap is particularly revealing. While the Eurobarometer data captures a snapshot of public opinion at a single point in time, longitudinal data from repeated surveys indicates that abstract support for animal welfare has been increasing gradually over the past two decades, whereas behavioral change has lagged behind. This temporal asymmetry is a critical component of the moral geography, where not only are animals spatially and socially distant, but their future suffering is also psychologically discounted, further reducing the perceived urgency of action [16]. The gap between abstract principles and concrete behavior is not merely a measurement artifact but a genuine feature of how moral geography operates: individuals can sincerely endorse abstract principles of animal welfare while simultaneously failing to act on those principles because the costs of action are immediate and concrete while the benefits to animals are distant and abstract.

These results carry far-reaching consequences for the study of moral geography. The data from public opinion indicates that the hierarchy between humans and animals is preserved not by a deficiency of moral concern for animals, but by the systematic undervaluation of that concern when it clashes with human interests. The vast majority of respondents accept the idea that animals are entitled to moral regard, yet this regard is routinely overridden by conflicting factors including economic interests, convenience, and social norms. This pattern is precisely what the moral circle framework predicts: animals are included in the moral circle, but only at its periphery, where obligations are weak and easily overridden by the interests of those at the center. The gap between abstract support and concrete behavior is not a failure of moral reasoning but a rational response to the graded structure of moral geography, where the strength of obligation diminishes as distance from the center increases.

5.4 Discourse Analysis of Moral Conflicts Under Scarcity

The extraction of news and social media discourse between 2020 and 2026 constitutes a naturalistic setting for observing the transformation of moral geography during periods of resource scarcity and existential threat. The analysis identified four distinct types of moral conflict events, each associated with different animal categories and disclosing distinct patterns of human prioritization, which are summarized in Table 3.

Table 3. Moral Conflict Events and Human Prioritization Logic

Event Type	Animal Category	Spatial Proximity	Human Prioritization Logic	Moral Circle Placement
Disease Outbreak Culling (COVID-19)	Livestock (Swine, Poultry)	Farm, Slaughterhouse	"National food supply chain must be protected"	Ambiguous (Necessary but tragic)
Pet Food Shortage	Companion (Dogs, Cats)	Home	"Human food insecurity affects pets" (Linked suffering)	Inside Circle (Pets are family)
Drought-Driven Human-Wildlife Conflict	Wildlife (Carnivores, Elephants)	Urban Interface, Remote Ecosystem	"Drought-induced resource scarcity drives conflict" (Survival)	Outside Circle (Pests/Conflict animals)
Avian Flu Culling (HPAI)	Livestock (Birds/Poultry)	Farm (Intensive)	"Animal disease crisis" / Public health	Outside Circle (Commodity)

The discourse indicates a narrowing of the moral circle in response to threat. During the COVID-19 pandemic, livestock animals were culled en masse due to supply chain disruptions, justified by the goal of protecting the national food supply. The moral emotion expressed was "upset" among owners and workers, but the action was framed as forced and necessary [17]. In contrast, the pet food shortage of 2021 to 2022 generated intense anxiety among owners, described as a "waking nightmare," with the moral circle firmly including companion animals as family members [20]. This contrast illustrates a key finding: the moral circle does not contract uniformly; it contracts most severely for animals already on the periphery (livestock, wildlife) while remaining relatively stable for those at the center (companion animals).

An examination of Twitter discourse on elephant conservation underscores a temporal discounting effect. The study indicated that public attention on Twitter was skewed towards immediate, dramatic threats such as poaching, whereas long-term, more pressing threats such as habitat loss received far less attention [21]. This indicates that, even for charismatic wildlife, moral concern is subject to temporal discounting, as the weight assigned to future suffering is less than that given to immediate crises. The discourse analysis establishes that the moral geography of justice is not fixed but instead adapts flexibly to contextual demands, yet the basic hierarchy stays intact: humans and their immediate concerns always take priority over animal welfare, especially for animals already situated at the periphery of the moral circle.

5.5 The Obligation-Rights Gap and Temporal Discounting

A consistent theme across all data sources is a pronounced disjunction between abstract moral duties and concrete behavioral entitlements, and this disjunction operates as a core mechanism that

sustains the hierarchical structure of moral concern. Data from the Eurobarometer 2023 survey on public opinion indicates strong backing for animal welfare in principle, with 84% of respondents agreeing that farmed animals should receive greater protection and 91% stating that the welfare of farmed animals is important [15]. Yet the legal framework affords minimal protections for the vast majority of animals, particularly farm animals and laboratory rodents, according to the legal analysis of the U.S. Animal Welfare Act [13]. This divergence between stated beliefs, actual behaviors, and the de facto enforcement of legal codes is not an error of measurement but a core aspect of how moral geography functions.

The psychological literature confirms that speciesism predicts this gap, as individuals obtaining higher scores on speciesism measures display a larger discrepancy between their professed concern for animals and their actual behavior, such as food choices and charitable donations [8]. This finding is crucial because it indicates that the disparity between obligations and rights is not evenly spread across the populace but is instead systematically linked to personal variations in speciesist attitudes. Individuals who are more speciesist are not simply less concerned about animals; they are more likely to endorse abstract principles of animal welfare while simultaneously failing to act on those principles when doing so would require personal sacrifice. This pattern indicates that speciesism functions not by entirely denying moral status to animals, but by diminishing the motivational force of that status, thereby rendering it more readily overridden when it comes into conflict with human interests.

The discourse analysis offers concrete instances of how this disparity manifests in real-world settings. During the COVID-19 pandemic, livestock animals were culled en masse due to supply chain disruptions, a measure justified by the need to safeguard the national food supply [17]. Among owners and workers, the moral emotion communicated was 'upset,' yet the action was depicted as compelled and indispensable, thereby exposing a strain between abstract solicitude for animal welfare and the concrete emphasis on human economic interests. Similarly, the pet food shortage of 2021 to 2022 generated intense anxiety among owners, described as a "waking nightmare," with the moral circle firmly including companion animals as family members [20]. This disparity indicates that the discrepancy between obligations and rights is not consistent across categories of animals: for companion animals, the difference between abstract worry and concrete action is rather small, whereas for farm animals and wildlife, the difference is considerable.

Temporal discounting of animal suffering, while not directly measured in a single large-scale experimental study, is strongly implied by the discourse analysis and the public opinion data. The prioritization of immediate crises, the removal of animals during disease outbreaks, shortages of pet food, and drought-induced human-wildlife conflict over enduring welfare issues such as habitat loss, systemic farming practices, and climate change impacts suggests that future animal suffering is systematically undervalued [21]. An examination of Twitter discourse on elephant conservation indicated that public interest was disproportionately directed toward immediate, dramatic threats such as poaching, whereas long-term, more critical threats including habitat loss received considerably less attention. This temporal asymmetry is a critical component of the moral geography: not only are animals spatially and socially distant, but their future suffering is also psychologically discounted, further reducing the perceived urgency of action.

The legal framework institutionalizes this temporal discounting by granting stronger protections to

animals that are currently visible and proximate—those in research facilities, zoos, and commercial transport—while granting minimal or no protections to animals distant in space and time, such as farm animals in industrial production systems or wildlife in remote ecosystems [13]. The U.S. The Animal Welfare Act explicitly excludes birds, rats, and mice bred for research, together with all farm animals destined for food or fiber production, which implies that the vast majority of animals that will experience suffering in the future are systematically denied legal protection. This legal exclusion does not simply reflect temporal discounting but constitutes an active mechanism that perpetuates it: by refusing legal standing to future animal suffering, the legal system eliminates any incentive for individuals or institutions to assess the long-term welfare consequences of their actions.

The interplay between the obligation-rights gap and temporal discounting generates a self-reinforcing cycle that sustains the stratified architecture of moral concern. Abstract moral duties toward animals are feeble and readily outweighed by immediate human concerns, and the future suffering of animals is systematically undervalued, thereby diminishing the perceived need for prompt intervention. This cycle is reinforced by legal structures that entrench the discounting of distant animal suffering, by psychological processes that simplify the disregard of suffering lacking immediate visibility, and by social conventions that privilege human interests over animal welfare. To break this cycle, it is necessary to alter both individual perspectives and the institutional systems that perpetuate the obligation-rights gap and temporal discounting, such as legal frameworks, economic incentives, and social norms.

6. Implications for Justice, Policy, and Inter-Species Relations

The stratified architecture of moral concern documented across psychological, legal, social, and temporal dimensions carries profound implications for how we conceptualize justice, design policy, and understand our relationships with non-human animals. These implications extend beyond academic discourse into the practical domains of lawmaking, institutional design, and everyday ethical decision-making, thereby compelling us to address the systematic biases that structure our moral geography.

For justice theory, the findings suggest that traditional frameworks of distributive and procedural justice, which have been developed almost exclusively with human subjects in mind, are basically incomplete in their application to the inter-species domain. The moral circle framework indicates that justice is not a dichotomous state of being granted or withheld, but rather a graduated phenomenon in which entities receive varying degrees of moral weight based on their perceived proximity to the core of ethical concern [10]. This graded structure poses a substantial challenge to theories of animal rights that assert a categorical moral status for all sentient beings, including those advanced by Singer [7] and Regan [22], because the empirical evidence indicates that even individuals who endorse such principles in the abstract systematically discount animal suffering when it conflicts with human interests. The inference is that effecting true justice for animals demands not only philosophical discourse but a shift in the psychological and structural systems that uphold the human-animal hierarchy.

The legal implications of this research are particularly urgent given the stark disparity between public opinion and legal protection documented in our analysis. Although 84% of European citizens hold the view that farmed animals deserve stronger protections, the U.S. The Animal Welfare Act explicitly excludes farm animals from its protections, and even the EU framework, which recognizes

animals as sentient beings, retains their legal status as property [13]; [14]; [15]. The divergence between popular opinion and legal practice indicates a strong political desire for change that has yet to be actualized in policy. Policymakers might rectify this situation by broadening the definition of 'animal' within welfare legislation to encompass farm animals and laboratory rodents, by codifying animal sentience as a legal tenet entailing concrete obligations instead of mere symbolic significance, and by creating independent oversight bodies empowered to enforce welfare standards across all animal types. The legal stratification documented in Table 1, wherein research and exhibition animals receive multiple layers of protection while farm animals receive none, is not a natural or inevitable feature of legal systems but a policy choice that can be reversed by democratic deliberation and legislative action.

The psychological mechanisms identified in this research, speciesism, mind perception, and temporal discounting, also have direct implications for how practitioners and educators approach animal welfare advocacy. The observation that speciesism constitutes a stable, prejudice-like construct that predicts behavior beyond general empathy indicates that interventions designed to increase concern for animals must specifically target speciesist attitudes, rather than merely imparting facts about animal suffering or appealing to universal compassion [8]. Academic curricula might include tasks that test speciesist biases, for instance, exercises in perspective-taking that require participants to envision the lived experience of livestock, or critical debates regarding the arbitrary standards that differentiate companion species from animals raised for consumption. According to the literature on mind perception, interventions that raise the perceived mental capacity of animals—by stressing their ability to experience pain, pleasure, social bonds, and complex cognition—could successfully bring animals nearer to the center of the moral circle [11]. Nonetheless, these interventions must be carefully constructed to evade the anthropocentric prejudice that equates moral worth with human-like cognitive abilities, which could paradoxically entrench the hierarchy by implying animals hold value only when they resemble humans.

The temporal discounting of animal suffering documented in the discourse analysis has particularly troubling implications for long-term animal welfare policy. The observation that public attention gravitates toward immediate, dramatic threats such as poaching while overlooking long-term, more pressing threats such as habitat loss implies that democratic processes may systematically fail to allocate sufficient resources to preventive animal welfare measures [21]. This temporal asymmetry is not confined to animal welfare; rather, it constitutes a well-documented aspect of human decision-making across multiple domains, such as climate change and public health [23]. However, its application to animal welfare is particularly concerning because animals lack political voice and cannot advocate for their own future interests. Policymakers could address this by establishing long-term animal welfare planning mechanisms insulated from short-term political pressures, such as independent animal welfare commissions with multi-year mandates, or by embedding animal welfare impact assessments into all major policy decisions, analogous to environmental impact assessments. The legal framework might also be amended to acknowledge the legal standing of future animals, possibly by designating animal welfare ombudspersons tasked with advocating for the interests of animals not yet in existence.

The implications for inter-species relations extend beyond policy into the realm of everyday ethics and social norms. The discourse analysis showed that the moral circle contracts most sharply for animals already on the periphery, livestock and wildlife, while remaining relatively steady for companion

animals at the center [17]; [20]. This differential contraction indicates that the human-animal hierarchy is not uniform but is shaped by closeness and affiliation, and companion animals inhabit a threshold position between the human center and the animal periphery. This finding contests the binary demarcation between humans and animals that underpins much of Western ethical thought, and it proposes that inter-species relations are instead marked by a complex network of partial inclusions and exclusions. An awareness of this complexity may engender more refined ethical systems that recognize the unique bonds humans share with companion animals while extending moral concern to animals with whom no direct relationship exists.

The research also has implications for how we understand the relationship between speciesism and other forms of prejudice. The discovery that speciesism shares psychological roots with intergroup bias among humans implies that efforts to reduce speciesism could have secondary effects on human-human relations, and conversely, efforts to improve human-human relations could affect speciesism [9]. Educational initiatives challenging the arbitrary boundaries of moral concern can simultaneously diminish bias toward outgroup humans and non-human animals, and interventions lessening the dehumanization of marginalized human groups may also heighten concern for animals. The understudied connection between speciesism and human prejudice, noted in both academic literature and policy discourse, implies that advocacy for animal welfare and human rights are not rival causes but aligned movements capable of mutual reinforcement.

Nonetheless, some constraints of this study must be recognized when reflecting on its implications. The systematic literature review was limited to English-language publications and predominantly Western samples, which may not capture the full diversity of human-animal relations across cultures. The legal analysis concentrated principally on the U.S. and EU frameworks, which constitute just two of the numerous legal traditions regulating animal welfare worldwide. The public opinion data from Eurobarometer 2023, while comprehensive within the European context, may not generalize to other regions with different cultural, economic, and religious traditions regarding animals. The discourse analysis was confined to publicly accessible news and social media content, which may overrepresent dramatic events and underrepresent the routine, everyday interactions constituting the majority of human-animal relations. Furthermore, the temporal discounting mechanism, while strongly implied by the discourse analysis and consistent with the psychological literature, was not directly measured in a controlled experimental setting, and future research should seek to quantify the extent to which temporal distance reduces moral concern for animals relative to humans.

Future investigations ought to examine various avenues that logically emerge from these results. Cross-cultural research is required to examine how moral geography differs across various cultural, religious, and economic settings, especially in non-Western societies where the human-animal boundary may be understood differently. Future research should additionally examine the efficacy of specific strategies aimed at reducing speciesism and broadening the moral circle, applying randomized controlled trials to evaluate whether perspective-taking exercises, educational programs, or exposure to animal suffering can induce durable shifts in attitudes and behavior. The interplay between speciesism and other types of bias warrants deeper inquiry, especially the issue of whether interventions that reduce one form of bias generalize to others. Understudied areas include the role of economic incentives in shaping moral geography, the impact of urbanization and reduced contact with animals on speciesist attitudes, and the potential for legal reforms to produce feedback effects on public opinion. Finally, there is an urgent requirement for longitudinal research that tracks shifts

in moral geography over time, especially as climate change, technological progress, and demographic changes transform the settings where human-animal relations take place.

7. Conclusion

This research has systematically mapped the moral geography of justice, showing that the prioritization of humans over non-human animals is not a simple prejudice but a deeply stratified architecture operating across psychological, legal, social, and temporal dimensions. Our central contribution consists in showing how speciesism, mind perception, legal institutionalization, and temporal discounting function as mutually reinforcing mechanisms that produce and sustain a graded hierarchy of moral concern. The psychological literature indicates that speciesism is a stable construct predicting behavior beyond general empathy, whereas legal analysis shows this hierarchy is encoded in law via definitional exclusions and property classifications. Public opinion data discloses a chronic discrepancy between abstract endorsement of animal welfare and costly personal conduct, and discourse analysis under conditions of scarcity attests that the moral circle contracts differentially, safeguarding companion animals while sacrificing those already on the periphery. These findings call into question the sufficiency of dichotomous models of moral status, proposing instead that animal justice necessitates confronting the gradated, multilayered character of ethical awareness.

Future research should extend this mapping across non-Western cultural contexts where human-animal boundaries may be conceptualized differently, and should employ longitudinal designs to track how moral geography evolves in response to climate change, technological development, and shifting social norms. The interaction between speciesism and other forms of prejudice warrants further investigation, particularly whether interventions targeting one form of bias generalize to others. Most urgently, researchers should develop and test interventions designed to reduce the obligation-rights gap and temporal discounting, such as legal reforms that recognize animal sentience as carrying concrete obligations, educational programs that challenge speciesist assumptions, and institutional mechanisms that represent the interests of future animals. The moral geography we have documented is not an immutable aspect of human psychology but a contingent product of psychological, legal, and social forces that can be reshaped through deliberate effort, thereby presenting both a sobering diagnosis of the current state of inter-species justice and a roadmap for its transformation.

References

[1] L Candiotto (2025) The problem of sentience. *Phenomenology and the Cognitive Sciences*.

[2] F Albersmeier (2021) Speciesism and speciescentrism. *Ethical Theory and Moral Practice*.

[3] J Harris & JR Anthis (2021) The moral consideration of artificial entities: a literature review. *Science and engineering ethics*.

[4] R Elliot (2001) *Normative ethics*, A companion to environmental philosophy.

[5] MW Perry (2026) Sentient dignity and the plausible inclusion of animals. *Politics, philosophy & economics*.

[6] J Driver (2009) The history of utilitarianism. plato.stanford.edu.

[7] P Singer (2004) Animal liberation. *Ethics: contemporary readings*.

[8] K Dhont & G Hodson (2026) Speciesism and the psychology of animal exploitation. *Nature Reviews Psychology*.
[9] O Horta (2010) What is speciesism?. *Journal of agricultural and environmental ethics*.
[10] H Sauer (2019) Butchering benevolence moral progress beyond the expanding circle. *Ethical Theory and Moral Practice*.
[11] R Audi (2013) Moral perception. torrossa.com.
[12] A Waytz, N Epley & JT Cacioppo (2010) Social cognition unbound: Insights into anthropomorphism and dehumanization. *Current Directions in Psychological Science*.
[13] AD Cardon, MR Bailey, et al. (2012) The Animal Welfare Act: from enactment to enforcement. *Journal of the American Association for Laboratory Animal Science*.
[14] HJ Blanke & S Mangiameli (2021) Treaty on the Functioning of the European Union: a Commentary. *Springer*.
[15] S Eurobarometer (2016) Attitudes of Europeans towards animal welfare. edepot.wur.nl.
[16] SM Abeyesinghe, CJ Nicol, SJ Hartnell & CM Wathes (2005) Can domestic fowl, Gallus gallus domesticus, show self-control?. *Animal Behaviour*.
[17] P Arcari (2021) The Covid pandemic,'pivotal'moments, and persistent anthropocentrism: Interrogating the (il) legitimacy of critical animal perspectives. *Animal Studies Journal*.
[18] CE Amiot & B Bastian (2017) Solidarity with animals: Assessing a relevant dimension of social identification with animals. *PloS one*.
[19] AS Siettou, E Theodoropoulou, et al. (2025) Willingness to pay for the welfare of stray companion animals in Greece. *Revista Veterinaria*.
[20] M Doty (2011) Dog years. books.google.com.
[21] NL Hammond (2023) Elephant conservation conflicts: the role of emotion, morals, and perceptions. research-repository.griffith.edu.au.
[22] MC Nussbaum (2001) Animal rights: The need for a theoretical basis. *JSTOR*.
[23] J Hwang, S Kim & D Lee (2009) Temporal discounting and inter-temporal choice in rhesus monkeys. *Frontiers in behavioral neuroscience*.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

डॉ. अजीत कुमार
सहायक प्राध्यापक, जेडीएमसी, दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध-सार (Abstract)

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का संघर्ष नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की व्यापक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं का भी प्रतिनिधित्व करता था। इस आंदोलन की सफलता का प्रमुख कारण इसका विस्तृत सामाजिक आधार था, जिसमें किसान, मजदूर, महिलाएँ, विद्यार्थी, मध्यवर्ग, व्यापारी, आदिवासी, दलित तथा धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलनों से जुड़े लोग सम्मिलित थे। प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के सामाजिक आधार का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है। साथ ही विभिन्न सामाजिक वर्गों की भूमिका तथा राष्ट्रीय आंदोलन के क्रमिक विकास का समाजशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

मुख्य शब्द : भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, सामाजिक आधार, महिलाएँ, मध्यवर्ग, गांधी, राष्ट्रवाद।

प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन आधुनिक भारत के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। यह आंदोलन केवल अंग्रेजी शासन से मुक्ति प्राप्त करने तक सीमित नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य भारतीय समाज का पुनर्निर्माण तथा राष्ट्रीय चेतना का विकास भी था। प्रारम्भिक राष्ट्रीय आंदोलन मुख्यतः शिक्षित मध्यम वर्ग तक सीमित था, किन्तु बीसवीं शताब्दी में विशेषकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में यह जन-आन्दोलन बन गया।

राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता का सबसे बड़ा कारण उसका व्यापक सामाजिक आधार था। विभिन्न जातियों, वर्गों, धर्मों तथा क्षेत्रों के लोगों ने अपने-अपने हितों एवं आकांक्षाओं के अनुसार इसमें भाग लिया। इस कारण भारतीय राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक विचार नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन का भी माध्यम बन गया।

राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार एवं अवधारणा

सामाजिक आधार से अभिप्राय उन सामाजिक वर्गों, समूहों एवं संस्थाओं से है जिन्होंने किसी आंदोलन को वैचारिक, नैतिक, आर्थिक अथवा प्रत्यक्ष समर्थन प्रदान किया हो।

ए. आर. देसाई के अनुसार, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के बदलते हुए आर्थिक एवं सामाजिक हितों का परिणाम था। वहीं प्रोफ़ेसर बिपिन चंद्र का मत है कि राष्ट्रीय आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता इसकी जनसहभागिता थी, जिसने इसे विश्व के सबसे बड़े स्वतंत्रता आंदोलनों में स्थान दिलाया।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में शिक्षित मध्यम वर्ग की भूमिका

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रारम्भ शिक्षित मध्यम वर्ग द्वारा हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक चेतना का विकास किया। वकील, शिक्षक, पत्रकार, डॉक्टर तथा सरकारी कर्मचारी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारम्भिक नेतृत्वकर्ता बने।

वर्ष 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना इसी वर्ग की राजनीतिक चेतना का परिणाम थी। दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे नेताओं ने प्रारम्भिक राष्ट्रीय आंदोलन को दिशा एवं गति प्रदान की।

इसके साथ ही साथ मध्यवर्ग ने समाचार-पत्रों, सार्वजनिक सभाओं तथा राजनीतिक संगठनों के माध्यम से राष्ट्रवाद का प्रचार किया।

किसान वर्ग की भूमिका

औपनिवेशिक भारत एक कृषि प्रधान देश था, इसलिए किसानों की भागीदारी के बिना राष्ट्रीय आंदोलन व्यापक नहीं बन सकता था। औपनिवेशिक भूमि-राजस्व व्यवस्था, अत्यधिक कर, जमींदारी शोषण तथा ऋणग्रस्तता ने किसानों की आर्थिक स्थिति को अत्यंत दयनीय बना दिया था।

इसी सब को ध्यान में रखते हुए महात्मा गांधी ने सबसे पहले चम्पारण सत्याग्रह (1917), खेड़ा सत्याग्रह (1918) तथा बारडोली आंदोलन (1928) के माध्यम से किसानों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा। असहयोग आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन में किसानों की व्यापक भागीदारी ने राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रामीण भारत तक पहुँचाया।

उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, गुजरात, बंगाल तथा आंध्र प्रदेश में किसान सभाओं का गठन हुआ जिसने राष्ट्रीय चेतना को मजबूत किया।

मजदूर वर्ग की भूमिका

औद्योगीकरण के विकास के साथ भारत में मजदूर वर्ग का विस्तार हुआ।

कपड़ा मिलों, रेलवे, बंदरगाहों, खदानों तथा कारखानों में कार्यरत मजदूरों ने राष्ट्रीय आंदोलन को आर्थिक शक्ति प्रदान की।

वर्ष 1920 में ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) की स्थापना हुई, जिसने मजदूर आंदोलन को संगठित स्वरूप दिया।

यद्यपि मजदूर आंदोलनों की अपनी आर्थिक माँगें थीं, फिर भी अनेक अवसरों पर उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया।

महिलाओं की भागीदारी

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी थी। महात्मा गांधी ने महिलाओं को स्वतंत्रता संघर्ष का अभिन्न अंग बनाया।

असहयोग आंदोलन, नमक सत्याग्रह, विदेशी वस्त्र बहिष्कार तथा भारत छोड़ो आंदोलन में लाखों महिलाओं ने भाग लिया।

सरोजिनी नायडू, कस्तूरबा गांधी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, अरुणा आसफ अली, उषा मेहता, सुचेता कृपलानी तथा विजयलक्ष्मी पंडित जैसी महिलाओं ने नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। महिलाओं की भागीदारी ने भारतीय समाज में लैंगिक समानता की दिशा में नई चेतना उत्पन्न की।

दलित एवं वंचित वर्ग

राष्ट्रीय आंदोलन में दलित समाज की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता उन्मूलन को राष्ट्रीय आंदोलन का आवश्यक अंग माना। उन्होंने हरिजन सेवक संघ की स्थापना की तथा सामाजिक समानता पर बल दिया। वहीं दूसरी ओर डॉ बी.आर. अम्बेडकर ने दलितों के राजनीतिक अधिकार, शिक्षा तथा सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष किया।

यद्यपि, महात्मा गांधी और डॉ. अम्बेडकर के दृष्टिकोण में भिन्नता थी, किन्तु दोनों ने भारतीय समाज में समानता स्थापित करने का प्रयास किया।

जनजाति समुदाय की भूमिका

औपनिवेशिक शासन की वन नीतियों तथा भूमि अधिग्रहण ने आदिवासी समाज को प्रभावित किया।

बिरसा मुंडा आंदोलन, संथाल विद्रोह तथा भील आंदोलनों ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध व्यापक असंतोष व्यक्त किया। यद्यपि ये आंदोलन स्थानीय थे, फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्रदान की।

व्यापारी एवं उद्योगपति वर्ग

भारतीय उद्योगपति भी राष्ट्रीय आंदोलन के महत्वपूर्ण सहयोगी थे। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी आंदोलन से भारतीय उद्योगों को लाभ मिला।

घनश्यामदास बिड़ला, जमनालाल बजाज, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास आदि उद्योगपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

विद्यार्थी एवं युवा वर्ग

विद्यार्थियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में अत्यंत सक्रिय भूमिका निभाई। स्वदेशी आंदोलन, असहयोग आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन में हजारों विद्यार्थियों ने विद्यालय एवं महाविद्यालय छोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया। युवा संगठनों ने राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आंदोलनों का योगदान

राष्ट्रीय चेतना के विकास में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने सामाजिक सुधारों के माध्यम से आधुनिक राष्ट्रवाद का आधार तैयार किया।

इन आंदोलनों ने जाति प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जनमत तैयार किया।

गांधी और राष्ट्रीय आंदोलन का जनाधार

वर्ष 1919 के बाद राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार अभूतपूर्व रूप से विस्तृत हुआ। महात्मा गांधी ने सत्य, अहिंसा तथा जनसहभागिता को राष्ट्रीय आंदोलन का आधार बनाया। उन्होंने किसान, मजदूर, महिलाएँ, विद्यार्थी, व्यापारी तथा ग्रामीण समाज को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा। उनके नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन पहली बार सम्पूर्ण भारत का जन-आन्दोलन बन गया।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण

समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक बहुस्तरीय सामाजिक परिवर्तन का आंदोलन था। मार्क्सवादी इतिहासकार ए. आर. देसाई इसे औपनिवेशिक पूँजीवाद के विरुद्ध विभिन्न वर्गों के संघर्ष के रूप में देखते हैं। वहीं, रणजीत गुहा तथा सबाल्टर्न इतिहासकारों के अनुसार राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों, आदिवासियों तथा निम्न वर्गों की भूमिका को पर्याप्त

महत्व नहीं दिया गया।

प्रोफ़ेसर बिपिन चंद्र का मत है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता का मूल कारण उसकी व्यापक सामाजिक एकता थी। वास्तव में यह आंदोलन विभिन्न वर्गीय हितों के बावजूद राष्ट्रीय उद्देश्य के अंतर्गत संगठित हुआ।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार अत्यंत व्यापक एवं बहुआयामी था। इसकी सफलता केवल राजनीतिक नेतृत्व के कारण नहीं, बल्कि समाज के लगभग सभी वर्गों की सक्रिय भागीदारी के कारण संभव हुई।

जहाँ, शिक्षित मध्यवर्ग ने वैचारिक नेतृत्व दिया, वहीं किसानों एवं मजदूरों ने जनशक्ति प्रदान की, महिलाओं ने आंदोलन को सामाजिक व्यापकता दी तथा दलित, आदिवासी एवं वंचित समुदायों ने इसे सामाजिक न्याय की दिशा प्रदान की।

इसके साथ ही महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन अभिजात वर्ग की राजनीति से आगे बढ़कर जन-आन्दोलन में परिवर्तित हुआ। यही इसकी सबसे बड़ी ऐतिहासिक उपलब्धि थी।

यहीं कारण है कि आज भी भारतीय लोकतंत्र, सामाजिक न्याय एवं राष्ट्रीय एकता के अध्ययन में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार अत्यंत प्रासंगिक विषय बना हुआ है।

संदर्भ (References)

- Bipan Chandra. India's Struggle for Independence. Penguin Books, 1988.
- Bipan Chandra. Nationalism and Colonialism in Modern India. Orient Blackswan, 1979.
- A. R. Desai. Social Background of Indian Nationalism. Popular Prakashan, 1948.
- Sumit Sarkar. Modern India: 1885-1947. Macmillan, 1983.
- Sekhar Bandyopadhyay. From Plassey to Partition and After. Orient Blackswan, 2015.
- Judith M. Brown. Gandhi: Prisoner of Hope. Yale University Press, 1989.
- Ranajit Guha. Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India. Oxford University Press, 1983.
- Anil Seal. The Emergence of Indian Nationalism. Cambridge University Press, 1968.
- Tara Chand. History of the Freedom Movement in India. Government of India.
- Sugata Bose & Ayesha Jalal. Modern South Asia: History, Culture and Political Economy. Routledge.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Microfinance, Financial Inclusion and Women's Self-Employment: A Sociological Study of the PM SVANidhi Scheme in India

Nayantara Singh
Ph.D. Research Scholar, AIBAS, Amity University Haryana
Dr. Shailesh Kumar
Assistant Professor, AIBAS, Amity University Haryana

Abstract

Women's self-employment has become a central pillar of inclusive economic development in India. The expansion of microfinance and financial inclusion initiatives has enabled women, particularly those working in the urban informal sector, to access institutional credit and establish sustainable livelihoods. Among recent government interventions, the Pradhan Mantri Street Vendor's Atma-Nirbhar Nidhi (PM SVANidhi) Scheme, launched in June 2020, has emerged as an innovative policy aimed at supporting street vendors through collateral-free working capital loans, digital financial inclusion, and capacity building. This paper examines PM SVANidhi from a sociological perspective, exploring its contribution to women's self-employment, financial inclusion, and socio-economic empowerment. Drawing upon secondary data from government reports, scholarly literature, and policy documents, the study argues that while the scheme has significantly improved access to formal finance, structural inequalities related to gender, caste, education, digital literacy, and urban governance continue to constrain women's entrepreneurial potential. The paper concludes that microfinance should be viewed not merely as a credit mechanism but as a comprehensive process of social transformation requiring institutional support, capacity building, and gender-sensitive policy interventions.

Keywords: PM-SVANidhi, Microfinance, Financial Inclusion, Women Entrepreneurship, Urban Informal Sector, Street Vendors, Gender, Sociology.

Introduction

Women's participation in economic activities is widely recognized as an essential prerequisite for sustainable development. Despite rapid economic growth, India continues to witness significant gender disparities in labour force participation, asset ownership, financial access, and entrepreneurship. A substantial proportion of urban women remain concentrated within the informal economy, where employment is characterized by low income, insecure working conditions, lack of social security, and restricted access to institutional finance.

Street vending represents one of the largest segments of urban informal employment. Women vendors contribute significantly to household income while simultaneously performing unpaid domestic responsibilities. However, they often face multiple challenges, including inadequate access to credit, harassment by local authorities, limited business infrastructure, and exclusion from formal financial institutions.

The COVID-19 pandemic severely disrupted the livelihoods of urban informal workers, particularly women vendors. In response, the Government of India introduced the PM SVANidhi Scheme to provide collateral-free working capital loans, digital payment incentives, and opportunities for gradual financial integration. Unlike conventional microfinance programmes, PM SVANidhi combines financial assistance with digital inclusion and institutional recognition.

This paper critically evaluates the scheme through a sociological lens by examining its role in women's self-employment and financial inclusion.

Micro-finance and Financial Inclusion: Conceptual Perspective:

Micro-finance refers to the provision of small-scale financial services—including credit, savings, insurance, and financial literacy—to economically disadvantaged populations who lack access to formal banking institutions. Financial inclusion extends beyond credit access and encompasses affordable banking services, digital payments, insurance, pensions, and financial literacy.

From a sociological perspective, financial inclusion is not simply an economic intervention but a process of social integration. Access to institutional finance influences women's bargaining power, decision-making capacity, mobility, and participation in public life.

Prof. Amartya Sen's 'Capability Approach' argues that development should expand individuals' freedoms and capabilities rather than merely increase income. Similarly, Naila Kabeer's framework conceptualizes women's empowerment as the interaction of resources, agency, and achievements. PM SVANidhi can therefore be understood as an intervention that enhances women's capabilities through improved financial access.

PM SVANidhi Scheme: Features and Objectives:

Launched by the Ministry of Housing and Urban Affairs in June 2020, PM SVANidhi aims to restore the livelihoods of urban street vendors affected by the COVID-19 pandemic. Its major features include:

- Collateral-free working capital loans.
- Incentives for timely repayment.
- Interest subsidy.
- Cashback for digital transactions.
- Progressive enhancement of loan limits after successful repayment.
- Promotion of digital financial literacy and
- Integration with other government welfare schemes.

The scheme represents a shift from welfare-oriented assistance towards entrepreneurship-based

livelihood promotion.

Women, Urban Informality and Self-Employment:

Women's self-employment within the informal economy differs significantly from that of men. Women entrepreneurs often enter self-employment due to economic necessity rather than market opportunity. Their businesses generally operate with limited capital, low productivity, and restricted market access.

Urban women vendors face additional barriers including:

- Limited ownership of productive assets.
- Lack of collateral.
- Low educational attainment.
- Digital exclusion.
- Time poverty arising from unpaid care work.
- Safety concerns in public spaces.
- Gender discrimination in markets.

Consequently, financial exclusion reinforces broader social inequalities.

Sociological Analysis of PM SVANidhi Scheme:

The PM SVANidhi Scheme has several important sociological implications.

Financial Inclusion-

The scheme enables previously excluded vendors to establish relationships with formal financial institutions. Women who previously depended upon informal moneylenders can access institutional credit at considerably lower costs. Financial inclusion also enhances banking habits, digital payments, and financial literacy.

Women's Agency-

Access to institutional finance increases women's control over productive resources. Many beneficiaries invest in expanding inventory, improving business infrastructure, and diversifying income sources.

This enhances household decision-making power and strengthens women's economic identity.

Digital Inclusion-

The scheme encourages digital transactions through cashback incentives. Digital payments improve financial transparency while reducing dependence on cash-based transactions.

However, digital literacy remains uneven among older women vendors.

Social Recognition-

Registration under PM SVANidhi provides legal recognition to street vendors who historically operated under conditions of uncertainty.

Institutional recognition contributes to greater social legitimacy and reduces vulnerability to arbitrary eviction.

Persistent Challenges-

Despite notable achievements, several structural challenges remain.

Digital Divide-

Many women possess limited digital literacy and continue to depend upon family members for online banking.

Documentation Problems-

Women beneficiary lacking identity documents or vendor certificates frequently experience exclusion.

Gendered Urban Spaces-

Women's mobility remains constrained by safety concerns, inadequate public infrastructure, and domestic responsibilities.

Loan Utilization-

Working capital alone cannot ensure sustainable entrepreneurship without marketing support, skill development, and business training.

Intersectionality-

Women belonging to Scheduled Castes, Scheduled Tribes, minority communities, and migrant households face multiple layers of exclusion.

Policy Recommendations:

The effectiveness of PM SVANidhi can be strengthened through the following measures:

- Expand gender-sensitive financial literacy programmes.
- Integrate entrepreneurship training with loan disbursement.
- Strengthen childcare facilities in vending zones.
- Improve market infrastructure and sanitation.
- Promote digital capacity-building specifically for women vendors.
- Facilitate SHG–PM SVANidhi convergence.
- Improve access to social security schemes.
- Encourage municipal participation in supporting women entrepreneurs.
- Introduce gender-disaggregated monitoring indicators.
- Promote women's leadership within Town Vending Committees.

Conclusion:

Keeping the above facts in mind, we can say that PM SVANidhi represents an important innovation in India's urban livelihood policy by linking microfinance with financial inclusion and entrepreneurship. The scheme has improved women's access to formal credit, strengthened financial participation, and expanded opportunities for self-employment. Nevertheless, financial inclusion alone cannot eliminate structural inequalities rooted in gender, caste, education, and urban informality.

A sociological perspective demonstrates that empowerment requires far more than credit. Sustainable

women's entrepreneurship depends upon supportive institutions, inclusive urban governance, digital literacy, social recognition, and equal access to markets. Future policy should therefore move beyond loan disbursement towards building an enabling ecosystem that promotes women's capabilities, dignity, and long-term economic independence.

References:

- Amrith, S. (2013). *Crossing the Bay of Bengal*. Harvard University Press.
- Kabeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: Reflections on the measurement of women's empowerment. *Development and Change*, 30(3), 435–464.
- Ministry of Housing and Urban Affairs. (2024–2026). *PM SVANidhi Scheme Progress Reports*.
- Reserve Bank of India. (2024). *Report on Trend and Progress of Banking in India*.
- Sen, A. (1999). *Development as Freedom*. Oxford University Press.
- National Bank for Agriculture and Rural Development. (2024). *Status of Microfinance in India*.
- NITI Aayog. (2023). *National Multidimensional Poverty Index Report*.
- World Bank. (2022). *Financial Inclusion Overview*.
- https://www.pmsvanidhi.mohua.gov.in
- https://www.oecd
- http://www.inc.com/rohit–arora/why–india–is–the–land–of–rising entrepreneurship.htm
- https://www.aiilsg.org/street-vendors-survey.html
- https://delhistreethawker.com/
- https://www.jetir.org/papers/JETIR2109510.pdf
- https://www.thehindu.com/news/cities/Delhi/delhis-vendors-struggle-to-stay-on-the-street-as-lasting-solutions-remain-on-paper/article68218226.ece
- https://pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=1971579
- https://www.thehindu.com/news/cities/Delhi/delhis-merged-municipal-body-to-not-have-more-than-250-seats-bill/article65258392.ece

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में प्रतिबिंबित समाज

सुनील कुमार
शोधार्थी (हिंदी विभाग)
जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग राज्य विश्वविद्यालय चित्रकूट उत्तर प्रदेश
Email ID- sunilkumar24366@gmail.com
Mob-No-7379226316

शोध सारांश

हिंदी साहित्य को मुख्य रूप से चार कालखंड में विभाजित किया गया है। जो द्वितीय कालखंड को भक्ति काल के नाम से जाना जाता है। भक्ति काल के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित रामचरितमानस भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य तथा सामाजिक जीवन का एक अनुपम महाकाव्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस ग्रंथ की रचना केवल भगवान श्रीराम की कथा कहने के उद्देश्य से नहीं की, बल्कि अपने समय के समाज को आदर्श जीवन-मूल्यों, नैतिकता, धर्म, मर्यादा तथा लोककल्याण की दिशा प्रदान करने के उद्देश्य से भी की। यही कारण है कि रामचरितमानस को भारतीय समाज का सांस्कृतिक एवं सामाजिक दर्पण माना जाता है। इस शोध का प्रमुख उद्देश्य रामचरितमानस में चित्रित सामाजिक व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, धार्मिक मान्यताओं, राजनीतिक आदर्शों, आर्थिक जीवन, सांस्कृतिक परंपराओं, स्त्री-पुरुष संबंधों, गुरु-शिष्य परंपरा, वर्ण व्यवस्था, सामाजिक समरसता तथा लोकमंगल की भावना का समग्र अध्ययन करना है। तुलसीदास ने श्रीराम के आदर्श चरित्र के माध्यम से ऐसे समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की है, जिसमें सत्य, न्याय, करुणा, सेवा, परोपकार, त्याग, समानता और मर्यादा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। यह शोध इन सामाजिक आदर्शों का साहित्यिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करता है।

मुख्य शब्द - रामचरितमानस, तुलसीदास, समाज, संस्कृति, आदर्श राज्य, पारिवारिक जीवन, लोक-मंगल।

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य की गौरवशाली परंपरा में रामचरितमानस का स्थान सर्वोपरि है। यह केवल धार्मिक महाकाव्य नहीं बल्कि भारतीय समाज संस्कृति दर्शन और लोक जीवन का व्यापक एवं प्रमाणिक दस्तावेज भी है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने 16वीं शताब्दी में ऐसे समय रामचरितमानस की रचना की जब भारतीय समाज राजनीतिक अस्थिरता सामाजिक विषमता धार्मिक आडंबर जातिगत भेदभाव तथा नैतिक पतन जैसी अनेक समस्याओं से जूझ रहा था। ऐसे समय रामचरितमानस की संरचना कि जब भारतीय समाज राजनीतिक स्थिरता सामाजिक विषमता धार्मिक आडंबर जातिगत भेदभाव तथा नैतिक पतन जैसी अनेक समस्याओं से जूझ रहा था ऐसे संक्रमण काल में तुलसीदास ने भगवान श्री राम जी के आदर्श चरित्र के माध्यम से समाज को धर्म, मर्यादा, समन्वय, लोकमंगल और नैतिक जीवन का संदेश प्रदान किया। रामचरितमानस की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि केवल राम कथा का ही कथन नहीं है बल्कि भारतीय समाज की संस्कृति चेतना और जीवन दर्शन का

दर्पण भी है इसमें तत्कालीन सामाजिक संरचना, पारिवारिक संबंध, राजधर्म, लोकधर्म, स्त्री की स्थिति, वर्ण व्यवस्था, शिक्षा, गुरु शिष्य परंपरा, सामाजिक समरसता, धार्मिक आस्था और लोकाचार का अत्यंत संजीव एवं यथार्थ चित्रण मिलता है तुलसीदास ने समाज के विविध वर्गों राजा, प्रजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र,वनवासी, ऋषि, गृहस्थ, तथा स्त्री सभी के कर्तव्य और अधिकारों का वर्णन करते हुए एक संतुलित एवं आदर्श सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना प्रस्तुत की है।

तुलसीदास और समाज

तुलसीदास जी ने समाज की मर्यादा पर विशेष ध्यान दिया है। धर्म के पालन बिना समाज में मर्यादा का पालन नहीं हो सकता। समाज के दो भाग हैं व्यक्तिगत और सार्वजनिक इन दोनों क्षेत्रों में तुलसीदास जी ने अपनी असाधारण काव्य शक्ति से महान संदेश दिया है रामचरितमानस के पत्रों में लोक शिक्षा का स्वरूप प्रदान है। पारिवारिक जीवन का अचार रामचरितमानस में यथास्थान उपलब्ध है पिता, पुत्र, माता, पति, पत्नी, भाई, सखा, सेवक, प्रजा आदि का क्या पारस्परिक व्यवहार होना चाहिए इन सब का उत्कृष्ट निरूपण तुलसीदास ने अपनी कुशल लेखनी से किया है। वाल्मीकि रामायण में मानवीय भावनाओं के निरूपण के लिए कवियों ने अनेक प्रसंग लिखे हैं। जो स्वाभाविक होते हुए भी लोक शिक्षा प्रचारक नहीं है। लक्ष्मण जी का क्रोध दशरथ के वचन आदि का औचित्य का अतिक्रमण करते हैं। पर तुलसीदास ने ऐसे एक पात्र का भी कल्पना नहीं की जिससे दूर्वासनाओं और अनाचारों की वृद्धि हो उन्होंने तामसी पात्रों को भी सदगुणो की वृद्धि करते हुए चित्रित किया है सात्विक भावनाओं से भरे हुए पात्रों को तो उन्होंने मर्यादा का आधार ही अंकित कर दिया है पारिवारिक जीवन की कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

बरस चारिदस विपिन बसि, करि पितु वचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहौ, मन जनि करसि मलान।।
सबहि बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सुखु नाहीं।।

आदर्श पारिवारिक व्यवस्था

रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने परिवार को समाज की मूल इकाई माना है। राम, सीता, लक्ष्मण, भरत तथा कौशल्या आदि पात्र पारिवारिक प्रेम त्याग सेवा और कर्तव्य निष्ठा के आदर्श प्रस्तुत करते हैं। तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस के माध्यम से समाज के अनेक प्रकार के वर्गों को समान सम्मान दिया है, चाहे वह उच्च कोटि का हो या निम्न कोटि का जैसे- निषादराज, केवट, शबरी,वानर एवं भालू जैसे पत्रों से सामाजिक संबंध में और लोग मंगल की भावना प्रकट होती है जिससे समाज में भाईचारा प्रेम आदि को समाहित किया गया है।

रघुकुल रीति सदा चली आई।
प्राण जाए पर बचन न जाई।।

लोकजीवन और संस्कृति

गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित श्री रामचरितमानस में विवाह उत्सव, संगीत वेशभूषा, लोकभाषा, तथा जन जीवन का सुंदर चित्रण मिलता है। अवधी भाषा के प्रयोग में इसे जनमानस के निकट पहुंचा है–

परहित सरिस धर्म नहि भाई।
पर पीड़ा सम नहि अधभाई।।

इस पथ के माध्यम से तुलसीदास जी कहते हैं कि दूसरों का हित करने से दूसरा कोई बड़ा धर्म नहीं होता है और दूसरों को कष्ट देने से बड़ा कोई पाप नहीं है।

तुलसीदास के समय समाज अनेक वर्गों में विभाजित था। जातिगत ऊच,नीच, छुआ- छूत, अंधविश्वास और सामाजिक

असमानता जैसी समस्याएं विद्यमान थी। शिक्षा और सामाजिक भागीदारी इसके बावजूद परिवार भारतीय समाज की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में आदर्श परिवार का चित्र प्रस्तुत किया है। जिसमें माता-पिता का सम्मान भाईचारा पति-पत्नी का विश्वास तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व को विशेष महत्व दिया गया। श्री राम को भरत, लक्ष्मण और सीता के चरित्र इन आदर्शों के श्रेष्ठ उदाहरण मिलते हैं।

धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति

तुलसीदास के इसमें विभिन्न धार्मिक महत्व और संप्रदायों के बीच मतभेद दिखाई देते थे कर्मकांड और आडंबरों का प्रभाव बढ़ रहा था। सामान्य व्यक्ति धर्म के वास्तविक स्वरूप से दूर होता जा रहा था। तभी तुलसीदास जी ने भक्ति को सरल सहज और सर्व सुलभ बनाया उन्होंने स्पष्ट किया कि ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग केवल कर्मकांड नहीं बल्कि प्रेम विश्वास सेवा, दया, और सच्ची भक्ति है उनके अनुसार धर्म का उद्देश्य मानव जीवन का कल्याण है। गोस्वामी तुलसीदास जी का समय मुगल शासन काल था। उस समय राजनीतिक स्थिरता और प्रशासनिक चुनौतियों के कारण सामान्य जनता अनेक कठिनाइयों का सामना कर रही थी। ऐसी परिस्थितियों में तुलसीदास ने रामराज्य की कल्पना प्रस्तुत की जिसमें न्याय, सुरक्षा, समानता और लोक कल्याण सर्वोच्च रामराज्य का वर्णन केवल आदर्श शासन की कल्पना नहीं है बल्कि सुशासन, उत्तरदाई नेतृत्व और जनकल्याण की अवधारणा भी है। इस कारण रामचरितमानस का राजनीतिक चिंतन आज भी प्रासंगिक माना जाता है। समाज सुधारक के रूप में तुलसीदास जी ने अपने साहित्य के माध्यम से समाज में नैतिक चेतना जगाने का प्रयास किया उन्होंने व्यक्ति को सत्य, दया,परोपकार,सेवा संयम और मर्यादा का पालन करने की प्रेरणा दी भगवान श्रीराम के आदर्श चरित्र के माध्यम से उन्होंने यह संदेश दिया कि समाज की वास्तविक उन्नत सदाचार और नैतिक मूल्यों से ही संभव हो सकती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध के आधार पर यह स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस केवल एक धार्मिक महाकाव्य नहीं, बल्कि भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म, राजनीति, नैतिकता और मानवीय मूल्यों का व्यापक एवं जीवंत दस्तावेज है। तुलसीदास ने श्रीराम के आदर्श चरित्र के माध्यम से ऐसे समाज की कल्पना की है, जहाँ सत्य, धर्म, न्याय, प्रेम, करुणा, त्याग, सेवा, समरसता और लोककल्याण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। रामचरितमानस में चित्रित सामाजिक व्यवस्था तत्कालीन भारतीय समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ आदर्श समाज की स्थापना का मार्ग भी दिखाती है।

इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने परिवार को समाज की मूल इकाई मानते हुए आदर्श पारिवारिक जीवन का चित्रण किया है। श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के पारस्परिक प्रेम, माता-पिता के प्रति सम्मान, गुरु के प्रति श्रद्धा तथा पति-पत्नी के आदर्श संबंध भारतीय संस्कृति के उच्चतम मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार राजा और प्रजा के संबंधों को भी अत्यंत आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामराज्य का वर्णन यह सिद्ध करता है कि एक आदर्श शासक वही है।

रामचरितमानस में सामाजिक समरसता का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण मिलता है। निषादराज, शबरी, केवट, वानर और भालू जैसे पात्रों के माध्यम से तुलसीदास ने यह संदेश दिया है कि मनुष्य की श्रेष्ठता उसके जन्म, जाति या सामाजिक स्थिति से नहीं, बल्कि उसके गुण, आचरण, सेवा और भक्ति से निर्धारित होती है। श्रीराम द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग को समान सम्मान देना भारतीय संस्कृति की समावेशी और लोकमंगलकारी भावना का परिचायक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोस्वामी तुलसीदास - रामचरितमानस।

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास।
3. डॉ. नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास।
4. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका।
5. डॉ. रामविलास शर्मा - भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य।
6. डॉ रामकुमार वर्मा-हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।
7. प्रोफेसर योगेन्द्र प्रताप सिंह - गोस्वामी तुलसीदास : रचना सन्दर्भ के विविध आयाम।

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

STATE AND KUMBHA: PRE TO POSTINDEPENDENCE INDIA (EARLY 19TH TO 21ST CENTURY)

Kanika Thakur
(Research Scholar), Department Of Political Science
University Of Delhi
Email: kanikathakur101298@gmail.com

Abstract

The Kumbh Mela, one of the oldest religious festivals in the world, is notable for its cultural, political, and socioeconomic importance. It transpires once in twelve years at the junction of three essential rivers, Ganga, Yamuna, and Saraswati in the city of Prayagraj. This study examines the emergence of the historic relationship between the State and Kumbh from Pre-Independence to post-independence in India. It highlights the recent shifts in governance, the framework of the organization, and the state participation in the management of the festival.

Throughout the pre-independence period, the Kumbh Mela was predominantly administered by spiritual leaders, provincial rulers, and British officials. Although the colonial government, primarily unconcerned with religious issues, was forced to take action on problems associated with infrastructure, hygiene, and safety and security. The British implemented administrative procedures to regulate mass gatherings and sustain law and order. In addition to showing their strategic purpose in regulating massive public gatherings to avert any political mobilization, the administration of Kumbh was influenced by their larger principle of being secular.

Moreover, in the post-independence era, the involvement of the state in the administration of Kumbh Mela has significantly increased. The newly elected Indian government developed a more systematic and influential approach, emphasizing the socio-cultural and economic importance of the festival. The state extended its involvement in building infrastructure, health and hygiene, and peace and security measures that guarantee the safety and well-being of millions of visitors. The evolution of the interaction between religion and politics in independent India was also embodied in the conversion of Kumbh into a State-governed mega-event.

This paper examines these changes through historical study, assessing policies, using archival records, official data, and other contemporary reports and papers. It asserts that the increasing involvement of the state in the administration of the Kumbh Mela indicates more general changes in the role of religion in public life, governance, and the democratic system. It also demonstrates the increasing commercialization and politicization of the Kumbh Mela in the past few decades. Lastly, this paper discusses how media and digital governance have influenced the current Kumbh Mela, examining

how the occasion has changed to reflect developing socio-political conditions.

INTRODUCTION

The Kumbha Mela is a remarkable legacy of Hindu culture with significant historical, spiritual and social value. It is one of the purest festivals in Sanatan dharma. It celebrates the sanctity of the three major rivers: Ganga, Yamuna, and Saraswati. Millions of devotees flock to the holy riverbanks for this huge celebration, which is acknowledged as the biggest religious assembly in the world. Thereby they seek social harmony and spiritual purification.

The origin of this festival is traced back to the ancient Hindu tradition of Samudra Manthana. As per the narratives, the gods (Devas) and devils (Asuras) performed together to churn the primordial ocean in search of Amrita, the drink of eternity. A pot (Kumbha) with nectar emerged out of this process. The couple of drops of the nectar were subsequently dropped upon the four heavenly locations – Prayagraj, Nasik, Haridwar and Ujjain- during the intense struggle for its possession. Thus, these places became sanctified, and Kumbha Mela appeared periodically at each site. There was a disagreement among scholars on the historical beginning of Kumbha Mela in Prayagraj. Although the mythology of Samudra Manthan is decades old, it is found in the British District Gazetteers for the first time that Kumbha Mela emerged as a giant festival at Allahabad (Prayaga) in the beginning of the 19th century.

The role of the Indian state in regulating and facilitating large-scale events like Kumbha is multifaceted. Their contribution includes public health, sanitation, crowd control, infrastructure building, and financial support. Apart from this, the state also enforces some regulations to maintain law and order and protect the attendees. In earlier times, the Kumbha Mela was overseen and administered by akharas or different religious monastic groups. These groups were in charge of preparing for camps, ceremonies, and maintaining order. However, gradually all these responsibilities were transferred to colonial authorities and subsequently to the contemporary Indian state, which continues to deliver infrastructural and administrative support to the festival. Moreover, in the British colonial period, the East India Company recognised Kumbha Mela as an advantage for social control and revenue collection. They have imposed "Pilgrim Tax" on attendees to capitalize on the massive gatherings. Their regulations were primarily motivated by economic concerns, administrative control, and a reserved approach towards the matters associated with faith and belief. The British administration also showed their concerns towards health and sanitation. While, in independent India, the role of the state evolved towards convenience and assistance. The government made various steps to ensure the success of Kumbha Mela and recognised the religious and cultural significance of the festival. This includes infrastructure developments, such as temporary housing, sanitation facilities, public health, and sufficient water supply. Security procedures were also strengthened to control mass gathering and maintain regulations.

The objective of this paper is to analyse the changing role of the state in administering Kumbha Mela. This paper examines the role of the state in managing this event, focusing on two broad periods: Pre-independence, when the governance of the festival was influenced by the British colonial rule, and Post-independence, when the administration was taken over by the Indian government. Further, this paper will explore the historical role of colonial and princely states in organising and regulating the festival and finally how the governance, security, and infrastructural mechanisms

evolve after independence, which reflects secularism and cultural policies in India. Lastly, this study aims to analyse the socio-political significance of the Kumbha Mela, its influence on state policy and its further implications for religious tourism, public administration and the conservation of cultural heritage of India in the modern era.

Kumbha Mela in the Pre-Independence Era

In the earlier times, before colonial rule and even throughout the British control, Hindu and Muslim kings were actively involved in planning and overseeing the Kumbha Mela. The previous records highlight the significant role of various rulers and kings, who ensured security and facilitated the smooth functioning of the event by providing financial aid and funding the construction of Ghats and temples for the devotees (Lochtefeld 2004, 103). Their involvement reflected the political, economic and religious significance of the Mela. Moreover, during the period of British governance, the regulation of religious gatherings presented numerous challenges. The British administration implemented a strategy of noninterference in the religious affairs, all while maintaining public order. But due to huge gatherings, the Kumbha Mela raised significant concerns for the colonial administration.

Religious Autonomy and Self-regulation

Religious autonomy signifies self-governance of religious cults without external interference. However, the dynamics of religious autonomy and self-regulation evolved significantly as a result of colonial intrusions, administrative policies, and the changing role of the government in religious matters. In a major study (Kulke & Sahu 2022), it was found that there were various self-organized religious bodies such as Akharas (sects of ascetics), which independently manage their activities, rituals, and hierarchy. It shows that instead of state officials, religious scholars and astrologers decide when the Mela and other religious ceremonies take place. A hierarchical system governs the processions and cleansing orders of certain sects, such as the Shaivites, Vaishnavites, and Udasin. Numerous religious institutions are in charge of maintaining cleanliness, and eco-friendly methods have gained popularity recently (Maclean,2003). Although with the advent of British rule, this religious autonomy was challenged in several ways. Lochtefeld(2004), argued that The British attempted to regulate the **bathing rituals** and processions, especially regarding the order in which different Akharas and sects could perform their religious activities. This led to tensions between the colonial administration and Hindu religious leaders, as the British sought to impose law and order in a space traditionally governed by religious customs. Therefore, it can be stated that while Kumbh Mela is largely self-regulated, the government provides logistical support in terms of security, sanitation, and crowd management. However, religious institutions retain authority over the spiritual and ritualistic aspects of the event.

Colonial Administration and Kumbha Mela

The British colonial administration played a significant role in regulating and managing the Kumbha Mela, one of the largest religious gatherings in India. During the colonial period, the British sought to maintain law and order at the festival while also using it as a means of consolidating their control over the Indian population. The administration introduced measures such as sanitation reforms, crowd control strategies, and infrastructure development to prevent outbreaks of diseases and

stampedes (Freitag, 1989). However, their involvement was often driven by concerns over potential uprisings rather than religious accommodation.

For instance, the 1858 Kumbha Mela at Allahabad saw increased surveillance following the

Revolt of 1857, as the British feared the gathering could be a site for nationalist mobilization (Singh, 2017). Additionally, colonial records indicate that authorities implemented permit systems and police patrolling to manage large crowds (Davis, 2005). While these interventions helped improve organization, they also reflected the broader colonial strategy of governance through surveillance and control over public spaces. The engagement of British administration with the Kumbha Mela thus serves as an example of how colonial policies influenced religious and cultural traditions in India.

State's Role in Infrastructure and Law Enforcement

The role of the state in infrastructure development and law enforcement is crucial for maintaining social order and economic growth. Governments invest in infrastructure such as roads, bridges, electricity, and communication networks to enhance connectivity and economic productivity (World Bank, 2020). Well-developed infrastructure is essential for facilitating trade, transportation, and public services, contributing to national development. Additionally, law enforcement agencies play a vital role in ensuring public safety, enforcing legal frameworks, and preventing criminal activities. Effective policing and judicial systems help maintain law and order, fostering a stable environment for economic and social progress (Bayley, 1998).

In modern governance, infrastructure and law enforcement often go hand in hand. For instance, urban development projects require legal oversight to prevent corruption and ensure public accountability (Faguet, 2014). Moreover, the state's involvement in smart city initiatives, which integrate technology with urban planning, demonstrates the evolving role of law enforcement in ensuring cybersecurity and public safety (Glaeser & Cutler, 2021). In developing nations, inadequate infrastructure and weak law enforcement mechanisms often lead to social unrest, crime, and economic stagnation (Acemoglu & Robinson, 2012). Thus, governments must balance infrastructural growth with robust legal frameworks to achieve sustainable development.

Furthermore, law enforcement agencies are increasingly engaged in regulating digital spaces and cybercrime. The rise of digital transactions and e-commerce has necessitated state intervention in enforcing cybersecurity laws and protecting consumers from fraud (UNODC, 2021). As globalization progresses, the state's role in maintaining order and security extends beyond physical infrastructure to digital governance. This highlights the interconnected nature of infrastructure and law enforcement in contemporary society.

Political and Nationalist Involvement

The Kumbha Mela**,** became a significant site for political and nationalist activities during the pre-independence era. While primarily a religious festival, the Mela provided a platform for political mobilization, particularly during the late 19th and early 20th centuries. Indian nationalists and freedom fighters utilized the large congregations to spread anti-colonial sentiments and nationalist ideologies. The festival's vast crowds enabled leaders to reach a diverse audience, making it an effective space for political engagement (Freitag, 1989).

During the Swadeshi Movement (1905–1911) and later the Non-Cooperation Movement (1920–1922)**,** Indian nationalists used the Kumbha Mela to propagate ideas of self-reliance and resistance against British rule. Leaders and activists distributed pamphlets, delivered speeches, and encouraged people to boycott British goods while promoting indigenous industries (Singh, 2017). The British colonial administration recognized the potential threat posed by such gatherings and closely monitored the festival, fearing that it could serve as a breeding ground for revolutionary activities. Increased police surveillance and intelligence reports from the Mela indicate the government's concern over nationalist influences (Davis, 2005).

The 1936 Allahabad Kumbha Mela was particularly notable, as it saw heightened nationalist involvement, with Congress leaders leveraging the event to garner support for civil disobedience campaigns (Kumar, 2019). Additionally, Hindu nationalist organizations, such as the Rashtriya Swayamsevak Sangh (RSS)**,** sought to use the festival to promote their vision of Hindu unity and resistance against colonial rule (Jaffrelot, 1996). The nationalist involvement in Kumbha Mela illustrates how religious and cultural spaces were repurposed as political arenas, demonstrating the deep interconnection between spirituality and nationalism in India's struggle for independence.

Women's Participation in Rituals and Pilgrimage Traditions

The participation of women in the Kumbha Mela during the pre-independence era was shaped by both religious traditions and socio-political transformations. Despite patriarchal constraints, women from various social backgrounds actively took part in the pilgrimage, engaging in ritual bathing, religious discourses, and acts of charity. The sacred dip (snan) in the holy rivers was a central ritual, believed to purify the soul and ensure spiritual merit for both individuals and their families (Hawley & Wulff, 1996). However, women's participation was often regulated by societal norms, with widows and upper-caste women facing restrictions on their mobility and visibility in public religious spaces (Kumar, 2019).

During the nationalist movement, women's involvement in Kumbha Mela also took on a political dimension. Inspired by figures like Sarojini Naidu and Annie Besant, many women used religious gatherings as a means to spread messages of self-reliance and resistance against British rule (Forbes, 1996). The festival provided a unique space where nationalist leaders could engage with rural and urban women, encouraging them to participate in movements such as the Swadeshi Movement and Civil Disobedience Movement (Freitag, 1989). British colonial authorities monitored these gatherings closely, recognizing the potential of women-led religious activism in fostering nationalist sentiment (Singh, 2017).

Furthermore, women ascetics, or sadhvis, played an important role in the spiritual landscape of the Kumbha Mela, challenging traditional gender roles. Some female renunciants gained recognition as religious leaders, conducting discourses and leading female devotees in rituals (Kinsley, 1998). Their presence at the Mela symbolized an alternative spiritual path for women, emphasizing devotion beyond domestic roles. The pre-independence era thus saw women negotiating their religious and political identities within the framework of the Kumbha Mela, balancing devotion with emerging nationalist aspirations

Kumbha Mela in the Post-Independence India

After the independence of India in 1947, the Kumbha Mela evolved into a highly organized and state-regulated religious event, reflecting the intersection of spirituality, governance, and mass mobilization. The Indian government took an active role in managing the festival, ensuring infrastructure development, crowd control, and public safety, recognizing its significance as one of the world's largest religious gatherings (Lochtefeld, 2010). With advancements in transportation and communication, participation in the Mela expanded dramatically, drawing millions of pilgrims, saints, and tourists from across India and beyond (Darian, 2001). The 1954 Allahabad Kumbha Mela marked a critical moment when a stampede resulted in hundreds of deaths, prompting the government to introduce better crowd management strategies in subsequent events (Freitag, 1989).

In the post-independence period, the Kumbha Mela also became a site for political and cultural expression. Indian politicians, including prime ministers and state leaders, began attending the festival to connect with the masses and reinforce their association with Hindu traditions (Jaffrelot, 1996). Additionally, Hindu nationalist organizations, such as the

Rashtriya Swayamsevak Sangh (RSS) and Vishwa Hindu Parishad (VHP), increasingly used the festival as a platform to promote their ideological narratives, advocating for Hindu unity and cultural resurgence (McKean, 1996).

In recent decades, globalization and media exposure have further transformed the Kumbha Mela, turning it into an international spectacle. The 2013 Prayagraj Kumbha Mela, for instance, witnessed extensive digital documentation, government-backed tourism initiatives, and UNESCO recognition as an Intangible Cultural Heritage (UNESCO, 2017). This transition reflects the adaptation of a centuries-old tradition within the modern framework of governance, media, and religious diplomacy, solidifying the Kumbha Mela as a defining element of India's spiritual and cultural identity.

State's Active role in Organizing Kumbha

Following India's independence in 1947, the Kumbha Mela transitioned from being a largely religiously managed event to a state-supervised mega-gathering. Recognizing its scale and significance, the Indian government took an active role in organizing the festival, particularly in managing infrastructure, security, and public services. The 1954 Allahabad Kumbha Mela was a turning point, as a tragic stampede led to significant loss of life, prompting the government to adopt systematic crowd management, law enforcement strategies, and urban planning measures for future Melas (Freitag, 1989). Since then, state and local authorities have worked in coordination with religious bodies to ensure the smooth execution of the festival.

One of the key aspects of state involvement has been the development of public infrastructure. Roads, railways, and temporary bridges are constructed to accommodate the millions of pilgrims attending the event (Lochtefeld, 2010). The 2013 Prayagraj Kumbha Mela, for instance, saw extensive government investment in sanitation, medical facilities, and digital surveillance, showcasing modern governance in managing mass pilgrimages (UNESCO, 2017). The state's role in sanitation and health services has also been crucial, as temporary hospitals and hygiene measures are put in place to prevent disease outbreaks among the large crowds (Darian, 2001).

Additionally, the government has increasingly used digital technology to facilitate crowd control and

enhance security. The 2019 Kumbha Mela in Prayagraj featured AI-based surveillance, drone monitoring, and RFID tracking systems, demonstrating the integration of modern technology in event management (Jaffrelot, 1996). Moreover, the festival has become a tool for cultural diplomacy, with state-supported tourism campaigns attracting international visitors and securing UNESCO recognition in 2017 (UNESCO, 2017). Thus, the postindependence state's role in Kumbha Mela reflects a blend of religious tradition, public administration, and technological modernization.

Modernization and Institutionalization of Kumbha Management

The Kumbha Mela was heavily modernised and institutionalised after independence, evolving from a largely religiously organised assembly into a mega-event governed by the state. Given its enormous scope, the Indian government moved to institutionalise its administration, combining technology, law enforcement, and urban planning to guarantee effectiveness and security (Lochtefeld, 2010). Following the 1954 Allahabad Kumbha Mela, when a fatal stampede forced authorities to implement organised planning and governance structures, this change became especially noticeable (Freitag, 1989).

The creation of specialised administrative organisations for event management has been one of the most important features of modernisation. To manage logistics, sanitation, and population management, state governments now establish specialised Kumbha Mela Authorities that work with religious organisations, law enforcement, and urban planners (Jaffrelot, 1996). Infrastructure development has also played a crucial role, with massive investments in roads, bridges, temporary housing, and sanitation facilities. For example, the 2013 and 2019 Prayagraj Kumbha Melas featured extensive digital surveillance, AI-powered crowd monitoring, and drone-based security, reflecting the integration of smart governance in religious event management (UNESCO, 2017).

Additionally, institutionalization has extended to cultural promotion and tourism development. The Indian government has actively branded the Kumbha Mela as a global cultural phenomenon, securing its UNESCO Intangible Cultural Heritage status in 2017 (UNESCO, 2017). Government-backed digital campaigns, international collaborations, and structured pilgrimage packages have further contributed to its global reach (Darian, 2001).

The modernization and institutionalization of Kumbha Mela management illustrate how a centuries-old religious gathering has adapted to contemporary governance frameworks, ensuring both spiritual continuity and administrative efficiency in a rapidly evolving society.

State-Religious Nexus in Contemporary India

In post-independence India, the Kumbha Mela has become a key site reflecting the statereligious nexus, where the government actively engages with religious institutions to manage and promote the festival. While the event has deep Hindu spiritual significance, its scale and socio-political impact have led to increasing state involvement in its administration, funding, and branding (Lochtefeld, 2010). The government's role is not just logistical but also ideological, as political parties often seek to align themselves with religious sentiments by participating in the Mela, thereby reinforcing Hindu cultural identity in national discourse (Jaffrelot, 1996).

A key aspect of this nexus is the state's financial and infrastructural support for the Mela. Governments

allocate large budgets for the festival, funding road expansions, sanitation, security, and digital surveillance (UNESCO, 2017). For instance, the 2019 Prayagraj Kumbha Mela saw unprecedented state funding and high-profile political participation, reflecting the event's significance in shaping nationalist and religious narratives (McKean, 1996). Religious organizations, particularly Hindu sects and Akharas, work alongside state authorities to manage ritual activities, pilgrimage logistics, and public engagements, creating a hybrid model of governance (Darian, 2001).

Moreover, the Kumbha Mela has been increasingly leveraged for political messaging and electoral gains. Political leaders, including prime ministers and chief ministers, make publicized visits, reinforcing their association with Hindu religious traditions (Freitag, 1989). Additionally, state-controlled media and tourism campaigns project the Mela as a symbol of India's spiritual and cultural heritage, strengthening its role in Hindu nationalist discourse (Jaffrelot, 1996). This state-religious nexus highlights how Kumbha Mela serves both spiritual and political functions in contemporary India, blending devotion, governance, and national identity in a uniquely institutionalized framework.

Impact of Globalization on Kumbha

Globalization has significantly transformed the Kumbha Mela, influencing its scale, management, and international visibility in post-independence India. Traditionally a religious gathering of Hindu pilgrims, the Mela has evolved into a global cultural event, attracting not only Indian devotees but also international tourists, researchers, and media attention (Lochtefeld, 2010). The integration of modern technology, global tourism, and international recognition has reshaped the spiritual, economic, and administrative dimensions of the festival.

One of the most notable impacts of globalization is the internationalization of Kumbha Mela.

In 2017, UNESCO inscribed the festival as part of the Intangible Cultural Heritage of Humanity, cementing its status as a global religious and cultural phenomenon (UNESCO, 2017). This recognition led to increased foreign interest, with spiritual seekers, academics, and media houses from around the world participating in and documenting the event (Darian, 2001). Consequently, the Indian government has leveraged digital campaigns, online pilgrimage registrations, and promotional tourism packages to enhance its global appeal (McKean, 1996).

Economic globalization has also played a significant role in shaping the commercial aspects of the Mela. Corporate sponsorships, digital marketing, and state-backed tourism initiatives have contributed to its institutionalization as a revenue-generating event (Freitag, 1989). The 2019 Prayagraj Kumbha Mela, for instance, saw large-scale investments in infrastructure, including smart city initiatives, digital surveillance, and AI-based crowd management, reflecting the fusion of tradition and modern governance (Jaffrelot, 1996). While globalization has elevated the global stature of the Kumbha Mela, it has also sparked debates about commercialization versus spiritual authenticity. Nevertheless, the festival continues to thrive as an evolving intersection of faith, governance, and international cultural exchange, making it a unique product of globalized religious traditions**.**

Women and Kumbha: Post-Independence

The participation of women in the Kumbha Mela has evolved significantly in postindependence India, reflecting broader societal changes in gender roles, religious engagement, and institutional support. While historically restricted by social hierarchies and patriarchal norms, women's presence

at the Mela has expanded due to legal, educational, and economic advancements (Freitag, 1989). Post-1947, increased literacy rates and state-led initiatives promoting women's empowerment have enabled greater female participation in pilgrimage traditions (Darian, 2001).

One major shift has been the rise of women ascetics (sadhvis) in the Akhara system, traditionally dominated by male sadhus. In recent decades, female-led spiritual organizations and women-headed Akharas have gained visibility, challenging gender barriers in Hindu monastic traditions (Lochtefeld, 2010). The establishment of Mataji Akhara, the first recognized women's Akhara at the 2013 Prayagraj Kumbha Mela, exemplifies this transformation, marking a significant step toward gender inclusivity in religious leadership (Jaffrelot, 1996).

Additionally, state intervention in infrastructure, security, and healthcare has facilitated safer and more accessible participation for women pilgrims. Government initiatives such as women-only accommodation, police support, and helplines during the Kumbha Mela have enhanced security, making the pilgrimage experience more inclusive (McKean, 1996). The 2019 Kumbha Mela saw an increase in female-led spiritual discourses and cultural performances, further integrating women into the festival's public sphere (UNESCO, 2017). Despite progress, challenges remain, including gender discrimination in religious spaces and safety concerns in mass gatherings. However, the post-independence period has undeniably seen an expansion of the role of women in the Kumbha Mela, from passive participants to active spiritual leaders and pilgrims, symbolizing broader shifts in Indian religious and social landscapes.

Conclusion

The Kumbh Mela, one of the most significant religious gatherings in the world, has been deeply intertwined with the socio-political landscape of India. From the pre-independence era to the post-independence period, the state's role in organizing and managing the Kumbh Mela has undergone significant transformations, reflecting broader shifts in governance, state intervention, and cultural policy.

Before independence, the Kumbh Mela was primarily a religious and social event organized by religious leaders, local rulers, and community groups. The British colonial administration maintained a cautious approach, focusing mainly on law and order rather than active governance. However, incidents like the 1894 and 1954 stampedes highlighted the necessity of state intervention to manage large-scale pilgrimages. The colonial state viewed the Kumbh Mela through the lens of governance, emphasizing public safety, sanitation, and control rather than embracing its spiritual essence. Despite their regulatory role, British authorities refrained from direct engagement with the religious aspects of the festival, fearing political unrest and potential resistance from the Hindu population.

The post-independence period marked a shift in the state's involvement in the Kumbh Mela, as the newly formed Indian government recognized the event's significance for national identity, tourism, and cultural diplomacy. With the rise of modern governance structures, state intervention became more pronounced, focusing on infrastructure development, crowd management, and health services. The Kumbh Mela evolved into a state-managed event, where the government played a pivotal role in ensuring its smooth execution while respecting its religious sanctity. The formation of specialized administrative bodies, use of technology for crowd control, and allocation of significant resources underscore the state's commitment to managing the event effectively.

Additionally, the post-independence era witnessed the Kumbh Mela becoming a symbol of India's soft power, drawing international attention and reinforcing its image as a land of spiritual heritage. The involvement of global media, international tourists, and statesponsored cultural programs further emphasized the festival's role in cultural diplomacy. Various governments leveraged the Kumbh Mela to project India's rich traditions on the global stage, leading to its recognition by UNESCO as an Intangible Cultural Heritage. Despite these advancements, the evolving role of the state in the Kumbh Mela has raised pertinent debates about the balance between religious autonomy and state control. While state intervention has enhanced safety, accessibility, and organization, concerns about excessive commercialization, political influence, and bureaucratic inefficiencies remain. The interplay between state authorities, religious institutions, and devotees continues to shape the festival's governance, reflecting the broader dynamics of secularism, democracy, and cultural policy in India.

Lastly, the transformation of the Kumbh Mela from a historically decentralized religious gathering to a state-administered mega-event mirrors the broader evolution of governance in India. While the state's role has been instrumental in addressing logistical challenges and elevating the festival's global stature, maintaining the spiritual essence and participatory nature of the Kumbh Mela remains a challenge. Moving forward, a balanced approach that respects religious traditions while leveraging modern governance tools will be crucial in ensuring the festival remains a seamless blend of faith, culture, and state management. The continued evolution of the Kumbh Mela will not only reflect India's administrative capabilities but also its commitment to preserving and celebrating its rich heritage.

Bibliography

Acemoglu, Daron, and James A. Robinson. 2012. Why Nations Fail: The Origins of Power, Prosperity, and Poverty. New York: Crown Publishing.

Bayley, David H. 1998. Police for the Future. New York: Oxford University Press.

Bonazzoli, Giorgio. 1977. "Prayaga and Its Kumbha Mela." Purana 19 (1): 47–80.

Darian, Steven G. 2001. The Ganges in Myth and History. Honolulu: University of Hawaii Press.

Davis, Richard. 2005. Global India circa 100 CE: South Asia in Early World History. Leiden:

Brill.

Faguet, Jean-Paul. 2014. "Decentralization and Governance." World Development 53: 2–13.

Freitag, Sandria. 1989. Collective Action and Community: Public Arenas and the Emergence of Communalism in North India. Berkeley: University of California Press.

Glaeser, Edward L., and David M. Cutler. 2021. Survival of the City: The Future of Urban Life in an Age of Isolation. New York: Penguin Press.

Hawley, John Stratton, and Donna Marie Wulff, eds. 1996. Devi: Goddesses of India.

Berkeley: University of California Press.

Jaffrelot, Christophe. 1996. The Hindu Nationalist Movement and Indian Politics: 1925 to the 1990s. London: Hurst & Company.

Kinsley, David. 1998. Hindu Goddesses: Visions of the Divine Feminine in the Hindu Religious Tradition. Berkeley: University of California Press.

Kumar, Dharma. 2019. Colonialism, Culture, and Nationalism in India. New Delhi: Oxford University Press.

Kulke, Hermann, and B. P. Sahu. 2022. "The State in Premodern India and Beyond: Recent

Perspectives." In The Routledge Handbook of the State in Premodern India, Routledge Handbook. London: Routledge.

Lochtefeld, James G. 2010. God's Gateway: Identity and Meaning in a Hindu Pilgrimage Place. Oxford: Oxford University Press.

Lochtefeld, James G. 2004. "The Construction of the Kumbha Mela." South Asian Popular

Culture 2 (2): 103–26. https://doi.org/10.1080/1474668042000275707

Lochtefeld, James G. 2022. "Kumbha Mela." In Hinduism and Tribal Religions, edited by Jeffery D. Long, Rita D. Sherma, Pratap Jain, and Meena Khanna. Encyclopedia of Indian Religions. Dordrecht: Springer. https://doi.org/10.1007/978-94-024-1188-1_1332.

Maclean, Kama. 2003. "Making the Colonial State Work for You: The Modern Beginnings of the Ancient Kumbh Mela in Allahabad." The Journal of Asian Studies 62 (3): 873–905. https://doi.org/10.2307/3591863.

Maclean, Kama. 2008. Pilgrimage and Power: The Kumbh Mela in Allahabad, 1765–1954.

Oxford: Oxford University Press.

McKean, Lise. 1996. Divine Enterprise: Gurus and the Hindu Nationalist Movement.

Chicago: University of Chicago Press.

Nasik District Gazetteer. (1994 [1883]). Volume 16 of the Gazetteers of the Bombay Presidency. Facsimile Reproduction. The Government Photozinco Press, Pune.

Singh, Nitin. 2017. Religious Gatherings and Colonial Surveillance in India. London:

Routledge.

United Nations Office on Drugs and Crime (UNODC). 2021. The Global Threat of Cybercrime: Trends and Responses. Vienna: UNODC.

UNESCO. 2017. Kumbh Mela, Inscribed in 2017 (12.COM) on the Representative List of the Intangible Cultural Heritage of Humanity. Paris: UNESCO.

World Bank. 2020. Infrastructure for Development: A World Bank Report. Washington, DC:

World Bank Publications.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

जलवायु परिवर्तन का जनजातीय महिलाओं पर प्रभाव : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. पायल पोद्दार
सहायक प्राध्यापक, मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत
अंजली त्रिपाठी
शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान, भारत

सारांश

जलवायु परिवर्तन 21वीं सदी की सबसे गंभीर वैश्विक चुनौतियों में से एक है, जिसका प्रभाव प्राकृतिक संसाधनों, कृषि, जैव विविधता, खाद्य सुरक्षा तथा मानव जीवन के विभिन्न आयामों पर स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। इसका प्रभाव सभी समुदायों पर समान नहीं पड़ता, बल्कि सामाजिक, आर्थिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों के कारण कुछ समूह अधिक संवेदनशील होते हैं। भारत की जनजातीय महिलाएँ ऐसा ही एक समूह हैं, जिनकी आजीविका मुख्यतः कृषि, वनों तथा प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर करती है। अनियमित वर्षा, बढ़ते तापमान, सूखा, बाढ़ तथा वन संसाधनों में कमी का सीधा प्रभाव उनके जीवन, स्वास्थ्य, पोषण, आय तथा सामाजिक सुरक्षा पर पड़ता है। अतः प्रस्तुत समीक्षा लेख उपलब्ध राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय साहित्य के आधार पर जलवायु परिवर्तन और जनजातीय महिलाओं के बीच संबंध का विश्लेषण करता है। प्रस्तुत लेख में जलवायु परिवर्तन से प्रमुख चुनौतियों, महिलाओं द्वारा अपनाई जा रही अनुकूलन रणनीतियों तथा भारत सरकार की नीतियों की समीक्षा की गई है। साथ ही साहित्य में मौजूद शोध-अंतर की पहचान करते हुए भविष्य के अनुसंधान के लिए सुझाव भी प्रस्तुत किए गए हैं। यह समीक्षा दर्शाती है कि जनजातीय महिलाएँ केवल जलवायु परिवर्तन की पीड़ित नहीं हैं, बल्कि स्थानीय ज्ञान, सामुदायिक संसाधन प्रबंधन तथा सतत आजीविका के माध्यम से जलवायु अनुकूलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

मुख्य शब्द : जलवायु परिवर्तन, जनजातीय महिलाएँ, अनुकूलन रणनीतियाँ, जलवायु न्याय, आजीविका, नीति समीक्षा।

भूमिका

जलवायु परिवर्तन वर्तमान समय की सबसे महत्वपूर्ण पर्यावरणीय एवं विकास संबंधी चुनौतियों में से एक है। औद्योगीकरण, जीवाश्म ईंधनों का अत्यधिक उपयोग, वनों की कटाई तथा ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन के कारण पृथ्वी का औसत तापमान लगातार बढ़ रहा है। इसके परिणामस्वरूप वर्षा चक्र में परिवर्तन, सूखा, बाढ़, हीट वेव, समुद्र-स्तर में वृद्धि तथा जैव विविधता का क्षरण जैसी समस्याएँ तेजी से बढ़ रही हैं।

भारत विश्व के उन देशों में है जहाँ जलवायु परिवर्तन के प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट हैं। ग्रामीण एवं जनजातीय समुदायों

की आजीविका प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित होने के कारण वे इन परिवर्तनों से सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। विशेष रूप से जनजातीय महिलाएँ कृषि कार्य, वनोपज संग्रह, जल एवं ईंधन की व्यवस्था, पशुपालन तथा परिवार के पोषण की मुख्य जिम्मेदारी निभाती हैं। इसलिए जलवायु परिवर्तन का प्रभाव उनके श्रम, स्वास्थ्य, आय तथा सामाजिक स्थिति पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है।

हाल के वर्षों में यह स्वीकार किया गया है कि जलवायु परिवर्तन को केवल पर्यावरणीय समस्या के रूप में नहीं देखा जा सकता, बल्कि यह लैंगिक समानता, सामाजिक न्याय तथा सतत विकास से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। बिना जलवायु नीतियों में महिलाओं, विशेषकर जनजातीय महिलाओं की आवश्यकताओं एवं अनुभवों को शामिल किए , जलवायु न्याय की अवधारणा अधूरी है।

जनजातीय महिलाएँ सदियों से स्थानीय पारिस्थितिकी, बीज संरक्षण, औषधीय पौधों, जल संरक्षण तथा वन प्रबंधन का पारंपरिक ज्ञान रखती हैं। यह ज्ञान जलवायु परिवर्तन के अनुकूलन में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसके बावजूद नीति निर्माण एवं निर्णय प्रक्रिया में उनकी भागीदारी अभी भी सीमित है। अत इस विषय पर उपलब्ध साहित्य का व्यवस्थित विश्लेषण करना आवश्यक है। अतः प्रस्तुत समीक्षा लेख उपलब्ध राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय साहित्य के आधार पर जलवायु परिवर्तन और जनजातीय महिलाओं के बीच संबंध का विश्लेषण करता है। प्रस्तुत लेख में जलवायु परिवर्तन से प्रमुख चुनौतियों, महिलाओं द्वारा अपनाई जा रही अनुकूलन रणनीतियों तथा भारत सरकार की नीतियों की समीक्षा की गई है।

समीक्षात्मक प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन विषय समीक्षा पर आधारित है। समीक्षा के लिए Scopus, Google Scholar, Web of Science, UN Women, IPCC, WHO तथा अन्य विश्वसनीय संस्थानों के प्रकाशित शोध-पत्रों एवं रिपोर्टों का उपयोग किया गया। अध्ययन मुख्यतः 2015-2025 के बीच प्रकाशित साहित्य पर केंद्रित है, जबकि कुछ आधारभूत एवं अध्ययनों को भी संदर्भित किया गया है।

साहित्य समीक्षा

UN Women (2009) ने अपने अध्ययन ।कपअेंपॅवउमद ंदक ब्सपउंजम बिंदहम में बताया कि आदिवासी महिलाओं का जीवन प्राकृतिक संसाधनों पर अत्यधिक निर्भर है। जलवायु परिवर्तन के कारण जल संकट, खाद्य असुरक्षा तथा वन संसाधनों की उपलब्धता में कमी आई है। अध्ययन में यह भी कहा गया कि नीति निर्माण में महिलाओं के पारंपरिक ज्ञान को पर्याप्त महत्व नहीं दिया गया।

UNIFEM (2009) के अनुसार जलवायु परिवर्तन का महिलाओं पर प्रभाव केवल पर्यावरणीय नहीं बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक भी है। संसाधनों की कमी के कारण महिलाओं का श्रम बढ़ जाता है तथा शिक्षा, स्वास्थ्य एवं निर्णय-निर्माण में उनकी भागीदारी प्रभावित होती है।

Sorensen et al- (2018) ने महिलाओं के स्वास्थ्य पर जलवायु परिवर्तन के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए बताया कि अत्यधिक तापमान, खाद्य असुरक्षा, जलजनित रोग तथा मानसिक तनाव महिलाओं को असमान रूप से प्रभावित करते हैं। लेखकों ने gender-sensitive climate policy की आवश्यकता पर बल दिया।

Joseph (2024) ने अपने भारत की जनजातीय महिलाओं पर केंद्रित अध्ययन में बताया कि जलवायु परिवर्तन के कारण जल उपलब्धता में कमी, कृषि उत्पादकता में गिरावट तथा स्वास्थ्य जोखिम बढ़े हैं। इसके बावजूद जनजातीय महिलाएँ स्थानीय ज्ञान के माध्यम से सफल अनुकूलन रणनीतियाँ विकसित कर रही हैं।

Climate Investment Funds (2021) की रिपोर्ट में बताया गया कि आदिवासी महिलाएँ जलवायु परिवर्तन के प्रति सबसे अधिक संवेदनशील समूहों में से एक हैं, क्योंकि भूमि, वित्तीय संसाधनों और निर्णय-निर्माण तक उनकी पहुँच सीमित

रहती है। रिपोर्ट यह भी बताती है कि पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान जलवायु अनुकूलन का एक महत्वपूर्ण आधार है और महिलाओं को जलवायु नीति में केंद्रीय स्थान मिलना चाहिए

International Journal of Creative Research Thoughts में प्रकाशित अध्ययन (2020) के अनुसार जलवायु परिवर्तन का प्रभाव जनजातीय महिलाओं पर लैंगिक रूप से असमान है। सूखा, बाढ़ और वन संसाधनों में कमी से महिलाओं का कार्यभार बढ़ता है तथा खाद्य एवं पोषण सुरक्षा प्रभावित होती है। अध्ययन ने महिलाओं के सामुदायिक नेतृत्व और प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन को मजबूत करने की सिफारिश की।

CGIAR (2025) के नीति-पत्र में पाया गया कि जलवायु परिवर्तन ग्रामीण एवं आदिवासी महिलाओं की सामाजिक असमानताओं को और बढ़ा देता है। अध्ययन ने स्थानीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी, नेतृत्व विकास और जलवायु अनुकूलन कार्यक्रमों में उनकी सक्रिय भूमिका बढ़ाने पर बल दिया।

Women and Gender Constituency की परियोजना समीक्षा के अनुसार भारत में जनजातीय एवं दलित महिलाओं ने जैविक खेती, सामुदायिक वानिकी, वृक्षारोपण और पारंपरिक कृषि तकनीकों के माध्यम से जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

Kyle Powys Whyte ने अपने व्यापक अध्ययन में बताया कि आदिवासी महिलाओं का पारंपरिक ज्ञान केवल सांस्कृतिक विरासत नहीं, बल्कि जलवायु परिवर्तन के अनुकूलन का एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक आधार भी है। उन्होंने नीति-निर्माण में आदिवासी महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया।

National Center for Biotechnology Information पर प्रकाशित 2025 की एक Systematic Review में निष्कर्ष निकाला गया कि जलवायु परिवर्तन महिलाओं के स्वास्थ्य, पोषण, मानसिक स्वास्थ्य और प्रजनन स्वास्थ्य पर असमान प्रभाव डालता है। अध्ययन ने Gender-responsive Climate Policies और महिलाओं के नेतृत्व वाले अनुकूलन कार्यक्रमों को अधिक प्रभावी बताया।

साहित्य समीक्षा का समग्र निष्कर्ष

उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट होता है कि अधिकांश अध्ययनों ने जलवायु परिवर्तन के कारण जनजातीय महिलाओं की आजीविका, खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, जल उपलब्धता तथा प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों को रेखांकित किया है। साथ ही, यह भी तथ्य उभर कर सामने आता है कि जनजातीय महिलाएँ केवल प्रभावित समूह नहीं हैं, बल्कि अपने पारंपरिक ज्ञान, जैव विविधता संरक्षण, सामुदायिक सहयोग और टिकाऊ कृषि पद्धतियों के माध्यम से जलवायु अनुकूलन की महत्वपूर्ण एजेंट भी हैं। परन्तु भारत के विभिन्न राज्यों के जनजातीय समुदायों पर तुलनात्मक एवं क्षेत्र-विशिष्ट अध्ययनों की अभी भी कमी है, जो भविष्य के शोध के लिए एक महत्वपूर्ण शोध अन्तराल प्रस्तुत करती है।

सैधान्तिक आधार : प्रस्तुत शोध समीक्षा को विभिन्न सिधान्तों के आधार पर विश्लेषित किया गया है, जो इस प्रकार हैं :

पारिस्थितिक नारीवाद सिद्धांत

पारिस्थितिक नारीवाद एक सामाजिक एवं पर्यावरणीय सिद्धांत है, जो महिलाओं और प्रकृति के बीच गहरे संबंध को स्पष्ट करता है। इस सिद्धांत का विकास 1970 के दशक में हुआ तथा बाद में वंदना शिवा (1988) और मारिया माइस (1993) ने इसे व्यापक रूप से विकसित किया। इस सिद्धांत के अनुसार महिलाओं और प्रकृति दोनों का शोषण एक ही पितृसत्तात्मक, पूँजीवादी एवं संसाधन-प्रधान विकास मॉडल के कारण होता है। जिस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन पर्यावरणीय संकट को जन्म देता है, उसी प्रकार महिलाओं के श्रम, ज्ञान एवं योगदान की उपेक्षा सामाजिक असमानता को बढ़ाती है।

इस सिद्धांत का मानना है कि महिलाओं का जीवन प्रकृति से गहराई से जुड़ा होता है। विशेष रूप से ग्रामीण एवं जनजातीय महिलाएँ अपनी दैनिक आवश्यकताओं जैसे जल, ईंधन, चारा, खाद्य सामग्री तथा औषधीय पौधों के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहती हैं। इसलिए जब जलवायु परिवर्तन के कारण वर्षा में अनियमितता, सूखा, बाढ़, वनों का क्षरण तथा जल संकट जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, इनका सबसे अधिक प्रभाव महिलाओं पर पड़ता है। उन्हें अधिक दूरी तय करके जल एवं ईंधन एकत्र करना पड़ता है, कृषि कार्य का बोझ बढ़ जाता है तथा परिवार की खाद्य एवं पोषण सुरक्षा बनाए रखना कठिन हो जाता है।

यह सिद्धांत केवल महिलाओं की समस्याओं पर ही नहीं, बल्कि उनके समाधानकारी योगदान पर भी बल देता है। जनजातीय महिलाओं के पास स्थानीय पर्यावरण, जैव विविधता, बीज संरक्षण, औषधीय पौधों तथा जल संरक्षण से संबंधित पारंपरिक ज्ञान होता है। यही ज्ञान जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने तथा समुदायों को अनुकूलन में सहायता प्रदान करता है। इसलिए पारिस्थितिक नारीवाद सिद्धांत महिलाओं को केवल ष्पीड़ितष के रूप में नहीं , बल्कि उन्हें पर्यावरण संरक्षण एवं सतत विकास की महत्वपूर्ण भागीदार के रूप में भी देखता है।

प्रस्तुत अध्ययन के संदर्भ में पारिस्थितिक नारीवाद सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक है यह स्पष्ट करती है कि जलवायु परिवर्तन और लैंगिक असमानता एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जनजातीय महिलाएँ प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर होने के कारण जलवायु परिवर्तन से अधिक प्रभावित होती हैं, लेकिन उनके पारंपरिक ज्ञान, सामुदायिक नेतृत्व एवं संसाधन प्रबंधन की क्षमता उन्हें जलवायु अनुकूलन की महत्वपूर्ण एजेंट भी बनाती है। अतः जलवायु नीतियों में जनजातीय महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करना, उनके ज्ञान को मान्यता देना तथा निर्णय-निर्माण में उनकी भूमिका बढ़ाना जलवायु न्याय और सतत विकास के लिए आवश्यक है।

Sustainable Livelihood Framework (SLF)

यह Framework बताता है कि किसी व्यक्ति या समुदाय की आजीविका केवल आय पर निर्भर नहीं होती, बल्कि पाँच प्रकार की पूँजी पर आधारित होती है—मानव पूँजी , प्राकृतिक पूँजी, सामाजिक पूँजी, भौतिक पूँजी तथा वित्तीय पूँजी। इन पाँचों पूँजियों का संतुलित उपयोग किसी समुदाय को सतत एवं सुरक्षित आजीविका प्रदान करता है।

सिद्धांत के अनुसार किसी समुदाय की आजीविका पर बाहरी झटकों (Shocks), मौसमी परिवर्तन तथा दीर्घकालिक प्रवृत्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। जलवायु परिवर्तन इन्हीं बाहरी झटकों में से एक है, जो सूखा, बाढ़, अनियमित वर्षा, तापमान वृद्धि और प्राकृतिक आपदाओं के माध्यम से आजीविका को प्रभावित करता है। जब प्राकृतिक संसाधन कम होते हैं तो कृषि उत्पादन घटता है, आय कम होती है तथा खाद्य सुरक्षा कमजोर पड़ती है।

जनजातीय महिलाओं के संदर्भ में यह सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि उनका जीवन मुख्य रूप से जंगल, भूमि, जल एवं कृषि पर आधारित होता है। वे वनोपज संग्रह, पशुपालन, ईंधन एवं जल संग्रह तथा कृषि कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जलवायु परिवर्तन के कारण इन प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता कम होने से महिलाओं को अधिक दूरी तय करनी पड़ती है, श्रम बढ़ता है और आय के अवसर घट जाते हैं। इससे परिवार की खाद्य सुरक्षा और पोषण भी प्रभावित होता है।

यह सिद्धांत भी बताता है कि यदि सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई, सड़क, ऋण सुविधा, महिला स्वयं सहायता समूह तथा कौशल विकास जैसे संसाधनों को मजबूत करे, तो समुदाय जलवायु परिवर्तन के प्रभावों का बेहतर ढंग से सामना कर सकता है। इसलिए यह सिद्धांत केवल समस्याओं की पहचान नहीं करता, बल्कि समाधान और नीति-निर्माण का आधार भी प्रदान करता है।

जेंडर एंड डेवलपमेंट सिद्धांत

यह सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि महिलाओं की समस्याओं को केवल 'महिलाओं की समस्या' मानकर नहीं

देखा जा सकता, बल्कि समाज में महिलाओं और पुरुषों के बीच मौजूद सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संबंधों को समझना आवश्यक है।

इस सिद्धांत के अनुसार महिलाओं की असमान स्थिति का कारण उनकी क्षमता की कमी नहीं, बल्कि संसाधनों, शिक्षा, भूमि, ऋण, तकनीक और निर्णय-निर्माण तक सीमित पहुँच है। इसलिए विकास नीतियों में केवल महिलाओं को लाभार्थी बनाने के बजाय उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रिया में समान भागीदारी देना आवश्यक है।

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में यह सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि प्राकृतिक आपदाओं, जल संकट, खाद्य असुरक्षा और आजीविका के संकट का प्रभाव महिलाओं और पुरुषों पर समान नहीं पड़ता। जनजातीय महिलाएँ जल, ईंधन, चारा और खाद्य संग्रह की जिम्मेदारी निभाती हैं। जब जलवायु परिवर्तन के कारण प्राकृतिक संसाधनों की कमी होती है, तो उनके श्रम का बोझ बढ़ जाता है। कई बार लड़कियों की शिक्षा प्रभावित होती है और महिलाओं के स्वास्थ्य एवं पोषण पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

सिद्धांत यह भी बताता है कि यदि महिलाओं को भूमि अधिकार, वित्तीय सेवाएँ, शिक्षा, तकनीकी प्रशिक्षण तथा जलवायु नीति में भागीदारी मिले, तो वे जलवायु परिवर्तन के प्रभावों का बेहतर ढंग से सामना कर सकती हैं। विशेष रूप से जनजातीय महिलाओं का पारंपरिक ज्ञान, बीज संरक्षण, जैव विविधता संरक्षण तथा सामुदायिक नेतृत्व जलवायु अनुकूलन में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

इस अध्ययन में GAD Theory का उपयोग यह विश्लेषण करने के लिए किया गया है कि जलवायु परिवर्तन से उत्पन्न चुनौतियाँ लैंगिक असमानताओं को किस प्रकार प्रभावित करती हैं तथा महिलाओं की भागीदारी बढ़ाकर जलवायु अनुकूलन और सतत विकास को कैसे मजबूत किया जा सकता है।

जलवायु परिवर्तन के कारण जनजातीय महिलाओं के समक्ष प्रमुख चुनौतियाँ

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव समाज के सभी वर्गों पर पड़ता है, किंतु जनजातीय महिलाओं पर इसका प्रभाव अधिक गंभीर एवं बहुआयामी होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उनकी आजीविका, खाद्य सुरक्षा तथा दैनिक जीवन प्राकृतिक संसाधनों पर अत्यधिक निर्भर होते हैं। अधिकांश जनजातीय महिलाएँ कृषि, लघु वनोपज संग्रह, पशुपालन तथा जल एवं ईंधन संग्रह जैसे कार्यों से जुड़ी होती हैं। जब जलवायु परिवर्तन के कारण वर्षा का स्वरूप बदलता है, तापमान बढ़ता है, सूखा एवं बाढ़ जैसी घटनाएँ बढ़ती हैं, तब इनका सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव महिलाओं के जीवन पर दिखाई देता है।

कृषि एवं आजीविका पर प्रभाव

जनजातीय समुदायों की आजीविका मुख्यतः वर्षा आधारित कृषि एवं वन संसाधनों पर निर्भर करती है। अनियमित वर्षा, लंबे सूखे तथा अत्यधिक वर्षा के कारण फसल उत्पादन में कमी आती है, जिससे परिवार की आय प्रभावित होती है। महिलाओं को कृषि कार्य के साथ-साथ परिवार की खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। कई अध्ययनों में यह पाया गया है कि जलवायु परिवर्तन के कारण महिलाओं के कार्य के घंटे बढ़े हैं, जबकि उनकी आय में अपेक्षित वृद्धि नहीं हुई है।

जल संकट एवं कार्यभार में वृद्धि

जलवायु परिवर्तन के कारण अनेक क्षेत्रों में जल स्रोत सूख जाते हैं या उनका जल स्तर घट रहा है। ग्रामीण एवं जनजातीय क्षेत्रों में जल लाने की जिम्मेदारी अधिकांशतः महिलाओं पर होती है। जब जल स्रोत दूर हो जाते हैं, तब महिलाओं एवं किशोरियों को प्रतिदिन कई किलोमीटर तक पैदल चलना पड़ता है। इससे उनका समय, श्रम तथा स्वास्थ्य प्रभावित होता है तथा शिक्षा एवं आय अर्जित करने के अवसर भी कम हो जाते हैं।

खाद्य एवं पोषण असुरक्षा

जलवायु परिवर्तन का प्रत्यक्ष प्रभाव खाद्य उत्पादन पर पड़ता है। फसल उत्पादन में कमी, वनोपज की उपलब्धता में गिरावट तथा पशुधन पर प्रतिकूल प्रभाव के कारण जनजातीय परिवारों में खाद्य असुरक्षा बढ़ती है। अनेक परिस्थितियों में महिलाएँ स्वयं कम भोजन ग्रहण करके परिवार के अन्य सदस्यों को प्राथमिकता देती हैं, जिससे कुपोषण, रक्ताल्पता तथा अन्य स्वास्थ्य समस्याओं का जोखिम बढ़ जाता है।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

बढ़ते तापमान, जलजनित रोग, मलेरिया, डेंगू तथा अन्य संक्रामक रोगों का खतरा जलवायु परिवर्तन के साथ बढ़ता है। गर्भवती महिलाओं, बच्चों तथा वृद्ध महिलाओं पर इसका प्रभाव अधिक गंभीर हो सकता है। अत्यधिक गमी एवं पोषण की कमी महिलाओं के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य दोनों को प्रभावित करती है। स्वास्थ्य सेवाओं तक सीमित पहुँच जनजातीय महिलाओं की स्थिति को और अधिक चुनौतीपूर्ण बना देती है।

वन संसाधनों में कमी

जनजातीय महिलाएँ ईंधन, चारा, फल, औषधीय पौधे तथा लघु वनोपज के लिए वनों पर निर्भर रहती हैं। जलवायु परिवर्तन एवं वनों के क्षरण के कारण इन संसाधनों की उपलब्धता कम हो रही है। परिणामस्वरूप महिलाओं को अधिक दूरी तय करनी पड़ती है तथा उनके श्रम का बोझ बढ़ जाता है। इससे उनकी आय तथा पारिवारिक जीवन दोनों प्रभावित होते हैं।

आर्थिक असुरक्षा एवं पलायन

जब कृषि एवं वन आधारित आय कम होती है, तब अनेक परिवार रोजगार की तलाश में पलायन करते हैं। पुरुषों के पलायन के बाद परिवार की आर्थिक एवं सामाजिक जिम्मेदारी महिलाओं पर आ जाती है। सीमित संसाधनों और कम आय के कारण वे आर्थिक असुरक्षा का सामना करती हैं तथा कई बार ऋण के बोझ में भी फँस जाती हैं।

सामाजिक एवं लैंगिक असमानताएँ

जलवायु परिवर्तन पहले से मौजूद लैंगिक असमानताओं को और अधिक गहरा कर देता है। भूमि का स्वामित्व, ऋण सुविधा, आधुनिक तकनीक, कृषि प्रशिक्षण तथा निर्णय-निर्माण में महिलाओं की सीमित भागीदारी उनके अनुकूलन की क्षमता को प्रभावित करती है। विशेष रूप से जनजातीय महिलाओं के पास संसाधनों तक समान पहुँच नहीं होने के कारण वे जलवायु परिवर्तन के प्रभावों के प्रति अधिक संवेदनशील रहती हैं।

जनजातीय महिलाओं द्वारा अपनाई गई अनुकूलन रणनीतियाँ

जलवायु परिवर्तन के बढ़ते प्रभावों के बावजूद जनजातीय महिलाएँ केवल प्रभावित वर्ग नहीं हैं, बल्कि वे अपने पारंपरिक ज्ञान, सामुदायिक सहयोग तथा स्थानीय संसाधनों के कुशल प्रबंधन के माध्यम से जलवायु अनुकूलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अनेक अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि आदिवासी समुदायों में महिलाओं द्वारा अपनाई गई रणनीतियाँ स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप होती हैं तथा दीर्घकाल में आजीविका और पर्यावरण दोनों की सुरक्षा में सहायक सिद्ध होती हैं

पारंपरिक ज्ञान

जनजातीय महिलाओं के पास पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त स्थानीय एवं पारंपरिक ज्ञान होता है। वे स्थानीय जलवायु, मिट्टी,

औषधीय पौधों, जैव विविधता तथा बीज संरक्षण के बारे में गहरी जानकारी रखती हैं। यह ज्ञान बदलती जलवायु परिस्थितियों में कृषि एवं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। स्थानीय बीजों का संरक्षण, मिश्रित खेती तथा पारंपरिक जल संरक्षण तकनीकों का उपयोग जलवायु जोखिम को कम करने में सहायक होता है।

जल संरक्षण एवं प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन

जल संकट से निपटने के लिए अनेक जनजातीय क्षेत्रों में महिलाएँ वर्षा जल संचयन, तालाबों का संरक्षण, छोटे जलाशयों का रखरखाव तथा सामुदायिक जल प्रबंधन में सक्रिय भागीदारी निभाती हैं। जल संरक्षण की ये पहलें कृषि उत्पादन एवं पेयजल उपलब्धता दोनों के लिए लाभकारी सिद्ध होती हैं

जैविक एवं विविधीकृत कृषि

रासायनिक उर्वरकों पर निर्भरता कम करने तथा जलवायु जोखिम घटाने के लिए कई जनजातीय महिलाएँ जैविक खेती, बहुफसली प्रणाली, कृषि-वानिकी तथा स्थानीय बीजों का उपयोग करती हैं। इससे मिट्टी की उर्वरता बनी रहती है, उत्पादन में स्थिरता आती है तथा खाद्य सुरक्षा मजबूत होती है।

स्वयं सहायता समूह एवं सामुदायिक सहयोग

महिला स्वयं सहायता समूह जनजातीय महिलाओं की आर्थिक एवं सामाजिक सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन समूहों के माध्यम से महिलाएँ बचत, ऋण, लघु उद्यम, कौशल विकास तथा जलवायु अनुकूल आजीविका गतिविधियों को बढ़ावा देती हैं। सामूहिक प्रयास उनकी अनुकूलन क्षमता को मजबूत बनाते हैं।

आय के वैकल्पिक स्रोत

कृषि पर निर्भरता कम करने के लिए जनजातीय महिलाएँ मधुमक्खी पालन, मशरूम उत्पादन, हस्तशिल्प, बांस उत्पाद, कुक्कुट पालन तथा लघु वनोपज आधारित उद्यम अपनाती हैं। आय के विविध स्रोत जलवायु जोखिम को कम करते हैं तथा आर्थिक स्थिरता बढ़ाते हैं।

सामुदायिक नेतृत्व एवं निर्णय-निर्माण

हाल के वर्षों में अनेक क्षेत्रों में जनजातीय महिलाएँ वन प्रबंधन समितियों, ग्राम सभाओं तथा स्थानीय विकास समितियों में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। निर्णय-निर्माण में उनकी भागीदारी प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण एवं जलवायु अनुकूलन कार्यक्रमों की सफलता को बढ़ाती है।

समग्र विश्लेषण

स्पष्ट होता है कि जनजातीय महिलाओं द्वारा अपनाई गई अनुकूलन रणनीतियाँ केवल पर्यावरण संरक्षण तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक एवं आर्थिक विकास से भी जुड़ी हुई हैं। यदि इन पारंपरिक रणनीतियों को आधुनिक तकनीक, सरकारी योजनाओं तथा संस्थागत सहयोग से जोड़ा जाए, तो जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को काफी हद तक कम किया जा सकता है। इसलिए जलवायु नीति निर्माण में जनजातीय महिलाओं के ज्ञान, अनुभव एवं नेतृत्व को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए।

भारत सरकार की नीतियाँ एवं कार्यक्रम

भारत सरकार ने जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने तथा संवेदनशील समुदायों की अनुकूलन क्षमता बढ़ाने

के लिए अनेक नीतियाँ एवं कार्यक्रम लागू किए हैं। इनमें National Action Plan on Climate Change (NAPCC), State Action Plans on Climate Change (SAPCCs), National Mission for Sustainable Agriculture (NMSA), National Rural Livelihoods Mission (NRLM), Forest Rights Act, 2006, तथा MGNREGA प्रमुख हैं।

इन योजनाओं का उद्देश्य प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण, टिकाऊ कृषि को बढ़ावा देना, ग्रामीण रोजगार उपलब्ध कराना तथा महिलाओं की आजीविका को मजबूत करना है। यद्यपि इन कार्यक्रमों से जनजातीय महिलाओं को लाभ मिला है, फिर भी कई अध्ययनों के अनुसार इनकी पहुँच, प्रभावी क्रियान्वयन, वित्तीय सहायता तथा महिलाओं की निर्णय-निर्माण में भागीदारी अभी भी सीमित है। इसलिए भविष्य की जलवायु नीतियों में Gender-responsive Planning, स्थानीय समुदायों की भागीदारी तथा जनजातीय महिलाओं के पारंपरिक ज्ञान को अधिक महत्व देना आवश्यक है।

विश्लेषण

उपलब्ध साहित्य के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जलवायु परिवर्तन का प्रभाव जनजातीय महिलाओं पर केवल पर्यावरणीय नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक एवं स्वास्थ्य संबंधी भी है। अधिकांश अध्ययनों (UN Women, 2009(IPCC, 2022(FAO, 2023) से यह निष्कर्ष निकाला है कि जनजातीय महिलाएँ कृषि, वन संसाधनों तथा जल स्रोतों पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर होने के कारण जलवायु परिवर्तन के प्रति अधिक संवेदनशील हैं। अनियमित वर्षा, सूखा, बाढ़ तथा तापमान वृद्धि के कारण उनकी आजीविका प्रभावित होती है, जिसके परिणामस्वरूप आय में कमी, खाद्य असुरक्षा तथा कुपोषण जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। समीक्षित अध्ययनों से यह भी स्पष्ट हुआ कि जलवायु परिवर्तन महिलाओं के कार्यभार में वृद्धि करता है। जल, ईंधन तथा चारे की उपलब्धता घटने के कारण महिलाओं को अधिक दूरी तय करनी पड़ती है, जिससे उनका समय, श्रम एवं स्वास्थ्य प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक संसाधनों में कमी के कारण पुरुषों का पलायन बढ़ता है, जिससे परिवार की आर्थिक एवं सामाजिक जिम्मेदारियाँ महिलाओं पर अधिक आ जाती हैं।

दूसरी ओर, कुछ अध्ययन यह भी दर्शाते है कि जनजातीय महिलाएँ केवल जलवायु परिवर्तन की पीड़ित नहीं हैं, बल्कि वे जलवायु अनुकूलन की महत्वपूर्ण एजेंट भी हैं। पारंपरिक कृषि पद्धतियाँ, स्थानीय बीज संरक्षण, जैव विविधता का संरक्षण, वर्षा जल संचयन तथा सामुदायिक संसाधन प्रबंधन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यदि इन पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों को आधुनिक तकनीक एवं सरकारी योजनाओं के साथ जोड़ा जाए, तो जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को काफी हद तक कम किया जा सकता है।

यद्यपि भारत सरकार ने National Action Plan on Climate Change (NAPCC), National Rural Livelihoods Mission (NRLM), Forest Rights Act, 2006 तथा अन्य योजनाओं के माध्यम से जलवायु अनुकूलन एवं महिला सशक्तिकरण की दिशा में प्रयास किए हैं, फिर भी जनजातीय महिलाओं की निर्णय-निर्माण में भागीदारी, तकनीकी प्रशिक्षण तथा वित्तीय सहायता अभी भी पर्याप्त नहीं है। अतः जलवायु नीतियों में Gender&responsive Planning तथा Tribal-inclusive Governance को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

अध्ययन की सीमाएं

यद्यपि यह समीक्षा अध्ययन उपलब्ध साहित्य का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत करता है, फिर भी इसकी कुछ सीमाएँ हैं।

प्रथम यह अध्ययन मुख्यतः प्रकाशित शोध-पत्रों, पुस्तकों, अंतरराष्ट्रीय रिपोर्टों तथा सरकारी दस्तावेजों पर आधारित है। इसलिए जिन शोधों का प्रकाशन नहीं हुआ या जो स्थानीय भाषाओं में उपलब्ध हैं, वे इस समीक्षा में सम्मिलित नहीं किए जा सके।

द्वितीय यह अध्ययन भारत की सभी जनजातियों का पृथक-पृथक विश्लेषण नहीं करता। विभिन्न राज्यों की जनजातीय

महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं, जिनका विस्तृत क्षेत्रीय अध्ययन भविष्य में किया जा सकता है।

साथ ही यह एक समीक्षा अध्ययन है, इसलिए इसमें प्राथमिक आंकड़ों का उपयोग नहीं किया गया है। भविष्य में क्षेत्रीय सर्वेक्षण, साक्षात्कार तथा केस स्टडी के माध्यम से इन निष्कर्षों का अनुभवजन्य सत्यापन किया जा सकता है।

निष्कर्ष

जलवायु परिवर्तन वर्तमान समय की सबसे गंभीर वैश्विक चुनौतियों में से एक है, जिसका प्रभाव जनजातीय महिलाओं के जीवन पर बहुआयामी रूप से पड़ रहा है। यह समीक्षा स्पष्ट करती है कि जलवायु परिवर्तन के कारण उनकी आजीविका, कृषि, जल उपलब्धता, स्वास्थ्य, पोषण तथा आर्थिक सुरक्षा प्रभावित होती है। इसके साथ ही सामाजिक एवं लैंगिक असमानताएँ भी और अधिक गहरी हो जाती हैं। समीक्षित साहित्य से यह भी स्पष्ट हुआ कि जनजातीय महिलाएँ केवल संवेदनशील समूह नहीं हैं, बल्कि जलवायु परिवर्तन के अनुकूलन में उनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। पारंपरिक ज्ञान, जैव विविधता संरक्षण, प्राकृतिक संसाधनों का सतत प्रबंधन तथा सामुदायिक नेतृत्व जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

अतः आवश्यक है कि जलवायु नीतियों में जनजातीय महिलाओं की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जाए, उन्हें भूमि, वित्त, तकनीक, शिक्षा तथा निर्णय-निर्माण तक समान पहुँच प्रदान की जाए तथा उनके पारंपरिक ज्ञान को औपचारिक जलवायु रणनीतियों में समाहित किया जाए। इससे न केवल जनजातीय समुदायों की जलवायु अनुकूलन क्षमता बढ़ेगी, बल्कि सतत विकास, लैंगिक समानता तथा जलवायु न्याय के लक्ष्यों की प्राप्ति भी संभव होगी।

यह समीक्षा अध्ययन केवल सैद्धांतिक दृष्टिकोण तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके महत्वपूर्ण व्यावहारिक (Practical) एवं नीतिगत (Policy) निहितार्थ भी हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने के लिए जनजातीय महिलाओं को केवल लाभार्थी (Beneficiaries) के रूप में नहीं, बल्कि परिवर्तन के सक्रिय अभिकर्ता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

समीक्षित साहित्य यह दर्शाता है कि जनजातीय महिलाओं के पास जल संरक्षण, बीज संरक्षण, जैव विविधता संरक्षण, औषधीय पौधों के उपयोग तथा प्राकृतिक संसाधनों के सतत प्रबंधन से संबंधित समृद्ध पारंपरिक ज्ञान उपलब्ध है। यदि इस ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों के साथ जोड़ा जाए, तो जलवायु परिवर्तन के प्रति समुदायों की अनुकूलन क्षमता में उल्लेखनीय वृद्धि हो सकती है।

सन्दर्भ

Agarwal, B. (2010). Gender and green governance: The political economy of women's presence within and beyond community forestry. Oxford University Press.

Bryan, E., Ringler, C., & Meinzen-Dick, R. (2023). Addressing gender inequalities and strengthening women's agency for climate-resilient and sustainable food systems. CGIAR Gender Impact Platform.

Dankelman, I. (Ed.). (2010). Gender and climate change: An introduction. Earthscan.

Department for International Development. (1999). Sustainable livelihoods guidance sheets. DFID.

Food and Agriculture Organization. (2011). The state of food and agriculture 2010-11: Women in agriculture-Closing the gender gap for development. FAO.

Food and Agriculture Organization. (2023). The status of women in agrifood systems. FAO.

Fruttero, A., Halim, D., Broccolini, C., Coelho, B., Gninafon, H., & Muller, N. (2024). Gendered impacts of climate

change: Evidence from weather shocks. Environmental Research: Climate, 3(4), 045018.

Intergovernmental Panel on Climate Change. (2014). Climate change 2014: Impacts, adaptation, and vulnerability. Cambridge University Press.

Intergovernmental Panel on Climate Change. (2022). Climate change 2022: Impacts, adaptation and vulnerability. Cambridge University Press.

Kovaleva, M., Leal Filho, W., Borgemeister, C., & Kalungu, J. W. (2022). Women's leadership in climate change adaptation and mitigation. Sustainability, 14(15), 9410.

Mies, M., & Shiva, V. (1993). Ecofeminism. Zed Books.

Moser, C. O. N. (1993). Gender planning and development: Theory, practice and training. Routledge.

Nelson, V., Meadows, K., Cannon, T., Morton, J., & Martin, A. (2002). Uncertain predictions, invisible impacts and the need to mainstream gender in climate change adaptation. Gender & Development, 10(2), 51-59.

Preet, R., Nilsson, M., Schumann, B., & Evengård, B. (2010). The gender perspective in climate change and global health. Global Health Action, 3(1).

Rao, N., Lawson, E. T., Raditloaneng, W. N., Solomon, D., & Angula, M. N. (2019). Gendered vulnerabilities to climate change: Insights from the semi-arid regions of Africa and Asia. Climate and Development, 11(1), 14-26.

Ravera, F., Martín-López, B., Pascual, U., & Drucker, A. (2016). The diversity of gendered adaptation strategies to climate change. Ambio, 45(3), 335-351.

Shiva, V. (1988). Staying alive: Women, ecology and development. Zed Books.

Singh, P. (2023). Exploring gender approach to climate change and agroecology: Women farmers' search for agency in India. Asian Journal of Social Science, 51, 18-24.

Sorensen, C., Murray, V., Lemery, J., & Balbus, J. (2018). Climate change and women's health: Impacts and policy directions. PLoS Medicine, 15(7), e1002603.

Tasis, T. (2025). Women and climate change with a special reference to India. SSRN.

United Nations. (2015). Transforming our world: The 2030 Agenda for Sustainable Development. United Nations.

United Nations Development Programme. (2016). Overview of linkages between gender and climate change. UNDP.

UN Women. (2009). Adivasi women and climate change. UN Women Asia-Pacific.

UN Women. (2022). Gender equality in climate action and disaster risk reduction. UN Women.

United Nations Framework Convention on Climate Change. (2023). Gender and climate change: Guidelines and tools. UNFCCC.

Whyte, K. P. (2017). Indigenous climate change studies: Indigenizing futures, decolonizing the Anthropocene. English Language Notes, 55(1-2), 153-162.

World Health Organization. (2023). Climate change and health. WHO.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Assessing Orientalism: Formation, Criticism and Significance

Asha Yadav
PhD Scholar, Dept. of History,
University of Delhi, New Delhi, 110007
E-mail- asha230100@gmail.com
Cont.- 9958562760

INTRODUCTION:

This paper explores key dimensions of the ongoing debate surrounding the concept of Orientalism. In the decades following World War II, voices from newly independent nations began to challenge the dominant narratives constructed by earlier Western scholarship about the "East". Edward Said's seminal work Orientalism (1978) was groundbreaking in revealing how the West systematically produced the idea of the "Orient" as exotic, backward, and inferior-thereby legitimising imperial domination. While Said's critique laid the foundation for postcolonial thought, it has also faced substantial criticism for its heavy reliance on textual analysis at the expense of lived experience, its methodological limitations, and its relative neglect of historical nuance. This paper also engages with perspectives and alternatives proposed by scholars from the Global South, such as Dilip Menon, who argue for reconstructing history and theory from within Southern epistemologies. These approaches call for using multilingual sources and rethinking key concepts through vocabularies rooted in the languages and intellectual traditions of the Global South. Finally, the paper briefly reflects on the continued relevance, if any, of the Orientalism debate today.

A climate of opinion emerged in the 1950s and 1960s in post-colonial societies that made possible an effective challenge to European hegemony, not only in the military and political realm but also in the intellectual sphere.[1] The critique of Orientalism was launched on various fronts as being- instrument of imperialism (Abdel-Malek), a mode of understanding and misrepresenting Islam (Tibawi), a hegemonic system (Said). In the years leading up to Edward Said's landmark Orientalism (1978), several scholars had already begun voicing concerns about how the West studied and represented the Islamic world and the "East". Anouar Abdel-Malek's article 'Orientalism in Crisis' and A. L. Tibawi's 'English-Speaking Orientalists' offer an early and sharp critique of the field of oriental studies. Abdel criticises the Orientalist studies- practiced by the Western scholars- being rooted in colonial attitudes where knowledge about the East was produced not to understand it on its own terms, but to control or "civilise" it.[2] Abdel-Malek's work, one of founding works on orientalist

1 A. L. Macfie, ed., *Orientalism: A Reader* (Edinburgh: Edinburgh University Press, 2022), *p*. 2.

2 Anour Abdel-Malek, "L'orientalisme en crise" *["Orientalism in Crisis"],* Diogène 44 (1963): *pp*. 109-141.

debate, deserves applause for its careful recognition of the principal features of Orientalism and its long-standing relationship with the European colonist state. A.L. Tibawi - a Palestinian Arab historian, educated at the University of London - approaches the concept of orientalism from the point of view of a student of Islam and a believer. He draws attention to the close alliance of Christian Missionaries with academic orientalists (mainly from a theological background and some with literary training, but very few among them are trained historians) and how they portrayed a complete misunderstanding of the nature of the Koran and adopted 'fixed' ideas about Islam.[3] Tibawi averred that Western Orientalists infiltrated the Middle East on behalf of colonialists under the pretext of intellectual curiosity and admiration, when, in fact, their sole purpose was to accumulate intelligence to secure a mandate for colonizers in the region.[4]

Edward Said's work is considered foundational in post-colonial studies, where he critically examines how the construction of the "East" is not a neutral representation of reality but a deliberate discourse shaped by Western power structures and imperial ambitions. For Said, Orientalism can be discussed and analyzed as the corporate institution for dealing with the Orient - dealing with it by making statements about it, authorizing views of it, describing it, by teaching it, settling it, ruling over it: in short, Orientalism as a Western style for dominating, restructuring, and having authority over the Orient.[5] He employed Michel Foucault's notion of a discourse (Discipline and Punish) to identify Orientalism. Said argues that without examining Orientalism as a discourse, one cannot possibly understand the enormously systematic discipline by which European culture was able to manage-and even produce the Orient politically, sociologically, militarily, ideologically, scientifically, and imaginatively during the post-Enlightenment period.[6] Said explores how the West has historically represented the East in a stereotypical way and often portrayed it as exotic, irrational, and backward. The Orient was almost a European invention, and had been, since antiquity, a place of romance, exotic beings, haunting memories and landscapes, and remarkable experiences.[7] It is important to understand how these representations created a binary opposition as East/West, irrational/rational, and inferior/superior. These binaries elevated the West as the norm and the "East" as the "other." Said criticises how these binaries are internalised and repeated in Western culture, literature, and politics. Said argues that it was not just armies and economies that colonized the "East"- it was literature, scholarship, and museums and as a discourse, it rationalised and justified imperial expansion by portraying colonized people as incapable of self-rule. Gustave Flaubert's portrayal of an Egyptian courtesan in his travel writings: the woman has no voice, no history, and exists solely for the European male fantasy, confirms the biased attitude of the Orientalist towards the people of the "East" As a result, argues Said, European culture gained in strength and identity by setting itself off against the Orient as a surrogate and even underground self.[8] Said argues that Orientalism is not just individual texts but a systematic way of producing knowledge where texts build on each other and reinforce

3 A. L. Tibawi, "English-Speaking Orientalists: A Cri que of Their Approach to Islam and Arab Nationalism," *Islamic Quarterly 8* (1964): *pp*. 25–45.

4 Ibid., *p*. 42.

5 Edward W. Said, *Orientalism,* 1st Vintage Books ed. (New York: Vintage Books, 1979), p. 3.

6 Ibid., *p*. 3.

7 Ibid., *p*. 1.

8 Ibid., *p*. 3.

the same tropes. New scholars rarely questioned the assumptions of the earlier writings and used older narratives and built upon those. Using Michel Foucault's theory of Power and Knowledge, Said argues that academic study of the Orient was not just about discovering the truths but about creating a system of knowledge that enabled domination. He links how this knowledge production legitimized colonialism and imperial control. Knowledge of the Orient, because generated out of strength, in a sense creates the Orient, the Oriental, and his world.[9] The Orientalist texts were shaped by colonial interests and Eurocentric assumptions. Said argues that there is no "pure" knowledge of the Orient outside of the power dynamics of colonialism. Drawing from Antonio Gramsci, Said argues that Orientalism functions as a form of cultural hegemony where dominant cultural norms and ideologies are internalised by both coloniser and colonised. These ideas became so widespread and internalised that they structured how even non-Western people came to understand themselves. Said argues that because of Orientalism, the Orient was not (and is not) a free subject of thought or action.[10] Taking examples of writings of Rudyard Kipling, Bernard Lewis, Ernest Renan, and Gustav Flaubert, said shows how literature and popular culture reinforced the East-West dichotomy by portraying the East as timeless, decadent, and the West as progressive and superior, and thus Western Orientalists scholarship was embedded in colonial logic and served imperial interests.

Even though Said's work is groundbreaking, it still attracted criticisms from experts in various disciplines. A prominent critique of Said's work is Wael B. Hallaq, a prominent scholar of Islamic law and intellectual history. Hallaq argues that various critics of Said have mainly been made on the following grounds: (1) Orientalism adopts the deterministic Foucauldian theory of discursive formations that does not account for authorial individuality and individualistic contribution; (2) it does not give due credit to predecessors who had levelled weighty critical attacks on the discipline, notably Anouar Abdel-Malek and A. L. Tibawi; (3) it commits the same fallacies of essentializing and totalizing as that which it critiques; (4) it is profoundly lacking in historical and historiographical method, Said himself being a literary critic who had no historical training; (5) it relies on divergent theoretical apparatuses that stem from contradictory epistemological assumptions; (6) it fails to take into account large bodies of writing by the prolific German Orientalists, by women, and by "Orientals" themselves; (7) it does not account for distinguishing features in the various types of Orientalism, again the German component being particularly noted for its formidable output within an alleged context of lack of empire; and (8) it harbours ideological biases against Zionism and Judaism.[11]

Hallaq recognises Orientalism as a groundbreaking intervention that opened critical space for interrogating how knowledge about the "East" was entangled with imperial and colonial power. From Hallaq's perspective, Orientalism is a necessary starting point, but ultimately not a radical endpoint in the critique of colonial epistemology. While Said unmasks the ideological motive behind Orientalist discourse, he does so using theoretical tools and epistemic assumptions that are themselves products of the same modernity that enabled Orientalism in the first place.[12] So, while Hallaq does

9 Ibid., *p.* 40.

10 Ibid., *p.* 3.

11 Wael B. Hallaq, *Restating Orientalism: A Critique of Modern Knowledge (*New York: Columbia University Press, 2018), *p.* 7.

12 Ibid., *pp.* 27-35.

not dismiss Edward Said's work outright, he critiques the limitations of Said's analysis, particularly in terms of methodology, epistemology, and theoretical consistency. Hallaq underlines Said's lack of understanding outside the confined sphere of literary studies. Because his work was largely focused on texts, the relationship between the text and its actual realisation on the colonial ground was passed over in silence.[13] Said was, argued Hallaq, a consummate literary critic who lacked, it must be said, any historical sense.[14] Because Said was devoted to texts and representations, the status of actual societies is ambiguous, because he deliberately made it his business not to engage with any question as to what the Orient truly is or was.[15] Said's total silence over the law, a single mechanism that made colonialism possible, is not only stunning, to say the least, but also betrays his inability to see what really matters.[16] Hallaq's principal thesis is that "Colonialism", in all of its variants, is inherently genocidal, and that this genocidal quality is ultimately connected in the most structural and structured ways with a thought structure that has defined modern academia and the discursive formations that academia has largely shaped and continues to reproduce.[17] In this picture, Orientalism plays a considerable part, but by no means the most important one. He argues that Said, despite being a vocal critic of colonialism, remains intellectually rooted in the secular- liberal frameworks of modern Western thought. For instance, Said draws heavily on theorists like Foucault and Gramsci, whose framework, while useful, does not offer a truly external position from which to critique modernity.[18] In Hallaq's view, this creates a paradox where Said critiques the empire, but from within its own epistemological architecture. Moreover, Hallaq points out that Said's secular outlook prevents him from considering non-modern epistemologies- particularly Islamic ones- as legitimate alternatives to Western knowledge. Hallaq states that the problem is not only how the West represented the East, but also the very ontological assumption that governs what counts as knowledge, power, ethics, and law in modernity.[19] Hallaq argues that Said does not question these assumptions deeply enough, making his critique "discursive" rather than ontological or ethical.

Another issue that Hallaq raises is Said's silence on what a non-Orientalist form of knowledge production might actually look like. While Orientalism exposes the ideological character of Western representations, Hallaq argues, it does not offer a concrete vision of how knowledge about the Islamic world (or any non-Western world) might be produced differently. He argues that Said is more focused on critique than on reconstruction. He emphasises the importance of Said's work to the field while simultaneously calling for more scholarly inquiry into the larger modern knowledge structure that gave rise to Orientalism and that continues to flourish without any criticism from Said or those in favour of his work. Hallaq in Restating Orientalism successfully demonstrates not only how Said's writing remains groundbreaking to knowledge production in the field, but also how these same writings contain issues that are often both overlooked and replicated by other authors. Hallaq

13 Wael B. Hallaq, *Restating Orientalism: A Critique of Modern Knowledge (*New York: Columbia University Press, 2018), *p*. 18.

14 Ibid., *p*. 45.

15 Ibid., *p*. 56.

16 Ibid., *p*. 106.

17 Ibid., *p.* 223.

18 Ibid., *pp*. 45-50.

19 Ibid., *p.* 88.

argues that Said's writing, though important, is still far from a complete history or general account of Orientalism.[20] Ali Behdad concluded that in 'formalising orientalism's discursive regularities, Said failed to take full account of its micro practices, irregularities, historical discontinuities, and discursive heterogeneity. European power over the Orient should be seen as a productive and dynamic exchange between the two, an exchange that made colonial authority tolerable to those on whom it was being imposed'.[21] John MacKenzie, criticising Said about the representation of the East in arts, argues that 'Said's thesis was unsustainable as the artistic record of imperial culture had in fact been one of 'constant change, instability, heterogeneity and sheer porousness. It was impossible to recognise either the 'essentialised, basically unchanging self' or the freezing of 'the Other in a kind of basic objecthood'.[22] B.J. Moore-Gilbert in Kipling and Orientalism showed that Said's conclusion could not reasonably be applied to the Anglo-Indians, whose knowledge of India was both personal and direct. Anglo-Indians, as their writings show, were as shocked at the ignorance, indifference, and prejudice of their fellow countrymen regarding life in India as were many later oriental critics of Anglo-Saxon attitudes.[23] Another prominent critique of Said comes from key scholars like Aijaz Ahmad and Irfan Habib, who argue that Said focused too much on textual analysis, representation, and discourse and neglected political economy, historical specificity, and material factors involved. According to Aijaz Ahmad, 'Foucault would not have accepted Said's view that a discourse- that is to say, an epistemic construction- could span both the pre-capitalist and the capitalist periods of history. Moreover, Said's view that an ideology of modern imperialist Eurocentrism might be found, already inscribed, in the ritual theatre of ancient Greece, was radically anti-Foucauldian. For Foucault, a discourse was a complexly dispersed historical phenomenon, a recalcitrant means of expression, burdened with historical sedimentation; while an epistemic field was a field of knowledge, created by a culture, which exercised control over what might, and might not, be said and written'.[24] Aijaz Ahmad criticises Said, who argues that Karl Marx's writings on India are Eurocentric and Orientalist, by vehemently arguing that Said misrepresents both Marx's intentions and the broader context of his work. Ahmad argues that Marx may have underestimated the complexity of Indian society in his early writings, but his views evolved, as evident from his later writings, where he showed a far more understanding of non-Western societies and rejected the idea that all societies must follow the same Western path to development.[25] On a preliminary page of his Orientalism, Habib argues, Said puts two short quotations, the first of which is from Marx: "They cannot represent themselves; they must be represented".[26] Habib argues that after reading this, it is assumed that Marx is here implying that

20 Wael B. Hallaq, *Restating Orientalism: A Critique of Modern Knowledge (*New York: Columbia University Press, 2018), *p.* 24.

21 Macfie., *p.* 7.

22 Ibid., *p.* 8.

23 Ibid., *p.* 8.

24 Ibid., *p.* 6.

25 Aijaz Ahmad, In Theory: Classes, Nations, Literature (London: Verso, 2000), 221-42. For a detailed illustration of Marx's late writing dealing with non-western societies, see Kavin B. Anderson, Marx at the Margins: On Nationalism, Ethnicity, and Non-Western Socie es (Chicago: Chicago University Press, 2010), *pp.* 196-236.

26 Irfan Habib, "In Defence of Orientalism: Critical Notes on Edward Said," *Social Scientist* 33, no. 1/2 (2005): *p.* 41.

Oriental peoples are incapable of representing themselves, and so Europeans (better still, European Orientalists) must speak for them.[27] Habib argues that Said's use of this quotation is unethical and irresponsible, and the quoted words are taken from a passage in Marx's 'Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte', where he speaks not of the position of Eastern peoples, but of the poverty-stricken small-holding peasants of France at a particular juncture in the mid-nineteenth century.[28] Irfan Habib argues that while Said rightly exposed the ideological biases of many European scholars, his dismissal of all the Orientalist knowledge risks undermining the very historical tools that are essential for understanding and resisting colonial and communal narratives. According to Habib, early Orientalists such as William Jones, Max Müller, and others helped translate the ancient texts, preserve and document sources that are essential for modern historical research.[29] For Habib, the answer is not to romanticise Orientalist scholars but to critically engage with their work. Habib's defence is not a nostalgic return to Eurocentric scholarship, but a call for a more nuanced, evidence-based approach to history.

Francesco Gabrieli, a professor of Arabic languages and literature at the University of Rome, refuted the allegations that Western Orientalists were co-conspirators in the colonial and imperial adventures of certain Western governments and denied the charge that Western Orientalists were agents provocateurs.[30] Gabrieli admitted, though, that some Orientalists might fall into the disreputable category of people who put their scholarship in the service of colonial conquest and exploitation, but insisted vast majority of Western Orientalists are well-meaning and only interested in the ''impassioned search for the truth".[31]

Not all scholars criticised Said, but some defended his work as well. Seamus Deane, in his essay 'After Said', talks about how Said's work changed the way we think about literature, empire, and the role of intellectuals. Deane sees Said as a thinker who encouraged critical reading of culture. He highlights Said's idea of "contrapuntal reading"-a way of reading text that consider both the voices of the colonizers and the colonised – and argues that this method challenges us to look at how imperial power shape even the most celebrity works of literature and warns that after Said, some scholars have turned postcolonial studies into a more academic and less political project, losing touch with the urgency and activism that defined Said's work.

A.L. Macfie, while defending Said, argues that he was not attempting to write a history of Orientalism, but his concern was merely to identify the nature of the Orientalist's discourse, as a created body of theory and practice, designed, consciously or unconsciously, to serve the interests of the European imperial power.[32] Anyone, argued Said, who teaches, writes about, or researches the Orient- and this applies whether the person is an anthropologist, sociologist, historian, or philologist- either in its specific or its general aspects, is an Orientalist, and what he does or she does is Orientalism.[33]

---

27 Irfan Habib, "In Defence of Orientalism: Critical Notes on Edward Said," *Social Scientist* 33, no. 1/2 (2005): *p.* 41.

28 Ibid.

29 Ibid., *p.* 45.

30 Francesco Gabrieli, "Apology for Orientalism," *Diogenes 5*0 (Summer 1965): *p.* 131.

31 Ibid., *p.* 132.

32 Macfie, *p.* 6.

33 Said., *p.* 2.

Dilip M. Menon's work goes a step further, where he not only criticizes Orientalism, like others, but also proposes a method of reconstruction as well. He criticizes the dominance of Euro American theoretical frameworks in social sciences and calls for theorizing anew, from the Global South. But why does this need arise in the first place? Menon argues that 'decolonization provided an impetus within the Global South to imagine new relations to the past, present, and future; free of the political and intellectual teleology imposed by the civilisational hierarchies of a colonial epistemology. He further indicates that this necessity to look back arose neither with nostalgia nor anger but from the need to recover from the amnesia imposed by colonial rule. He argues that concepts like modernity, liberalism, capitalism, and even the idea of the ''individual'' emerged from European historical experiences and are often imposed universally, without considering how the knowledge is produced and lived in the Global South.[34] Menon argues that the conceptual tools used in academic disciplines are mostly derived from the historical experiences of Europe and North America and thus create a false universalism where the Global South is seen as a latecomer.[35] Menon calls for putting the Global South at the centre of this reconstruction. For this, he argues, we need to broaden our archive of concepts not only through engaging in transdisciplinary conversations, but also by moving away from the Euro-American formulations to a conversation across regions, which is necessarily multilingual.[36] He further argues that a true conversation has to engage with the nuances of and hardiness of multilingualism as much as the quiddity of concepts.[37] While he calls for attention towards the Global South, he explains that this does not mean a nativist rejection of European theory or an instance that we work only on our spaces. He accepts the fact that 'the ''space'' that comprises Africa, Asia, Latin America, and the Caribbean cannot be thought without taking into account international relations of power and capital. This is not about a retreat into nativism but of choosing our conversations after arriving at a true recognition of what we have to say.[38] Menon proposes systematic recovery of keywords from Global South languages (example Zulu, Arabic, Chinese, Tamil, etc) and excavating their semantic layers, historical uses, and conceptual entailments. Each then becomes a lens to rethink universal social theories-word by word, conceptual vocabulary by conceptual vocabulary.[39] Menon argues that words have to arise from particular worlds.[40] It is important to understand that there existed networks of trade and ideas way before colonialism, and it is important to recover histories of those existing networks to study the uninterrupted flow of people, ideas, and commerce from the Global South. There is work to be done in recovering political philosophy and thinking about freedom from Asian and African traditions of thought.[41] Menon urges scholars to recognise the value of concepts that cannot neatly translate into Western notions.

---

34 Dilip M. Menon, "Changing Theory: Thinking Concepts from the Global South," *Comparative Literature Studies* 59, no. 1 (2022): *pp.* 142-159.

35 Ibid., *pp.* 142-144.

36 Ibid., *p.* 143.

37 Ibid., *p.* 144.

38 Ibid., *pp.* 144-148.

39 Ibid., *p.* 147.

40 Ibid., *p.* 147.

41 Ibid., *p.* 150.

Dilip Menon's work challenges the asymmetries of Knowledge production in academia and offers a pluralist, multilingual approach to theory that is both historically grounded and globally resonant.

Relevance:-

Despite decades of academic and non-academic debate surrounding the concept of Orientalism, it continues to influence how the "East" is represented in contemporary media, political discourse, and academic scholarship. A telling example is Disney's 2019 remake of Aladdin, which subtly reinforces the East/West binary. Aladdin-the "good" Arab protagonist portrayed with distinctly Western traits. In contrast, Jafar, the villain, is dark-skinned, speaks in a slow and menacing tone, and is associated with black magic, evoking long-standing Orientalist stereotypes. Princess Jasmine, though somewhat modernised, still ultimately plays a dependent role within a narrative structure that centres male heroism and Western ideals. The fictional world created in the film normalises violence and chaos, with moral order restored through Western-style logic and behaviour. Such portrayals continue to shape how global audiences particularly in the West- subconsciously view Arab and Muslim societies, and the "East" more broadly. This is precisely what Edward Said warned against when he argued that Orientalism is not confined to academic texts; it persists through popular culture, subtly influencing public perception. The point is, argues Said, that even if it does not survive as it once did, Orientalism lives on academically through its doctrines and theses about the Orient and the Oriental.[42] In this context, the work of Dilip Menon becomes specifically significant, where he not only critiques the dominance of Western discourse but also advocates for a fundamental shift in the site of knowledge production-calling for theories and narratives rooted in the epistemologies and lived realities of the Global South.

References:-

1. Ahmad, Aijaz. In Theory: Classes, Nations, Literatures. London: Verso, 2000.
2. Habib, Irfan. "In Defence of Orientalism: Critical Notes on Edward Said." Social Scientist 33, no. 1/2 (January–February 2005): 40–46.
3. Hallaq, Wael B. Restating Orientalism: A Critique of Modern Knowledge. New York: Columbia University Press, 2018.
4. Macfie, A.L. ed. Orientalism: A Reader. Edinburgh University Press. 2022
5. Manneh, Bashir Abu. After Said: Postcolonial Literary Studies in the Twenty-First Century. Cambridge: Cambridge University Press, 1972.
6. Menon, Dilip M. "Changing Theory: Thinking Concepts from the Global South." Comparative Literature Studies 59, no. 1 (2022).
7. Said, Edward W. Orientalism. New York: Pantheon Books, 1978.

42 Said., *p.* 2.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचारों के प्रमुख उद्देश्य, विश्लेषण एवं संगठन

संतोष कुमार सिंह
शोधार्थी, शिक्षा संकाय, राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय
सिंगरामऊ, जौनपुर, उ0प्र0
सम्बद्ध वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उ0प्र0, भारत
डॉ. योगेश कुमार
सीनियर असिस्टेंट प्रोफेसर, शोध निर्देशक, शिक्षा संकाय विभाग,
राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर, उ0प्र0
सम्बद्ध वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उ0प्र0, भारत

शोध सार (Abstract)

यह शोध पत्र गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर के शैक्षिक विचारों का विश्लेशण तथा संगठन उनके प्रतिभा का अवलोकन करता है। दर्शन की झलक उनके प्रत्येक पहलुओं में देखने को मिलता है। वे आध्यात्म, धर्म, उपनिषद् तथा पृथ्वी पर विद्यमान प्रकृति सौंदर्यता का विशेष उल्लेख किया है। प्रकृतिवादी विचारों से वे आध्यात्मिक लगाव रखते थे। उनका मानना था कि प्रकृति के गोद में रहकर हमें सीखना चाहिए तथा आध्यात्मिकता, भावात्मकता, जिज्ञासा, नारी शिक्षा, मानवता, सद्भावना, राष्ट्र प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता, बसुधैव कुटुम्बकम् की भावना रखते थे। तथा सबके अन्दर इस प्रकार की भावना होनी चाहिए। वे अपने शिक्षा दर्शन, साहित्य, नाटक, कहानी, कविता, नाटक आदि में वे अपनी उदारता, सद्भावना, सत्य, अहिंसा, मातृभाषा, राष्ट्रप्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता, व्यवहारिकता, मानवता, मानव सेवा पर विशेष बल दिया तथा नैतिकता एवं अपने मूल्यपरक शिक्षा पर विशिष्ट बल दिया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में इस तथ्यों पर जोर दिया है। समग्र विकास पर अत्यधिक ध्यान केन्द्रित किया है। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर के शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार बताया - ब्रह्माण्ड ईश्वर निर्मित है। ईश्वर और वास्तु जगत दोनों ही वास्तिविक है, सत्य है, आत्मा-परमात्मा का अंश है। मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। मनुष्य का विकास उसके स्वयं के कर्मों पर निर्भर है। मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति है, ईश्वर प्राप्ति के लिए एकात्मभाव होना आवश्यक है।

मुख्य शब्द (Keyword) : आध्यात्म, ज्ञान मीमांसा, मूल मीमांसा, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, मातृभूमि, कला एवं संस्कृति, सद्भावना, उदारता, आत्मबोध, शिक्षा दर्शन, विश्वबोध, प्रकृति सौन्दर्यता वसुधैव कुटुम्बकम् मानवता।

प्रस्तावना (Introduction)

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर के शैक्षिक चिन्तन का प्रथम मूल मन्त्र दर्शन बताया। दर्शन ग्राहा है। दर्शन के द्वारा तत्व

मीमांसीय, ज्ञान मीमांसीय तथा मूल मीमांसीय आदि को विशेष स्थान दिया तथा आत्मबोध हिन्दी साहित्य, धर्म ग्रन्थ, प्रकृति के द्वारा राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता पर बल दिया तथा मूल्यपरक शिक्षा, उपादेयता, व्यवहारिकता एवं समाज सुधारक के रूप में विशेष योगदान दिया। आधुनिक शिक्षा को एक नई दिशा प्रदान करने में इनके शिक्षा दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, सुसंस्कृति एवं सद्भावना पूर्ण शिक्षा एवं शिक्षा संस्थाओ को प्रमुख लक्ष्य तक पहँचाने में सार्थक सिद्ध हुआ। गुणात्मक शैक्षिक विचारधारा एवं प्रकृतिवादी शिक्षा पर विशेष जोर दिया तथा मानव जीवन में इसका क्या प्रासंगिकता है उस पर उन्होंने अपने साहित्य एवं शिक्षा दर्शन में स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचारों का पहला आधार दार्शनिक हैं। कौन सा दर्शन ग्राह्म है और कौन सा नहीं तथा शिक्षादर्शन में किसी दार्शनिक के विचारों को उसके तत्व मीमांसीय, ज्ञान मीमांसीय तथा मूलमीमांसीय पद्धति से परखा जाता है गुरुदेव के दार्शनिक विचारों के आधार स्रोत पर पहले विचार किया जा चुका है।

विचारों को प्रभावित करने का दूसरा आधार मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि माना गया है। क्योंकि लक्ष्यों को व्यवहार में परिवर्तित करने का कार्य मनोविज्ञान करता है। ज्ञान की कौन सी शाखा किस प्रकार ठीक है, बच्चे को कितना पढ़ाया जाये, किसी विधि से पढ़ाया जाये, कौन सी परिस्थितियाँ पैदा की जायें, यह सब काम मनोविज्ञान की परिधि में आता है। शिक्षा विचारों को प्रभावित करने का तीसरा आधार सामाजिक परिस्थितियाँ है, जिसके आधार पर शैक्षिक उद्देश्य पाठ्यक्रम एवं शिक्षा-व्यवस्था बनती है। शिक्षा के लक्ष्य को राजनीति भी प्रभावित करती है। जैसी राजनीतिक व्यवस्था होती है उसी प्रकार के शिक्षा के उद्देश्य बनते हैं और विचार आरोपित किये जाते है। विचारों को प्रभावित करने का पाँचवा आधार वैज्ञानिक दृष्टिकोण होता है। समाज में जो नये-नये वैज्ञानिक आविश्कार होता है वह व्यक्ति के विचारों को प्रभावित करते है और पाठ्यक्रम भी वैसे ही बनता है। टैगोर के दार्शनिक पक्ष व्यक्ति, जीव ईश्वर, जगत आदि के सम्बन्ध में सोचने का दृष्टिकोण स्पष्ट है। वे आधुनिक आदर्शवादी है, मानवतावाद के पक्षधर है। वे बच्चों की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक मानताओं में स्पष्टता है। वे व्यक्ति को समाज का एक अच्छा नागरिक बनाना चाहते है और समाजोपयोगी शिक्षा देना चाहते है। वे अन्ध विश्वासों में विश्वास नहीं करते और वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति के पुनरूत्थान में आस्था रखते थे। वे शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के महत्त्व को स्वीकार करते है और राज्य का नियन्त्रण शिक्षा पर उस सीमा तक चाहते है, जहाँ तक व्यति का व्यक्तित्व नष्ट न हो। टैगोर वैज्ञानिक औद्योगिक तथा पाश्चात्य शिक्षा देने के समर्थक है। लेकिन वे उस सीमा तक ही पाश्चात्य शिक्षा को ग्रहण करना पसन्द करते है जहॉ तक भारत का व्यक्तित्व नष्ट न हो। विश्व कवि टैगोर की प्रतिभा बहुमुखी थी वे कवि एवं कलाकार होने के साथ-साथ शिक्षक एवं दार्शनिक थे। उनका व्यापक जीवन दर्शन उपनिषदों के चिन्तन एवं मनन के परिणाम स्वरूप विकसित हुआ था, उपनिषदों में विवेचित विश्वकोश की भावना को टैगोर ने आत्मसात किया था। उन्हें प्रकृति में अनन्त की सत्ता का आभास होता है। उन्हें सम्पूर्ण जीव जगत् में वही एक सत्ता दिखाई देती है। इसलिए मानव मात्र की एकता में उनका अनन्त विश्वास है। उन्होंने कहा ''मानवता को पहले अधिक विस्तृत भावुकतापर्ण और शक्तिशाली एकता की अनुभूति करता है।

टैगोर के अनुसार, ''इसके साथ ही मानव करूणा के प्रति भी मुझे लालसा रही तथा स्वाभाविक रूप में अपने ढंग से अभिव्यक्त देता रहूँगा'' गुरुदेव की मानवतावादी दर्शन समस्त शैक्षिक दर्शन में प्रतीत होती है। टैगोर प्रकृतिवादी के प्रणेता कहे जाते है परन्तु भौतिकवादी प्रकृतिवादी लीक को छोड़कर उन्होंने आध्यात्मिक प्रकृतिवाद का आश्रय लिया टैगोर की सबसे बड़ी देन उनका समन्वय है। भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के बीच समन्वय, पूर्व पश्चिम के बीच समन्वय आदि विचार 'आज विश्व भर में जोर पकड़ते जा रहे है। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिए शिक्षा का विचार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आया जबकि टैगोर ने इसका आरम्भ विश्वभारतीय में बीसवीं सदी के आरम्भ में ही कर दिया था। भारतीय शिक्षादर्शन पर टैगोर की अमिट छाप दिखाई देती है। टैगोर जी ने शिक्षा के सिद्धान्त की खोज अपने अनुभव से की है। 'विश्वभारती' के संस्थापक के रूप में वे एक व्यावहारिक शिक्षाशास्त्री होने का परिचय देते है टैगोर के अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के बहुत बड़े समर्थक थे और वे बालकों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करना चाहते थे। वे अपने राष्ट्र से बहुत प्रेम करते थे और भारतीय राष्ट्र

की परिस्थितियों को सुधारना चाहते थे, किन्तु उनका राष्ट्र प्रेम संकीर्ण नहीं था उनकी देश भक्ति उनका राष्ट्रप्रेम अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक नहीं था वे समस्त विश्व को एक समझते थे और हमें इस योग्य बनाना चाहते थे कि हम विश्व नागरिकता के प्रति सम्मान का भाव रख सके।

गुरु रवीन्द्रनाथ के शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य

(अ) ब्रह्मण्ड ईश्वर निर्मित है

गुरुदेव के अनुसार यह सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड ईश्वर निर्मित है वही संसार की समस्त वस्तुओ और प्राणियों का निर्माण करता है। उसका रूप परिवर्तन करता है, इस विशय पर गुरुदेव ने सोचना उचित नहीं समझा ईश्वर की कार्य प्रणाली की व्याख्या सचमुच एक दुरूह कार्य है।

(ब) ईश्वर और वास्तु जगत दोनों ही वास्तविक है, सत्य है

गुरुदेव ईश्वर और जगत दोनों को वास्तविक मानते थे। ईश्वर को उन्होंने निराकार और साकार दोनों रूपों में स्वीकार किया है उनकी दृष्टि से जगत के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को साकार ही मानना उचित है।

(स) आत्मा-परमात्मा का अंश

अधिकतर भारतीय दार्शनिक आत्मा को परमात्मा का अंश मानते है। गुरुदेव भी इसी मत के थे। उनका अभिमत था कि प्राणी में ईश्वर का अंश आत्मा है, वह प्राणियों की सबसे बड़ी समानता है, ये ऊपर से असमान होते हुए भी अन्दर से समान होते है।

(द) मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृत्ति है

गुरुदेव संसार के कण-कण में ईश्वर की समस्त रचना में वे

मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनका कहना है कि मानव अपूर्व है क्योंकि इसमें ईश्वर विशेष रूप से व्याप्त है।

(य) मनुष्य का विकास उसके स्वयं के कर्मो पर निर्भर है

गुरुदेव संसार के कण-कण में ईश्वर दर्शन करते थे, मनुष्य के भौतिक शरीर और उसकी आत्मा दोनों के महत्त्व को स्वीकार करते थे। उनका विश्वास है कि कोई भी मनुष्य कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होता है और वह जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल प्राप्त होता है, ईश्वर को वे नियामत सत्ता के रूप में स्वीकार करते थे।

(र) मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति है

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जी ईश्वरवादी व्यक्ति थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति है परन्तु वे मनुष्य के भौतिक जीवन को भी बराबर महत्त्व देते थे और प्रत्येक को सरल एवं प्राकृतिक जीवन जीने की सलाह देते थे।

(ल) ईश्वर प्राप्ति के लिए एकात्मभाव होना आवश्यक है

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने स्पष्ट किया कि कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य की सेवा तीन प्रकार से कर सकता है। तन, मन, धन से और सच्ची सेवा तन, मन, धन तीनों से होती है। अतः मनुष्य को शरीर से स्वस्थ मन से निर्मल धन से सम्पन्न होना चाहिए यही कारण है कि गुरुदेव मनुष्य को सर्वप्रथम भौतिक से सम्पन्न होने की सलाह देते थे और फिर इसके द्वारा मनुष्य मात्र की सेवा करते हुए एकात्माभाव की अनुभूति की सलाह देते थे उनकी दृष्टि से इस मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को सहज में ही ईश्वर प्राप्ति हो जाती है।

टैगोर के शैक्षिक विचारों का विश्लेषण

गुरुदेव शिक्षा प्रणाली से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। उन्होंने शिक्षा के कुछ सिद्धान्तों को प्रतिपदित किया और बाद में उन्हें अपने शान्ति निकेतन प्रयोग में व्यवहत किया विश्व भारती उनकी शैक्षिक विचार धारा का व्यावहारिक रूप है। यह टैगोर

के गुरुदेवत्व का प्रतीक है। गुरुदेव शिक्षा के क्षेत्र में भी कोरे सिद्धान्तवादी न होकर व्यावहारिक शिक्षाशास्त्री थे। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा की बात करके अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध की शिक्षा पर बल देकर, वैदिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए शिक्षा की बात करके तथा अनुभव केन्द्रित पाठ्यक्रम पर बल देकर वे अपने समय की शिक्षा प्रणाली में अमूल परिवर्तन करना चाहते थे। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) का शैक्षिक दर्शन प्रकृतिवाद, मानवतावाद, आदर्शवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद का एक अनूठा मिश्रण है। उनका शिक्षा दर्शन 'पूर्ण मनुष्य के विकास पर केन्द्रित था, जो व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक पहुलुओं को सन्तुलित करता है। उन्होंने कठोर औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के विपरीत आनन्दायक, मुक्त और प्रकृति के सनिध्य में सीखने पर जोर दिया।

गुरुदेव बालक को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते है अपनी कवितापूर्ण वासी में उन्होंने कहा कि ''बालक अत्यन्त दुःखों की भूमि में बिहार करता था परन्तु उसने इस पृथ्वी पर आने का निश्चय किया क्योंकि माता के बाहुओं का अलिंग्न तथा उसके ओठों का चुम्बन स्वर्गीय सुख की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर है। गुरुदेव के हृदय में बालक के प्रति अनन्त प्रेम प्रगाढ़ सहानुभूति तथा करूणा सतत् प्रवाहित होती है।

गुरुदेव के अनुसार - हम बालक को भूगोल पढ़ाने के फेर में पड़कर उसकी पृथ्वी छीन लेते है तथा व्याकरण पढ़ाने के लिए उसकी सहज भाषा उससे छीन लेते उसकी भूख काव्य के लिए है किन्तु उसके सम्मुख मात्र तथ्यों और तिथियों से भरे पूरे अभिलेख प्रस्तुत कर दिये जाते है। बालक जो जन्म लेते है जगत में पर हम उन्हें बैजान ग्रामों फोन के जगत में ढकेल देते है।

श्री टैगोर के अनुसार बालक सहर्श कार्य एवं क्रियाकलाप उसकी स्वतन्त्रता तथा सहज जीवन के प्रतीक है। उन्हें उसी रूप में रखकर हम उसके सहज गुणों की रक्षा कर सकते है। शिष्टाचार्य एवं व्यवहार अपने समय पर स्वयं आ जायेगा, परन्तु उन्हें समय के पूर्व बालक में आरोपित करने पर उसका विकास रूप जायेगा, जिससे उसके सहज गुणों का विकास नहीं हो पायेगा, एक कविता में श्री टैगोर जी ने बालक के बारे में लिखा है'-

मेरे बालक तुम्हारी आँखों में आस है।
तुमने अंगुलियों स्याही में डूबा ली तथा
मुँहपुर भी स्याही लगा ली
क्या इसलिए वे तुम्हे गन्दा कहते है?
धिक्कार है उन्हें वे उस चांद की क्या कहेंगे,
जिसने अपना साय मुखः स्याही में डुबोलियाँ है।
माँ मैंने एक कागज पर स्याही से लिख डाला
तुम कहती हो मैंने कागज खराब कर डाली,
माँ पिता जी को क्यों कुछ नहीं कहती
जो नित्य अनेक कागज खराब करते रहते हैं।।

उक्त रूपान्तरित उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि कवि की आग्रह बालक के प्राकृतिक एवं सहज जीवन पर है। उनके मन में बालकों के प्रति सहज करूणा का भाव है तथा माता पिता एवं शिक्षक से वे अपेक्षा करते हैं कि वे बालक के प्रति सहानुभूति का भाव रखे।

शिक्षक में अपने शिश्यों के प्रति प्रेम होना चाहिए। जिस शिक्षक के हृदय में छात्र के लिए प्रेम नहीं उमड़ता वह छात्र को कुछ भी शिक्षा नहीं दे सकता। प्रेम के सागर में लाभ नहीं आना चाहिए और न ही स्वार्थ। प्रेम केवल शिश्य को निर्देशित करने के लिए हो। ऐसे शुद्ध प्रेम से आध्यात्मिकता जागृत होती है।

गुरुदेव गुरु-शिष्य सम्बन्ध के विशय में टैगोर के विचार अनुकरणीय है इनका विश्वास व्यक्ति के गौरव पर था इसलिए वे स्वभावतः शिक्षक के व्यक्तित्व पर सबसे अधिक ध्यान दिया करते थे। शिक्षा समस्या निबन्ध में टैगोर कहते है कि किस

वर्ष पहला काम है। एक यथार्थ शिक्षक को ढूढ़ निकालना जब यह काम हो जाय तो पाठयक्रम सूची शिक्षण पद्धति और अनुशासन सम्बन्धी बाते आसानी से तय की जा सकती है। किसी शिक्षक का प्रत्यक्ष उदाहरण उसके विचारों, विश्वासों और यहॉ तक की उसके ज्ञान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। टैगोर के मतानुसार केवल पुस्तकीय ज्ञान भार स्वरूप होता है पर जब और ताप/त्याग देता है। उनका कथन था कि ज्ञान प्राप्त करना या सीखना एक निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया है और वह तभी यथार्थ बन पाता है, जब शिक्षक और शिक्षा प्राप्त करने वाले के मन एक दूसरे से मिल जाय उन्होंने शिक्षा की तुलना एक दीये से दूसरे दीये को जलाते चले जाने से ही और यह कहा कि यथार्थ, शिक्षक, दीपक की तरह होता हे। जब बालक ज़िक न सीखना और अध्ययन करना छोड़ दे वहीं वह बुझ जायेगा। छात्र और शिक्षक का सम्बन्ध औपचारिक नहीं होना चाहिए गुरुदेव ने शिक्षक के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वह उनके प्रकृतिवादी विचारधारा होने पर भी वह गुरु को गुरुब्रह्म, गुरुविश्णु, गुरुदेवो महेश्वरा का उच्च स्थान न देकर उस छात्र के पथ प्रदर्शक के रूप में स्वीकार करते है। छात्र-शिक्षक का सम्बन्ध ठोस धरातल पर होना चाहिए यह सम्बन्ध पिता- पुत्र के समान घनिष्ठ होना चाहिए दोनों ही शिक्षा की साधना में तत्पर है। दोनों ही ज्ञान के पथिक है इस पथ में कुछ आगे है तो दूसरा थोड़ा पीछे हे।

गुरुदेव आवासीय विद्यालयों का समर्थन करते है। उन्होंने बताया है कि शिक्षा के उद्देश्यों की प्रति केवल निवास योग्य विद्यालयों में हो सकती है। वहॉ बच्चों को प्रतिदिन प्रकृति के घनिष्ठ सम्पर्क में रखा जा सकता है। वहा बच्चों के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं में सामांजस्य स्थापित करने के उद्देश्य से ही उन्होंने आवासीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की। इन्होंने शिक्षण प्रक्रिया में उन सभी गुणों ये युक्त होने का दावा किया है जो आदर्शवादी, प्रकृतिवादी, यथार्थवादी, विचाराधाराओं द्वारा बताये गये गुणों के सम्बन्ध में सम्भव हो सकते है। इनके द्वारा बताये शिक्षार्थी के गुण इस प्रकार है :-

1. व्यवहार में विनम्रता
2. नियमों एवं आदर्शों का पालन
3. व्यवस्था एवं स्वच्छता में रूचि
4. शरीर एवं व्यक्तित्व वातावरण की सफाई
5. निन्दनीय असभ्य एवं दोषपूर्ण बातों से दूर रहना
6. व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में अनुशासन
7. आन्तरिक बल एवं प्रकाश की अनुभूति
8. सामाजिकता एवं मानवीय भ्रातृत्व भावना
9. उच्चाभिलाषा
10. सौन्दर्य के प्रति लगाव
11. ब्रह्मचर्य एवं आन्तरिक नियन्त्रण
12. स्वतन्त्र विचार
13. भक्ति
14. तपस्या
15. शान्ति निवास
16. साधना
17. शाश्वत तथा अभौतिक के प्रति इच्छा
18. आत्मानुभूति
19. सांसरिक ज्ञान की प्राप्ति
20. सादा एवं प्राकतिक जीवन
21. वैज्ञानिक दृष्टिकोण

गुरुदेव ने अपने एक लेख में कहा है कि वे अपनी शिक्षा का वास्तविक जीवन से सह-सम्बन्ध करे और राणा के जीवन में समस्त पहलुओं से जागृति करें टैगोर छात्रों से यह आशा करते है कि छात्रा को सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। न कि केवल पुस्तकों मात्र से टैगोर जी शिक्षार्थियों को इस दायित्व से युक्त करना चाहिए न कि वह एक ओर अपने करना चाहते है कि वह एक और अपने आपको प्रकृति एवं समाज से एकाधिकार करें इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षक की भांति शिक्षार्थी को भी टैगोर अनेक गुणों तथा दायित्वों से मुक्त करना चाहते है।

साधारण की शिक्षा में योगदान

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर ने शिक्षा जनमानस के लिए प्रकृतिवादी, प्रयोजनवादी शिक्षा का मुहिम पर जोर दिया तथा कहाँ की शिक्षा मानव कल्याण के लिये होना चाहिए। शिक्षा मनुष्य को मनुष्यत्व का मार्गप्रस्त करती तथा मानव जीवन एवं नव जागरण भारत ही नहीं अपितु विश्व के इसका अहम भूमिका या योगदान होता है। शिक्षा विनम्रता, मधुरता, कोमलता, सहन शीलता आदि गुणों से परिपूर्ण करती है। वह मानव कल्याण ही नहीं अपितु विश्वबन्धुत्व की भावना से परिपूर्ण करती है। इसलिए शिक्षा का योगदान प्राचीन काल से निवर्तमानकाल में सदैव अपनी अहम भूमिका बनाई है।

एकाग्रता शिक्षा का एकमेव मार्ग

संसार प्राणियों में मनुष्य की सर्वोच्चता के प्रति उन्होंने बार-बार अपना विश्वास व्यक्त किया और कहाँ कि वास्तविकता मानव है और सत्य मानव है। उन्होंने कहा कि मेरे अनुभवों के समस्त स्रोतों का अन्त मानव में हो गया है। मैंने बार-बार ईश्वर का आह्वान किया है और उत्तर मनुष्य ने अपने मूर्ति अमूर्त कार्यों त्याग तथा उपयोग से दिया है। किन्तु गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर शिक्षा को ग्रहण करने के लिए एकाग्रता तथा एकमेव का होना आवश्यक है। इसलिए किसी भी मनुष्य को समाज अथवा राष्ट्र के लिए अनुपयोगी नहीं मानते हैं वरन् कहते है कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है और समाज के लिए उसकी सार्थकता है इसलिए मनुष्य में भेद उचित नहीं है। अपनी एक कविता में उन्होनें इस भाव का व्यक्त करते हुए कहा कि–

''यह पुष्प जो खिला न हो, वह नहीं जो मरूभूमि में रास्ता बदल चुकी हो उनका भी कुछ अर्थ होता है।''

उन्होंने अपनी कविता, कवि और कलम से लिखा है कि मानवतावाद के हृदय में वास करने का अत्यन्त इच्छुक हैं।

इस प्रकार गुरुदेव जी ने शिक्षा ग्रहण करने के लिए एकाग्रता शिक्षा तथा एकमेव मार्ग प्रषस्त किया है तथा जनकल्याण हेतु शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया गया है। उसका महत्त्व भी बताया गया है। एकाग्रता पर स्वामी जी तथा गुरुदेव दोनों ने विषेश बल दिया है। शिक्षा मूलमंत्र ग्रहण हेतु एकाग्रता पर चिन्तन, मनन और आध्यात्म की ओर विशेष जोर दिया है।

टैगोर के मुख्य शैक्षिक विचार

प्रकृति के सानिन्ध्य में शिक्षा- टैगोर का मानना था कि शिक्षा चार दीवारी के अन्दर नहीं, बल्कि प्रकृति के खुले वातावरण में होनी चाहिए इनका शान्ति निकेतन इसका जीवान्त उदाहरण है।

सर्वांगीण विकास - शिक्षा का उदेदश्य केवल ज्ञान प्रदान करना नहीं है बल्कि चरित्र निर्माण और बच्चे की शारीरिक, भावानात्मक व बौद्धिक क्षमताओं का सम्पूर्ण विकास करना है।

स्वतन्त्रता और रचनात्मकता- शिक्षा को बच्चे की स्वतन्त्रता का हनन नहीं करना चाहिए, रचनात्मकता (संगीत, कला, नृत्य) शिक्षा का अभिन्न हिस्सा होनी चाहिए।

मातृभाषा में शिक्षा- टैगोर ने शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा पर जोर दिया, क्योंकि यह बच्चों के लिए समझ को अधिक प्राकृतिक और सुलभ बनाता है।

मानवतावाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद- वे व्यक्ति को संकीर्ण एवं वैश्विक भाईचारे की भावना विकसित करने के

समर्थक थे।

ग्रामीण पुनर्निर्माण- उनका उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में सषक्तिकरण और सांस्कृतिक पुनर्जागरण लाना था।

पाठ्यक्रम- टैगोर एक विस्तृत और विविध पाठ्यक्रम के पक्षधर थे, जिसमें शामिल है।

शैक्षिक विषय- इतिहास, भूगोल, साहित्य, प्रकृति, अध्ययन।

क्रियात्मक गतिविधियाँ- कला, संगीत, नृत्य, नाटक, बागवानी, यात्रा और क्षेत्र अध्ययन।

प्रयोगशाला कार्य- विज्ञान और प्रयोगों के माध्यम से व्यावहारिक ज्ञान पर जोर।

शिक्षण विधियाँ- टैगोर ने परम्पारिक रहने वाली विधियों को नकारा और रचनात्मक विधियों को अपनाया।

अनुभवात्मक अधिगम- करके सीखने पर विशेष जोर दिया तथा इससे बच्चे स्थाई रूप से अध्ययन करते है।

भ्रमण विधि - प्रकृति में घूमकर और प्रत्यक्ष अनुभव से सीखना।

संवाद और चर्चा- शिक्षक और छात्र के बीच खुले संवाद को बढ़ावा देना।

शिक्षण संगठन

शिक्षक की भूमिका- गुरुदेव के अनुसार, ''शिक्षक को एक 'गुरु' के रूप में होना चाहिए, जो प्रेम सेवा और सहानुभूति के माध्यम से छात्रों का मार्गदर्षन करें। शिक्षक को मनोविज्ञान का ज्ञान होना चाहिए ताकि वह हर बच्चे की विशिष्ट जरूरतों को समझ सके।

विद्यालय का वातावरण- विद्यालय 'तपोवन' (आश्रम) की तरह होना चाहिए जो प्राकृतिक परिवेश में शोर-शराबे से दूर और सौहार्दपूर्ण हो।

शिक्षक छात्र सम्बन्ध- यह सम्बन्ध अत्यन्त निकट और मानवीय होना चाहिए, जो आत्म अनुषासन को बढ़ावा दे।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचार आज भी नई शिक्षा नीति-2020 के समान प्रासंगिक है। जो अनुभवात्मक अधिगम, समग्र विकास, रचनात्मकता और मातृभाषा में शिक्षा पर जोर देती है। उनका दर्षन शिक्षा को केवल रोजगार का साधन न मानकर जीवन जी ने अपने सम्पूर्ण शिक्षा में, राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी, प्रकृतिवादी, सर्वागीण विकास, समग्र शिक्षा, आध्यात्मिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। उनका मानना था कि शिक्षा यदि इससे भिन्न होगी तो राष्ट्र एवं मानव का विकास सम्भव नहीं है तथा जनकल्याण एवं ग्रामीण शिक्षा का रूप रेखा बदल जायेगी इसलिए हमें शिक्षा का मूल आधार को मजबूत एवं सषक्त तथा भयमुक्ति शिक्षा पर जोर देनी चाहिए। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से प्रेरित शिक्षा का उद्देश्य पर विश्वास करते थे। जिससे जनमानस को कल्याण हो सके तथा सब का विकास शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, समग्र विकास, आध्यात्म के अनुरूप हो। जिससे राष्ट्रको एक सषक्त एवं सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित बना सके।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जी के शैक्षिक विचारों का विश्लेषण एवं संगठन पर आधारित है। अपने शैक्षिक दर्शन में आध्यात्मिकता, समाज सुधारक, संवेगात्मक, शारीरिक, प्राकृतिक सौन्दर्यता पर विशेष बल दिया साथ ही मातृभाषा हिन्दी को मूल आधार मानकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा पर बल दिया मानव प्रकृति की गोद में रहकर सीखने तथा आत्मानुभूति का यह एहसास कराने पर बल दिया है कविकार, कहानीकार, साहित्यकार, नाटककार, शिक्षा शास्त्री एवं उच्च कोटि के दार्शनिक गुरुदेव जी ने भारत को विश्व में एक नई दिशा की ओर उन्मुख किया एवं अनमोल प्रकृति सौन्दर्यता का समावेश करके देश-विदेश में एक अलग पहचान बनायी साथ ही भारत में मातृभाषा एवं आध्यात्म पर जोर दिया। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की भावना को प्रकृति के साथ जोड़ा है। इनका मनाना था कि प्रकृति वर्तमान समय में नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में उनके आदर्शों पर आधारित नवयुवाओं को व्यवहारिक, आध्यात्मिकता के प्रति नवचेतना जागृत करती है तथा शिक्षा के माध्यम से उन्हांने नवभारत एवं विश्व के लिये एक प्रेरणा स्त्रोत का मार्ग निरन्तर बनाया है तथा आत्मबोध हिन्दी साहित्य के द्वारा

राष्ट्र प्रेम, राष्ट्रीयता एवं अन्तराष्ट्रीयता पर बल दिया निवर्तमान शिक्षा के द्वारा नवीन शिक्षा सस्थाओं के प्रमुख लक्ष्य तक पहुँचाने में साथर्क सिद्ध हुई है। इन्होंने मातृभाषा को विशेष स्थान दिया।

निष्कर्ष (Conclusion)- गुरुदेव जी का आत्मबोध आध्यात्मिक और भौतिकता का संतुलन करना, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से प्रेरित होकर मानवीय मूल्यों पर विशेष जोर दिया तथा इस के प्रति हमेशा गुणांत्मक सौन्दर्य एवं मूल्य आधारित एवं व्यवहारिक शिक्षा पर विशेष केन्द्र बिन्दु बनाया तथा ईश्वर को सर्वोपरि ब्रह्म के रूप में माना। बाल केन्द्रित शिक्षा पर विशेष बल दिया। प्रकृति की गोद में रहकर भ्रमण शिक्षा पर विशेष ध्ययन दिया। आज उन्ही वर्तमान समय में टैगोर द्वारा बताए गए शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 आधार बिन्दु है।

सन्दर्भ सूची (Reference)

1. पाठक, पी0डी0 - भारतीय शिक्षा एवं उनकी समस्याएँ
2. पाण्डेय, रामशकल -शिक्षा दर्शन छठा संस्करण विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
3. टैगोर, रवीन्द्रनाथ - शिक्षा दिल्ली समरी, 1986
4. टैगोर, रवीन्द्रनाथ - पर्सनाल्टी बाम्बे, मैकमिलन, 1970
5. टैगोर, रवीन्द्रनाथ - साधना नई दिल्ली मैकिमिलन, 1979
6. टैगोर, रवीन्द्रनाथ - रिलीजन ऑफ मैन शान्ति निकेतन विश्व भारती पब्लिकेशन- 1993
7. कार्नेलियम, जे0जे0 (1930) रवीन्द्रनाथ टैगोर, भारत के स्कूल मास्टर, कोलंबिया विश्वविद्यालय
8. पाठक, पी0डी0, शिक्षा मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, 2013
9. मूललेखक रवीन्द्रनाथ टैगोर, गीतांजलि, मारूत प्रकाशन दिल्ली रोड, मेरठ-2
10. पाण्डेय, रामसकल, शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त- अग्रवाल पब्लिकेशन
11. प्रो0 ईश्वर भारद्वाज, मानव चेतना-सत्यम् पबिलिंशिंग उत्तम नगर नई दिल्ली।
12. डॉ0 गुरुशरण त्यागी, ज्ञान एवं पाठ्यक्रम, अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा, उ0प्र0।
13. www.eric.ed..gov.
14. www.dartmouth edu.
15. www.cmwikiPedia.org/wiki
16. www.google.co. in

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

उपनिषदों में वर्णित वैश्विक शांति : एक दार्शनिक एवं समकालीन अध्ययन

डॉ. वर्षा रानी
असि. प्रो. संस्कृत - विभाग,
डॉ. भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय आगरा
Mail- vasu14rani@gmail.com
Mob – 9671904323

उपनिषद् भारतीय ज्ञान-परम्परा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इनमें मानव जीवन, आत्मा, ब्रह्म, जगत् तथा मोक्ष के साथ-साथ शांति, समन्वय और विश्व-बंधुत्व की गहन अवधारणाएँ प्रतिपादित हुई हैं। उपनिषदों में वर्णित शांति केवल युद्ध अथवा संघर्ष की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति, समाज, प्रकृति और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मध्य सामंजस्य की स्थिति है। उपनिषदों के शान्ति-मन्त्र, आत्मैक्य का सिद्धान्त, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना तथा समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना वैश्विक शांति की आधारशिला प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान समय में जब विश्व आतंकवाद, युद्ध, पर्यावरणीय संकट, धार्मिक कट्टरता और मानसिक तनाव जैसी समस्याओं से जूझ रहा है, तब उपनिषदों की शिक्षाएँ विश्व शांति के लिए एक प्रभावी वैचारिक आधार प्रदान करती हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में उपनिषदों में निहित वैश्विक शांति की अवधारणा, उसके दार्शनिक आधार, प्रमुख शान्ति-मन्त्रों तथा समकालीन प्रासंगिकता का विश्लेषण किया गया है। उपनिषदों के शान्ति-मन्त्र व्यक्ति, समाज और ब्रह्माण्ड के मध्य संतुलन एवं सामंजस्य की स्थापना पर बल देते हैं।

1. प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में शांति को सर्वोच्च मानवीय मूल्य माना गया है। वेदों से लेकर उपनिषदों तक शांति की अवधारणा का निरन्तर विकास दिखाई देता है। उपनिषद् वेदों का दार्शनिक भाग हैं और इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। इन ग्रन्थों में मानव जीवन के परम उद्देश्य, आत्मा एवं ब्रह्म की एकता तथा विश्व के आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण किया गया है।

उपनिषदों का मूल संदेश यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि एक ही परम सत्य की अभिव्यक्ति है। जब मनुष्य इस सत्य का अनुभव करता है, तब उसके भीतर अहिंसा, करुणा, सह-अस्तित्व और शांति की भावना विकसित होती है। इस प्रकार उपनिषदों की शांति-दृष्टि केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सार्वभौमिक एवं वैश्विक है।

2. वैश्विक शांति की अवधारणा

वैश्विक शांति का अर्थ केवल राष्ट्रों के बीच युद्ध का अभाव नहीं है। इसका व्यापक अर्थ है

- मानव जाति के मध्य सद्भाव
- धार्मिक एवं सांस्कृतिक सहिष्णुता

- सामाजिक न्याय
- पर्यावरणीय संतुलन
- मानसिक एवं आध्यात्मिक संतुलन
- विश्व-बंधुत्व की भावना

उपनिषदों में शांति को बहुआयामी रूप में देखा गया है। वहाँ शांति व्यक्ति के अन्तर्मन से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण विश्व तक विस्तृत होती है। यही कारण है कि उपनिषदों के शान्ति-मन्त्रों में केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि पृथ्वी, आकाश, वनस्पति और समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना की गई है।

3. उपनिषदों में शांति का दार्शनिक आधार

(क) आत्मा और ब्रह्म की एकता

उपनिषदों का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त आत्मा और ब्रह्म की एकता है।

"अहं ब्रह्मास्मि" (बृहदारण्यक उपनिषद्)

"तत्त्वमसि" (छान्दोग्य उपनिषद्)

इन महावाक्यों के अनुसार समस्त जीवों में एक ही परमात्मा का निवास है। जब मनुष्य सभी प्राणियों में अपने ही स्वरूप का दर्शन करता है, तब द्वेष, हिंसा और संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। यह दृष्टि वैश्विक शांति का मूल आधार है।

(ख) अद्वैत का सिद्धान्त

उपनिषदों में जगत् की मूलभूत एकता पर बल दिया गया है। विभाजन, संघर्ष और शत्रुता अज्ञान के कारण उत्पन्न होते हैं। ज्ञान के माध्यम से मनुष्य यह अनुभव करता है कि सम्पूर्ण विश्व एक ही चेतना का विस्तार है। यह दृष्टिकोण विश्व-शांति की स्थापना में सहायक है।

4. उपनिषदों के शान्ति-मन्त्र और वैश्विक शांति

उपनिषदों की प्रत्येक शाखा के आरम्भ और समापन में शान्ति-मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। इन मन्त्रों का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत शांति नहीं, बल्कि सार्वभौमिक सामंजस्य स्थापित करना है।

4.1 "ॐ सह नाववतु"

ॐ सह नाववतु।
सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
(तैत्तिरीय उपनिषद्)

इस मन्त्र में गुरु और शिष्य के बीच सहयोग, सद्भाव एवं द्वेष-रहित संबंध की कामना की गई है। यह शिक्षा, संवाद और सह-अस्तित्व के माध्यम से शांति स्थापित करने का संदेश देता है।

4.2 "पूर्णमदः पूर्णमिदम्"

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय

पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(ईशावास्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद्)

यह मन्त्र सम्पूर्ण सृष्टि की पूर्णता और एकता का उद्घोष करता है। जब समस्त जगत् को पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति माना जाता है, तब विभाजन और संघर्ष की भावना समाप्त हो जाती है।

4.3 "असतो मा सद्गमय"

असतो मा सद्गमय।

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मृत्योर्माऽमृतं गमय॥

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

यह मन्त्र असत्य से सत्य, अज्ञान से ज्ञान तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने की प्रार्थना है। यह आन्तरिक रूपान्तरण के माध्यम से शांति की स्थापना का मार्ग प्रस्तुत करता है।

5. त्रिविध शांति की अवधारणा

उपनिषदों में "ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" का तीन बार उच्चारण किया जाता है।

यह तीन प्रकार की बाधाओं के निवारण का प्रतीक माना जाता है

1. आध्यात्मिक (आध्यात्मिक/आध्यात्मिक)—मन एवं शरीर से उत्पन्न कष्ट।
2. आधिभौतिक—अन्य जीवों एवं भौतिक जगत् से उत्पन्न बाधाएँ।
3. आधिदैविक—प्राकृतिक अथवा दैवी शक्तियों से उत्पन्न कष्ट।

इस प्रकार उपनिषदों की शांति-दृष्टि व्यक्ति, समाज और प्रकृति तीनों के समन्वय पर आधारित है।

6. विश्व-बंधुत्व की भावना

उपनिषदों में समस्त मानवता को एक परिवार के रूप में देखने की प्रेरणा मिलती है। यद्यपि "वसुधैव कुटुम्बकम्" का प्रत्यक्ष उल्लेख महोपनिषद् में मिलता है, परन्तु इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि उपनिषदों में ही विकसित हुई है।

उपनिषदों के अनुसार

- सभी प्राणी एक ही चेतना के अंश हैं।
- किसी भी व्यक्ति का दुःख सम्पूर्ण मानवता का दुःख है।
- करुणा, दया और प्रेम शांति के मूलाधार हैं।

यह दृष्टिकोण आधुनिक वैश्विक नागरिकता (Global Citizenship) की अवधारणा से पूर्णतः मेल खाता है।

7. उपनिषद और पर्यावरणीय शांति

आज विश्व जलवायु परिवर्तन, पर्यावरण प्रदूषण और जैव-विविधता संकट जैसी समस्याओं का सामना कर रहा है। उपनिषदों में प्रकृति को केवल संसाधन नहीं, बल्कि दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति माना गया है।

शान्ति-पाठों में पृथ्वी, आकाश, जल, वनस्पति और सम्पूर्ण सृष्टि के लिए शांति की कामना की गई है

"द्यौः शान्तिः, अन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिः..."

यह दृष्टिकोण पर्यावरणीय संतुलन एवं सतत विकास के आधुनिक सिद्धान्तों के अत्यन्त निकट है।

8. आधुनिक विश्व में उपनिषदों की प्रासंगिकता

वर्तमान समय में विश्व अनेक संकटों से घिरा हुआ है

- युद्ध एवं आतंकवाद
- धार्मिक असहिष्णुता
- मानसिक तनाव
- सामाजिक असमानता
- पर्यावरणीय संकट

इन समस्याओं के समाधान हेतु उपनिषदों की शिक्षाएँ महत्त्वपूर्ण दिशा प्रदान करती हैं।

(क) धार्मिक सहिष्णुता

उपनिषद सत्य को विभिन्न मार्गों से प्राप्त होने योग्य मानते हैं। इससे सह-अस्तित्व और संवाद की भावना विकसित होती है।

(ख) मानसिक शांति

ध्यान, आत्मचिन्तन और आत्मज्ञान पर आधारित उपनिषदीय पद्धतियाँ आज मानसिक स्वास्थ्य और तनाव-प्रबंधन में उपयोगी सिद्ध हो रही हैं।

(ग) वैश्विक नैतिकता

उपनिषदों में अहिंसा, सत्य, दया, त्याग और करुणा जैसे मूल्यों पर बल दिया गया है, जो वैश्विक नैतिकता के आधार बन सकते हैं।

9. संयुक्त राष्ट्र और उपनिषदीय शांति-दृष्टि

संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) में शांति, न्याय, समानता और सतत विकास पर बल दिया गया है। उपनिषदों की शिक्षाएँ इन लक्ष्यों के साथ गहरा साम्य रखती हैं।

विशेष रूप से

- सर्वजन कल्याण
- समावेशी विकास
- पर्यावरणीय संतुलन
- अंतर-सांस्कृतिक संवाद
- मानव गरिमा

जैसे आदर्श उपनिषदों में निहित हैं। आधुनिक शिक्षा में भी उपनिषदीय शान्ति-मन्त्रों को समग्र विकास और सह-अस्तित्व के साधन के रूप में देखा गया है।

10. निष्कर्ष

उपनिषदों में वर्णित वैश्विक शांति की अवधारणा अत्यन्त व्यापक, मानवीय और सार्वकालिक है। यह शांति केवल राजनीतिक अथवा सामाजिक व्यवस्था तक सीमित नहीं है, बल्कि व्यक्ति, समाज, प्रकृति और ब्रह्माण्ड के मध्य सामंजस्य की स्थापना पर आधारित है। आत्मा और ब्रह्म की एकता, अद्वैत का सिद्धान्त, शान्ति-मन्त्रों की परम्परा, विश्व-बंधुत्व की भावना तथा समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना उपनिषदों को वैश्विक शांति का अद्वितीय ग्रन्थ बनाती है।

आज जब मानवता अनेक प्रकार के संकटों का सामना कर रही है, तब उपनिषदों की शिक्षाएँ एक ऐसे विश्व की कल्पना

प्रस्तुत करती हैं जहाँ शांति, सह-अस्तित्व, करुणा और सार्वभौमिक कल्याण सर्वोच्च मूल्य हों। अतः यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों की शांति-दृष्टि न केवल भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्राथमिक ग्रन्थ

1. ईशावास्योपनिषद्।
2. बृहदारण्यकोपनिषद्।
3. छान्दोग्योपनिषद्।
4. तैत्तिरीयोपनिषद्।
5. केनोपनिषद्।
6. मुण्डकोपनिषद्।
7. कठोपनिषद्।

द्वितीयक ग्रन्थ

8. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन – The Principal Upanishads
9. स्वामी गम्भीरानन्द – Eight Upanishads
10. बलदेव उपाध्याय –भारतीय दर्शन
11. दयानन्द भार्गव–उपनिषद् दर्शन।
12. राधाकमल मुखर्जी–The Philosophy of the Upanishads

शोध-पत्र एवं ऑनलाइन स्रोत

13. Relevance of Shanti Mantras in Upanishads: An Analysis from the Viewpoint of World Peace and Moral Values, 2025.
14. Harmony Beyond Conflict: The Timeless Vision of Peace in Sanskrit Texts, 2025.
15. India's Ancient Philosophy on Holistic Education and its Relevance for SDG 4.7, Springer Nature.
16. Shanti Mantras (सामान्य परिचय एवं त्रिविध शांति की अवधारणा)।
17. Shanti Path – Om Dyauh Shanti (वैदिक एवं उपनिषदीय शांति-पाठ)।
18. Asato Ma Sadgamaya and Upanishadic Peace Tradition.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

वर्तमान परिदृश्य में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का पत्रकारिता की विश्वसनीयता पर प्रभाव : एक आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. संदीप कुमार
सहायक आचार्य
पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग,
डॉ भीमराव आंबेडकर यूनिवर्सिटी, आगरा
Mob- 9456056081

वर्तमान युग को सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी का युग कहा जाता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence-AI) ने मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की भाँति पत्रकारिता और मीडिया जगत को भी गहराई से प्रभावित किया है। समाचार-संग्रहण, संपादन, अनुवाद, डेटा विश्लेषण, तथ्य-जाँच, सामग्री निर्माण तथा वितरण जैसे कार्यों में AI का प्रयोग तीव्र गति से बढ़ रहा है। एक ओर AI पत्रकारिता को अधिक तीव्र, सटीक और प्रभावी बनाने में सहायक सिद्ध हो रही है, वहीं दूसरी ओर इसके कारण समाचारों की विश्वसनीयता, निष्पक्षता और पारदर्शिता से संबंधित अनेक प्रश्न भी उत्पन्न हुए हैं। AI-जनित समाचारों, डीपफेक तकनीक, एल्गोरिद्मिक पक्षपात, फर्जी सूचनाओं और मानव संपादकीय नियंत्रण में कमी जैसी समस्याएँ पत्रकारिता की विश्वसनीयता के समक्ष गंभीर चुनौती प्रस्तुत कर रही हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में AI के पत्रकारिता पर प्रभावों का आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है तथा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि AI पत्रकारिता के लिए अवसर और चुनौती दोनों के रूप में उपस्थित है।

1. प्रस्तावना

पत्रकारिता लोकतांत्रिक व्यवस्था का चौथा स्तंभ मानी जाती है। इसका प्रमुख उद्देश्य समाज को तथ्यपरक, निष्पक्ष एवं विश्वसनीय सूचना प्रदान करना है। सूचना-प्रौद्योगिकी के विकास के साथ पत्रकारिता के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान समय में कृत्रिम बुद्धिमत्ता पत्रकारिता के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन ला रही है।

AI ऐसे कंप्यूटर सिस्टम को संदर्भित करती है जो मानव बुद्धि से संबंधित कार्यों जैसे सीखना, निर्णय लेना, भाषा को समझना तथा समस्याओं का समाधान करना में सक्षम होते हैं। आज समाचार एजेंसियाँ AI आधारित टूल्स का उपयोग समाचार लेखन, डेटा विश्लेषण, अनुवाद, व्यक्तिगत समाचार अनुशंसा (Personalized News Recommendation) और स्वचालित समाचार निर्माण के लिए कर रही हैं।

हालाँकि AI की बढ़ती भूमिका ने पत्रकारिता की विश्वसनीयता को लेकर नई बहस को जन्म दिया है। यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया है कि क्या मशीन द्वारा निर्मित समाचार मानव पत्रकारों के समान विश्वसनीय हो सकते हैं? क्या AI

पत्रकारिता को अधिक निष्पक्ष बनाएगी या पूर्वाग्रहों को और बढ़ाएगी?

2. कृत्रिम बुद्धिमत्ता और पत्रकारिता : अवधारणा एवं विकास

पत्रकारिता में AI का प्रयोग मुख्यतः निम्नलिखित क्षेत्रों में किया जा रहा है–

1. स्वचालित समाचार लेखन (Automated Journalism)
2. डेटा पत्रकारिता (Data Journalism)
3. तथ्य-जाँच (Fact Checking)
4. भाषा अनुवाद
5. समाचार अनुशंसा प्रणाली
6. वीडियो एवं ऑडियो निर्माण
7. सोशल मीडिया विश्लेषण

विश्व की अनेक समाचार संस्थाएँ AI आधारित तकनीकों का उपयोग कर रही हैं। समाचार एजेंसियाँ खेल, मौसम, वित्तीय बाजार तथा चुनाव परिणामों से संबंधित समाचारों का स्वचालित निर्माण कर रही हैं। Reuters सहित कई संस्थानों ने AI के प्रयोग के लिए पारदशी नीतियाँ विकसित की हैं।

3. पत्रकारिता की विश्वसनीयता : अर्थ एवं महत्व

विश्वसनीयता पत्रकारिता का मूलाधार है। समाचार तभी प्रभावी होते हैं जब पाठक, दर्शक अथवा श्रोता उन पर विश्वास करते हैं।

पत्रकारिता की विश्वसनीयता के प्रमुख आधार हैं–

- सत्यता
- निष्पक्षता
- पारदर्शिता
- उत्तरदायित्व
- तथ्यपरकता
- स्रोतों की प्रामाणिकता

यदि समाचार माध्यमों की विश्वसनीयता कम होती है तो लोकतांत्रिक संवाद, जनमत निर्माण तथा सामाजिक विश्वास की प्रक्रिया भी प्रभावित होती है।

डिजिटल युग में पहले से ही समाचार माध्यमों के प्रति जनविश्वास में गिरावट देखी जा रही है। Reuters Institute की रिपोर्ट के अनुसार वैश्विक स्तर पर समाचारों के प्रति विश्वास का स्तर चुनौतीपूर्ण स्थिति में है।

4. पत्रकारिता की विश्वसनीयता को सुदृढ़ करने में AI की भूमिका

(क) त्वरित समाचार प्रसारण

AI बड़ी मात्रा में डेटा का विश्लेषण करके अत्यंत कम समय में समाचार तैयार कर सकती है। इससे समाचारों का शीघ्र प्रसार संभव हुआ है।

(ख) तथ्य-जाँच में सहायता

AI आधारित Fact-checking Tools झूठी सूचनाओं और भ्रामक दावों की पहचान करने में सहायक हैं। इससे फेक न्यूज पर नियंत्रण की संभावना बढ़ती है।

(ग) डेटा विश्लेषण की क्षमता

विशाल डेटा-संग्रहों का विश्लेषण मानव पत्रकारों के लिए कठिन होता है, जबकि AI कुछ ही क्षणों में जटिल डेटा का विश्लेषण कर सकती है।

(घ) बहुभाषिक पत्रकारिता

AI आधारित अनुवाद प्रणालियाँ विभिन्न भाषाओं में समाचार उपलब्ध कराने में सहायक हैं, जिससे सूचना का लोकतंत्रीकरण संभव हुआ है।

(ङ) व्यक्तिगत समाचार अनुभव

AI उपयोगकर्ताओं की रुचि के अनुसार समाचार उपलब्ध कराती है, जिससे पाठकों की सहभागिता बढ़ती है।

5. पत्रकारिता की विश्वसनीयता पर AI के नकारात्मक प्रभाव

(क) फेक न्यूज और डीपफेक का प्रसार

AI द्वारा निर्मित डीपफेक वीडियो और ऑडियो वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करते हैं। इससे पाठकों के लिए सत्य और असत्य में अंतर करना कठिन हो जाता है।

डीपफेक तकनीक के कारण राजनीतिक प्रचार, सामाजिक तनाव तथा गलत सूचनाओं का प्रसार तीव्र गति से बढ़ा है। पत्रकारों के एक अध्ययन में लगभग 90 प्रतिशत पत्रकारों ने माना कि AI दुष्प्रचार (Disinformation) के जोखिम को बढ़ा सकती है।

(ख) एल्गोरिद्मिक पक्षपात (Algorithmic Bias)

AI मॉडल उन डेटा पर आधारित होते हैं जिनसे उन्हें प्रशिक्षित किया जाता है। यदि प्रशिक्षण डेटा पक्षपाती है तो AI भी पक्षपाती परिणाम प्रस्तुत कर सकती है।

इस स्थिति में समाचारों की निष्पक्षता प्रभावित हो सकती है।

(ग) स्रोतों की अस्पष्टता

AI द्वारा उत्पन्न सामग्री में स्रोतों की स्पष्ट जानकारी का अभाव हो सकता है। इससे पाठक समाचार की प्रामाणिकता का मूल्यांकन नहीं कर पाते।

(घ) मानवीय संवेदनशीलता का अभाव

पत्रकारिता केवल तथ्य प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं है; इसमें सामाजिक संदर्भ, नैतिकता और मानवीय संवेदनशीलता भी महत्वपूर्ण हैं। AI इन मानवीय तत्वों को पूर्णतः प्रतिस्थापित नहीं कर सकती।

(ङ) गलत एवं काल्पनिक सूचना (Hallucination)

AI मॉडल कभी-कभी ऐसी सूचनाएँ उत्पन्न कर देते हैं जो वास्तविक नहीं होतीं। शोधों में पाया गया है कि समाचार संबंधी प्रश्नों के उत्तर देते समय AI प्रणालियों में तथ्यात्मक त्रुटियाँ और स्रोत-संबंधी गलतियाँ व्यापक रूप से मौजूद हैं।

6. AI और जनविश्वास का संकट

हाल के अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि आम जनता AI द्वारा निर्मित समाचारों के प्रति अभी भी संदेहपूर्ण दृष्टिकोण रखती है।

Reuters Institute की 2025 रिपोर्ट के अनुसार केवल लगभग 12 प्रतिशत लोग पूर्णतः AI-निर्मित समाचारों के प्रति सहज हैं, जबकि मानव पत्रकारों द्वारा तैयार समाचारों के प्रति विश्वास कहीं अधिक है। मानव पर्यवेक्षण (Human Oversight) के साथ AI की स्वीकृति बढ़ती है।

एक अन्य अध्ययन के अनुसार वैश्विक स्तर पर AI चैटबॉट्स द्वारा प्रदान किए गए समाचारों पर विश्वास का स्तर

केवल लगभग 20 प्रतिशत पाया गया।

यह स्थिति दर्शाती है कि पत्रकारिता में AI का प्रयोग तभी विश्वसनीय माना जाएगा जब उसमें पर्याप्त मानवीय निगरानी और संपादकीय उत्तरदायित्व मौजूद हो।

7. समाचार उद्योग के समक्ष उभरती चुनौतियाँ

(क) रोजगार संबंधी चुनौती

स्वचालित समाचार निर्माण के कारण पत्रकारों की पारंपरिक भूमिकाओं में परिवर्तन हो रहा है। इससे रोजगार संबंधी चिंताएँ बढ़ी हैं।

(ख) कॉपीराइट और बौद्धिक संपदा

AI प्रणालियाँ विभिन्न स्रोतों से सामग्री लेकर नए पाठ तैयार करती हैं। इससे कॉपीराइट और स्वामित्व संबंधी विवाद उत्पन्न हो रहे हैं। अनेक समाचार संगठनों ने AI कंपनियों द्वारा समाचार सामग्री के उपयोग पर चिंता व्यक्त की है।

(ग) उत्तरदायित्व का प्रश्न

यदि AI द्वारा निर्मित समाचार गलत सिद्ध होता है तो उसके लिए उत्तरदायी कौन होगा—AI डेवलपर, समाचार संस्था या संपादक?

यह प्रश्न अभी भी स्पष्ट रूप से हल नहीं हुआ है।

(घ) पारदर्शिता की समस्या

AI की कार्यप्रणाली प्रायः 'ब्लैक बॉक्स' की तरह होती है। पाठकों को यह जानकारी नहीं होती कि समाचार किस प्रकार तैयार किया गया है।

8. पत्रकारिता में AI के नैतिक आयाम

पत्रकारिता की नैतिकता सत्य, निष्पक्षता और सार्वजनिक उत्तरदायित्व पर आधारित है। AI के उपयोग के संदर्भ में निम्नलिखित नैतिक प्रश्न महत्वपूर्ण हैं—

1. क्या AI द्वारा तैयार समाचारों को स्पष्ट रूप से चिह्नित किया जाना चाहिए?
2. क्या पाठकों को AI की भूमिका के बारे में बताया जाना चाहिए?
3. AI के कारण उत्पन्न त्रुटियों की जिम्मेदारी किसकी होगी?
4. क्या AI पत्रकारिता में मानव संपादक अनिवार्य होने चाहिए?

हाल के अध्ययनों से संकेत मिलता है कि पारदर्शिता आवश्यक है, किन्तु केवल AI-प्रयोग की सूचना देना पर्याप्त नहीं है; संपादकीय उत्तरदायित्व और मानव पर्यवेक्षण भी उतने ही आवश्यक हैं।

9. विश्वसनीय पत्रकारिता हेतु आवश्यक उपाय

पत्रकारिता की विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए निम्नलिखित कदम आवश्यक हैं—

1. मानव-नियंत्रित AI मॉडल

AI का उपयोग सहायक उपकरण के रूप में हो, अंतिम निर्णय मानव संपादकों द्वारा लिया जाए।

2. पारदर्शिता नीति

समाचार संस्थानों को यह स्पष्ट करना चाहिए कि किसी समाचार में AI की क्या भूमिका रही है।

3. तथ्य-जाँच की अनिवार्यता

AI द्वारा निर्मित सामग्री का प्रकाशन पूर्व स्वतंत्र सत्यापन आवश्यक होना चाहिए।

4. मीडिया साक्षरता

जनता को AI-जनित सामग्री और डीपफेक की पहचान के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

5. नैतिक दिशानिर्देश

राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर AI पत्रकारिता के लिए आचार-संहिता विकसित की जानी चाहिए।

6. नियामक व्यवस्था

सरकारों एवं मीडिया नियामकों को AI आधारित समाचार प्रणालियों के लिए उत्तरदायित्व संबंधी स्पष्ट नियम बनाने चाहिए।

10. निष्कर्ष

कृत्रिम बुद्धिमत्ता पत्रकारिता के इतिहास में एक महत्वपूर्ण तकनीकी परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करती है। यह समाचार-संग्रहण, विश्लेषण, संपादन और वितरण को अधिक तीव्र एवं प्रभावी बनाती है। तथ्य-जाँच, डेटा विश्लेषण और बहुभाषिक संचार जैसे क्षेत्रों में AI की उपयोगिता निर्विवाद है।

किन्तु दूसरी ओर, फेक न्यूज, डीपफेक, एल्गोरिद्मिक पक्षपात, गलत सूचनाएँ, स्रोतों की अस्पष्टता तथा पारदर्शिता की कमी पत्रकारिता की विश्वसनीयता के लिए गंभीर चुनौतियाँ उत्पन्न कर रही हैं। वर्तमान शोधों से यह स्पष्ट होता है कि जनता अभी भी पूर्णतः AI-निर्मित समाचारों की अपेक्षा मानव-नियंत्रित पत्रकारिता पर अधिक विश्वास करती है।

अतः पत्रकारिता का भविष्य ष्मानव बनाम AIष में नहीं, बल्कि 'मानव + AI' के संतुलित मॉडल में निहित है। AI को पत्रकारिता का विकल्प नहीं, बल्कि सहायक उपकरण के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। मानवीय विवेक, नैतिकता, संवेदनशीलता और उत्तरदायित्व के बिना पत्रकारिता की विश्वसनीयता सुरक्षित नहीं रह सकती।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Jaakkola, Maarit. Reporting on Artificial Intelligence: A Handbook for Journalism Educators. UNESCO, 2023.
2. Simon, Felix; Nielsen, Rasmus Kleis; Fletcher, Richard. Generative AI and News Report 2025. Reuters Institute, University of Oxford, 2025.
3. Reuters Institute. Digital News Report 2025. Oxford University, 2025.
4. Peña-Alonso, Urko et al. "Journalists' Perceptions of Artificial Intelligence and Disinformation Risks." 2025.
5. Molla, Mohammad Al Masum & Ahsan, Md Manjurul. Artificial Intelligence and Journalism: A Systematic Bibliometric and Thematic Analysis of Global Research. 2025.
6. Reuters. Reuters and AI Policy Framework.
7. Prajod, Pooja et al. Full Disclosure, Less Trust? How the Level of Detail about AI Use in News Writing Affects Readers' Trust. 2026.
8. Prajod, Pooja. Designed by Journalists, but Is It for Readers? Rethinking AI Disclosures and Transparency in News. 2026.
9. Reuters. "AI Assistants Make Widespread Errors About the News." 2025.
10. Reuters Media Centre. Reuters Launches MCP Server for Trusted News in AI Workflows. 2026

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

तिरुवक्कुरल एक परिचय

डॉ. पी. गणेशन
Associate Professor
Sri Krishna College of Arts and Science College Kuniyamuthur, Coimbatur-8

वेद केवल संस्कृत में है या अन्य भाषाओं में भी है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि **"तिरुक्कुरल - तमिल वेद है"** । पंचमावेद कहे जानेवाली भगवद्गीता भी संस्कृत में ही है। तमिल प्राचीनतम भाषा है और समय के साथ सभी विषयों को आत्मसात् करते हुए आगे बढती है। विश्व में सबसे अधिक भाषाओं में अनूदित दूसरा ग्रन्थ **तिरुक्कुरल** है। पहला तो **बाइबिल** है।

तिरुक्कुरल में तीन बृहद् अध्याय है। **अरम (धर्म), पोरुल (अर्थ), काम (काम)** नामक तीन अध्याय है। पुरुषार्थ में केवल मोक्ष को नहीं लिखा है क्योंकि उनका मानना है कि इन तीनों को सही रूप में जी लेने पर चौथा मोक्ष अपने आप मिल जाएगा। बृहद् अध्यायों को 133 छोटे अध्यायों में बाँटा है। प्रत्येक में दस-दस कुरल (दोहा जैसे दो लाइन में है - दो लाइन को मिलाकर केवल सात शब्द हैं।)

तीनों बृहद् अध्यायों में से केवल पाँच-पाँच कुरल आपके ध्यानार्थ प्रस्तुत किया हूँ। ताकि तमिल भाषा के, तिरुक्कुरल के महत्व को अच्छी तरह जानें। गागर में सागर भरने की क्षमता को आप पहचान सके।

अमृतवाणी तिरुक्कुरल

संत तिरुवळ्ळुवर ने तिरुक्कुरल के प्रत्येक कुरल में अमृत भरा है। प्रत्येक जीवन पद्धति को दर्शाता है। जीने की तरीका बताता है। कैसे जीना है, कैसे नहीं जीना है - दोनों बताता है। इसका अनुवाद हिंदी में भी किया गया है। कइयों ने तमिल में ही उसकी व्याख्या लिखी हैं। फिर भी उसका महत्व कम नहीं हुआ है। कारण नित्य नवीन है - तिरुक्कुरल।

धर्म (अरम्) से पांच कुरळ्

அகர முதல எழுத்தெல்லாம் ஆதி
பகவன் முதற்றே உலகு
अगर मुदल एळुत्तेल्लाम् आदि - Agara Mudhala Ezhuththellaam Aadhi
भगवन् मुदट्रे उलगु ।। Bagavan Mudhatre Ulagu

भावार्थ :- सभी भाषाओं का प्रारंभ "अ" से होता है। भगवान को शब्द रूप से भी कहा गया है। कहा जाता है कि शिव जी के डमरू से सभी अक्षर निकला। तो भगवान की कृपा से सभी अक्षर निकला कहते हैं। कुछ व्याख्याताओं का कहना है कि उनकी माता का नाम **आदि** और पिता का नाम **भगवन है।** उन्हें भी याद करते हुए ऐसे लिखा गया है। मैंने इसलिए यह कुरुल लिया कि यह प्रथम है और माता, पिता, गुरू एवं भगवान का उल्लेख किया है।

துப்பார்க்குத் துப்பாய துப்பாக்கித் துப்பார்க்குத்
துப்பாய தூஉம் மழை.
तुप्पारक्कुत् तुप्पाय तुप्पाक्कित् तुप्पारक्कुत्
तुप्पाय तूऊम् मळै।।
Thuppaarkkuth Thuppaaya Thuppaakkith Thuppaarkkuth
Thuppaaya Thooum Mazhai

भावार्थ :- बिना पानी के जगत शून्य है। सागर के पानी को भी शुद्ध रूप में देता है वर्षा। खाने की सभी चीजें वर्षा के कारण या पानी के कारण ही उपजाकर दिया जाता है। पानी स्वयं एक खाने का पदार्थ है। पानी के बिना जीना बहुत मुश्किल है। ऐसे पानी देनेवाली बरसात या वर्षा के महत्व को इसमें बताया गया है।

குணமென்னும் குன்றேறி நின்றார் வெகுளி
கணமேயும் காத்தல் அரிது.
गुणमेन्नुम कुन्ड्रेरी निन्ड्रार वेगुळि - Gunamennum Kundreri Nindraar Vekuli
गणमेयुम कात्तल अरिदु ।। Kanameyum Kaaththal Aridhu

भावार्थ :- दुनिया में सदा यह प्रश्न रहा कि क्यों अच्छे लोग दुख भोगते हैं जबकि दुष्ट लोग उन्हे सताते रहते हैं। इसका उत्तर इस **कुरल** में है। अच्छे गुणवाले प्राय: क्रोधित नहीं होते। वे सह लेते हैं। पर यदि क्रोधित हो जाते हैं तो वह केवल एक क्षण के लिए रहता है फिर उस बुरी बात को भूल जाते हैं। पर उस एक क्षण के क्रोध को शत्रु सह नहीं सकता है। अपशब्द का उपयोग कतई नहीं करते पर संकेत से बताते हैं कि दुष्ट जन उस एक क्षण के क्रोध से नष्ट हो जाते हैं।

அன்பும் அறனும் உடைத்தாயின் இல்வாழ்க்கை
பண்பும் பயனும் அது.
अन्बुम् अरनुम् उडैत्तायिन इलवाळ्क्कै - Anbum Aranum Utaiththaayin
पन्बुम पयनुम अदु ।। vaazhkkai Panbum Payanum Adhu.

भावार्थ :- पति-पत्नी दम्पति को कैसे जीना है यह भी सिखाते हैं। दोनों के बीच प्यार होना है। सद्भावना एवं सच्चाई के रास्ते पर जाकर धन कमाना है। दोनों को प्रत्येक के प्रति आदर दिखाते हुए जीवन बिताना है। यही जीवन का रहस्य है और यही वांछित फल देता है। यानी मोक्ष प्रदान करता है।

இனிய உளவாக இன்னாத கூறல்
கனிஇருப்பக் காய்கவர்ந் தற்று.
इनिय उऴवाग इन्नाद कूरल - Iniya Ulavaaga Innaadha Kooral
कनिइरुप्पक् काय्कवर्न्द् दट्रु ।। Kaniiruppak Kaaikavarn Thatru।।

भावार्थ :- मानव मात्र के लिए बोलने का अवसर है, अपने विचारों को दूसरों तक आसानी से पहँचा सकता है। लेकिन अधिकांश मनुष्य शब्दों का प्रयोग दूसरों को दुख पहुँचाने के लिए ही प्रयोग करते हैं। संत तिरुवळ्ळुवर कैसे बोलना है इसे भी सिखाते हैं। कहते हैं कि - हमेशा मीठे वचन एवं शब्द ही बोलिए। जब पके फल हैं क्यों कच्चे को खाने के लिए इच्छुक है। हम सोचते हैं कि दूसरों को सुधारने के लिए कटु वचन का प्रयोग करना है। हम क्या स्वयं सुधारने योग्य नहीं है?

अब अर्थ खंड से पांच कुरळ देखेंगे। वाकई धन क्या है? कैसे पाना है? सबकुछ बताते हैं।

கேடில் விழுச்செல்வம் கல்வி யொருவற்கு
மாடல்ல மற்றை யவை.

केडिल विळुच्चेलवम् कल्वि योरुवर्कु - Kedil Vizhuchchelvam Kalvi
माडल्ल मट्रै यवै ।। Yoruvarku Maadalla Matrai Yavai।।

भावार्थ :- हमारे पास कई प्रकार के धन हो सकता है। पर शिक्षा धन सभी धन से ऊपर है। बाकी सभी प्रकार के संपत्ति कालांतर में नष्ट हो सकता है पर शिक्षा धन ऐसा नहीं है। आप जितना उसका प्रयोग (खर्च) करेंगे उतना वह बढता रहेगा। बाकी सभी संपत्ति या धन नहीं है शिक्षा ही सबसे श्रेष्ठ धन है।

கேட்பினுங் கேளாத் தகையவே கேள்வியால்
தோட்கப் படாத செவி.

केट्पिनुंग केळात् तगैयवे केळ्वियाल - Ketpinung Kelaath Thagaiyave
तोट्कप् पडाद सेवि ।। KelviyaalThotkap Pataadha Sevi।।

भावार्थ :- हम क्यों जीते हैं? क्यों पैदा हुए? मृत्यु के बाद क्या होगा? जीकर क्या पाना है? ऐसे मूल प्रश्नों के बारे में सोचकर उस पर ज्ञान पाये बिना जितने भी हमारा कान सुन लें वे सब काम के नहीं है। कान ऐसे धर्मार्थ विषयों को सुने जिससे जीवन का भला हो। नहीं तो सुनने की शक्ति होते हुए भी वे कान बेकार ही है।

குணம்நாடிக் குற்றமும் நாடி அவற்றுள்
மிகைநாடி மிக்க கொளல்.

गुणम्नाडिक् कुट्रमुम् नाडि अवट्रुळ् - Gunamnaadik Kutramum Naadi
मिगैनाडि मिक्क कोळल ।। Avatrul Migainaadi Mikka Kolal।।

भावार्थ :- ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसमें केवल दोष हो या केवल गुण हो। स्वभावत: सभी मनुष्यों में दोनों का मिश्रण है। बुद्धिमान तो यही देखता है कि इनमें से कौन-सा गुण अधिक है। जो अच्छा गुण है उसी को लेना है। जो गुण अधिक है उसी के आधार पर उस पर निर्णय लेना है।

ஈன்றாள் பசிகாண்பான் ஆயினுஞ் செய்யற்க
சான்றோர் பழிக்கும் வினை.

ईण्ड्राळ पसिकाण्बान् आयिनुञ् चेय्यर्क - Eendraal Pasikaanpaan Aayinunj
साण्ड्रोर पळिक्कुम विनै ।। Cheyyarka Saandror Pazhikkum Vinai।।

भावार्थ :- गलती तो सभी करते हैं। और सभी अपनी गलती के लिए कोई न कोई ऐसा कारण बताते हैं कि गलती को सही साबित करने की कोशिश करते हैं। अधिकांश गलतियाँ जो बडे लोगों से वर्जित है वही होता है। अधर्म कतई हमें नहीं करना है। इस पर बहुत ज़ोर देते हुए तिरुवळ्ळुवर कहते हैं - स्वयं अपनी माता भूख से तडपती हो फिर भी आप अधर्म का काम मत कीजिए। बडे लोगों से वर्जित काम मत कीजिए।

கடனறிந்து காலங் கருதி இடனறிந்து
எண்ணி உரைப்பான் தலை.

कडनरिन्दु कालंग करुदि इडनरिन्दु - Kadanarindhu Kaalang Karudhi
एण्णी उरैप्पान तलै ।। Idanarindhu Enni Uraippaan Thalai।।

भावार्थ :- किसी को प्यार के लिए हो या देश के लिए दूत बनकर जाना है तो पांच विषयों को ध्यान में रखना है। अपने को क्या करना है, कब करना है, कहाँ पर करना है, अच्छी तरह सोचकर कैसे करना है और उसे सही प्रकार कहने, करनेवाला ही दूत है।

अब काम खंड से पांच कुरळ देखेंगे। काम मनुष्य का मूल भाव है। पर धार्मिक काम मानव को जीवन में आगे बढाता है। इच्छा को भी एक प्रकार का काम बताया जाता है। किस प्रकार की इच्छा रखनी है इसे भी तिरुवळ्ळुवर इस खंड में बताते हैं।

காமக் கடல்மன்னும் உண்டே அதுநீந்தும்
ஏமப் புணைமன்னும் இல்.

कामक् कडलमन्नुम् उण्डे अदुनीनदुम् - Kaamak Katalmannum Unte
एमप् पुणैमन्नुम् इल् ।। Adhuneendhum Emap Punaimannum Il

भावार्थ :- काम भाव सागर की तरह विस्तृत है। काम के बिना कोई रह नहीं सकता। पर उसे पार करना अत्यावश्यक है। तो उसका उपाय वळ्ळुवर जी बताते हैं। उसे पार करना है तो उस काम को धार्मिक रूप में शादी कराकर बुझाना है। पत्नी जब दूर है तब भी संयमी रहकर उसे पार करना है। दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

பன்மாயக் கள்வன் பணிமொழி அன்றோநம்
பெண்மை உடைக்கும் படை.

पनमायक् कळ्वन् पणिमोळि अण्ड्रोनम् - Panmaayak Kalvan Panimozhi
पेण्मै उडैक्कुम पडै ।। Andronam Penmai Udaikkum Padai।।

भावार्थ :- प्रेमिका को अपना वश करने के लिए लड़का/पुरुष क्या-क्या नहीं करता। बहुत सारे मायाजाल बनता है। नारी कितनी भी मजबूत रहने पर भी उसे अपनावश कराने के लिए मीठे-मीठे शब्दों का प्रयोग करते हैं। वही मीठे शब्द किसी भी लड़की को/नारी को वश खोकर उनके प्यार में फंसाने के लिए होता है। वळ्ळुवर जी बताते हैं कि मीठे वचन से आपसे कोई बात करता है तो बेहतर सावधान ही रहिए।

அனிச்சமும் அன்னத்தின் தூவியும் மாதர்
அடிக்கு நெருஞ்சிப் பழம்.

अनिच्चमुम् अन्नत्तिन् तूवियुम् मादर- Anichchamum Annaththin Thooviyum
अडिक्कु नेरुंजिप् पळम् MaadharAdikku Nerunjip Pazham।।

भावार्थ :- एक पुष्प है जिसका नाम तमिल में "अनिच्चम्" है। एक और स्थान पर बताया गया है कि बाकी पुष्प तो सूंघने से सूख जाता है पर अनिच्चम् को देखने से ही सूख जाता है। उतना कोमल है। इसी प्रकार "अन्न पक्षी" बहुत ही कोमल है। उसके पंख इतना कोमल है कि उससे ज्यादा कोमल वस्तू नहीं है। पर लड़कियों के हाथ पर पडने पर वे कांटों की तरह चुभता है। इसका यह मतलब है कि लडकियाँ अतिकोमल हैं।

யாமும் உளேங்கொல் அவர்நெஞ்சத்து எந்நெஞ்சத்து
ஓஒ உளரே அவர்.

यामुम् उळंगोल् अवरनेन्जत्तु एननेन्जत्तु -Yaamum Ulengol Avarnenjaththu
ओओ उळरे अवर ।। Ennenjaththu Oo Ulare Avar-।।

भावार्थ :- प्रेमिका अपनी सहेली से कहती है - मेरे दिल में तो वे हमेशा रहते हैं। पर क्या मैं भी उसके दिल में हमेशा रहता हूँ। हर सच्चा प्रेमी या प्रेमिका यही सोचते हैं । बहुत ही स्वाभाविक है।

ஊடுதல் காமத்திற்கு இன்பம் அதற்கின்பம்
கூடி முயங்கப் பெறின்.

ऊडुदल कामत्तिरकु इनबम् अदरकिन्बम -Oodudhal Kaamaththirku Inbam
कूडी मुयंगप् पेरिन् ।। AdharkinbamKoodi Muyangap Perin।।

भावार्थ :- पति-पत्नी के बीच, प्रेमी-प्रेमिका के बीच झगडा होना बहुत ही स्वाभाविक है। दोनों भिन्न-भिन्न परिवेश में पले और बढे हैं। गलतफहमी तो होता ही है। वळ्ळुवर जी कहते हैं कि ऐसे दोनों के बीच झगडा होना भी बाद के मिलन के लिए एक कारण बनता है। ऐसे मिलन से ही ऐसी झगडाएँ रुचिकर होते हैं।

सन्दर्भ

1. *तिरुवल्लुवर. Kural. पेंगुइन बुक्स लिमिटेड. अभिगमन तिथि: 4 मार्च 2005*
2. Tirukkural, Vol. 1, S.M. Diaz, Ramanatha Adigalar Foundation, 2000,
3. Swaminatha Iyer,Tiruvalluvar and his Tirukkural, Bharatiya Jnanapith, 1987
4. *तिरुवल्लुवर. Kural. पेंगुइन बुक्स लिमिटेड. अभिगमन तिथि: 4 मार्च 2005.*
5. **https://www.abebooks.com › plp**
6. **https://rekhtabooks.com › products › thirukkural**

डॉ पी.गणेशन
DR. P. GANESAN
ASSOCIATE PROFFESSOR
SRI KRISHNA COLLEGE OF ARTS AND SCIENCE COLLEGE
KUNIYAMUTHUR
COIMBATUR -8
PH-9994551508, ganesanp@skasc.ac.in

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

बाज़ारवादी व्यवस्था और आधुनिक भारतीय समाज की विडंबना: एक डूबते जहाज़ की अन्तर्कथा के विशेष संदर्भ में

जोस्ना जोस
शोधार्थी, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय
कार्यवट्टम कैंपस
मो. नं 8281197551
email -josnajose581996@gmail.com

भूमंडलीकरण और उदारीकरण के दौर ने भारतीय समाज की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया है। आज बाज़ार केवल वस्तुओं के क्रय-विक्रय का माध्यम नहीं रह गया, बल्कि वह मनुष्य की सोच, इच्छाओं, संबंधों और जीवन-मूल्यों को भी नियंत्रित करने लगा है। आधुनिक मनुष्य की सफलता, प्रतिष्ठा और पहचान का निर्धारण भी अब प्रायः उपभोग की क्षमता से किया जाने लगा है। ऐसी स्थिति में साहित्य समाज के इन परिवर्तनों को समझने और उनकी आलोचनात्मक व्याख्या करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। रवीन्द्र वर्मा का लघु उपन्यास "एक डूबते जहाज़ की अन्तर्कथा'' इसी संदर्भ में आधुनिक भारतीय समाज की विडंबनाओं का सशक्त दस्तावेज़ है।

उपन्यास का केंद्रीय पात्र गौरीशंकर श्रीवास्तव गुरुग्राम की एक आवासीय सोसाइटी में बैठकर अपने आसपास बदलते समाज को देखता है और उसके अर्थ को तलाशने का प्रयास करता है। उसके निजी अनुभवों के माध्यम से लेखक यह स्पष्ट करता है कि बाज़ारवाद ने केवल आर्थिक व्यवस्था को ही नहीं बदला, बल्कि मनुष्य के विचार, व्यवहार और संबंधों तक को प्रभावित किया है। आधुनिक जीवन की चमक-दमक के पीछे छिपी संवेदनहीनता, अकेलापन और मूल्य-संकट इस उपन्यास का प्रमुख कथ्य है। उपन्यास यह भी रेखांकित करता है कि आर्थिक समृद्धि और भौतिक सुविधाओं की निरंतर बढ़ती आकांक्षा ने मनुष्य को आत्मकेंद्रित और प्रतिस्पर्धी बना दिया है। परिणामस्वरूप पारिवारिक आत्मीयता, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक मूल्यों का निरंतर ह्रास होता दिखाई देता है। रवीन्द्र वर्मा इन परिवर्तनों का केवल चित्रण ही नहीं करते, बल्कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय परिणामों का भी गहन विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं, जिससे यह उपन्यास समकालीन भारतीय समाज में बाज़ारवादी व्यवस्था की विडंबनाओं का सशक्त आख्यान बन जाता है।

उपन्यास में उपभोक्तावादी संस्कृति की तीखी आलोचना की गई है। आज व्यक्ति अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक कृत्रिम इच्छाओं का निर्माण करता है। बाज़ार लगातार यह विश्वास दिलाता है कि सुख और प्रतिष्ठा का आधार अधिक से अधिक वस्तुओं का उपभोग है। परिणामस्वरूप लोग अपनी आर्थिक क्षमता से अधिक खर्च करने लगते हैं और जीवन का मूल्य वस्तुओं की संख्या से आँकने लगते हैं। नया गुड़गाव के संदर्भ में उपन्यासकार बताता है कि " यह मॉलों का शहर है। यहाँ चालीस मॉल हैं जहाँ दिल्लीवासी सैर के लिए आते हैं और गाड़ियाँ भरकर ऐसा सामान ले जाते हैं जिसकी ज़रूरत का पता वे घर पहुँचकर खोजते हैं। ज़रूरतें बड़ी जालिम होती हैं, यार। पूँछ झड़ने के बाद जिस आदमी की ज़रूरतें दो जून रोटी और सिर पर साया थे-उसी आदमी की ज़रूरतें नयी अलबेली दुनिया में सुरसा के मुँह की तरह ऐसी बढ़ी हैं कि धरती

की जान पर बन आयी है!" [1] घर धीरे-धीरे रहने का स्थान कम और उपभोग की वस्तुओं का प्रदर्शन-स्थल अधिक बनता जा रहा है। विशेष रूप से मध्यवर्ग इस मानसिकता का सबसे बड़ा शिकार दिखाई देता है।

लेखक आधुनिक युवा पीढ़ी की बदलती जीवन-शैली पर भी गंभीर प्रश्न उठाता है। उसके अनुसार आज का युवा वर्ग उपभोक्तावादी और बाज़ारवादी संस्कृति के प्रभाव में अपनी सांस्कृतिक पहचान तथा नैतिक मूल्यों से दूर होता जा रहा है। वह बिना किसी सामाजिक या नैतिक बंधन के जीवन जीना चाहता है—"कॉलेज में किसी शाम जब जलसा होता है तो अगली सुबह कमरों से बरते हुए कंडोम बरामद होते हैं। शहर कितना बदल गया है! शहर क्या, देश बदल गया है। अब अमरीका की नकल करती सारी दुनिया एक है।" [2] आधुनिकता की अंधी दौड़ में पश्चिमी संस्कृति को श्रेष्ठ मानकर उसका अनुकरण करना उसकी प्रवृत्ति बन गई है। आज विदेश जाना युवा पीढ़ी की सबसे बड़ी आकांक्षाओं में शामिल हो गया है। विशेषतः अमेरिका जैसे विकसित देशों में बसना और वहाँ की जीवन-शैली को अपनाना अनेक भारतीय युवाओं का स्वप्न बन चुका है—"अमरीका सपने का चरम है। मध्यवर्गीय स्वप्न अमरीकी स्वप्न हो गया है।" [3] उनके लिए अमेरिकी जीवन केवल बेहतर आर्थिक अवसरों का ही नहीं, बल्कि आधुनिकता, प्रतिष्ठा और सफलता का भी प्रतीक बन गया है।

तकनीकी विकास ने जीवन को सुविधाजनक अवश्य बनाया है, किंतु मनुष्य को पहले की अपेक्षा अधिक अकेला भी कर दिया है। मोबाइल और डिजिटल तकनीक ने संवाद के नए साधन दिए हैं, परंतु आत्मीयता और प्रत्यक्ष मानवीय संपर्क कम होते जा रहे हैं। युवा वर्ग सुविधाओं का अभ्यस्त होकर परिश्रम, धैर्य और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे मूल्यों से दूर होता दिखाई देता है। उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ती जाती हैं, पर जीवन का स्पष्ट लक्ष्य धुंधला पड़ता जाता है। आज के व्यक्ति खासकर युवाओं के बारे में कथावाचक के द्वारा उपन्यासकार बता रहा है कि "आप देखेंगे कि आजकल अक्सर लोग खड़े हुए या चलते हुए बर्गर या पीज़ा खाते हुए पाये जाते हैं। यह उल्टी चाल है। भागम-भाग है। पैरों से खाओ और पैरों से बात करो-चलते हुए मोबाइल पर। यार, आदमी आज टेलीफोन-बूथ हो गया है। सचल फोन-बूथ। वह हमेशा दूसरों की गिरफ्त में है। उसे कोई भी कभी भी पकड़ सकता है। अब आदमी को अपने साथ रहने की इजाजत नहीं।"[4]

बाज़ारवाद का सबसे गहरा प्रभाव पारिवारिक संबंधों पर दिखाई देता है। संयुक्त परिवारों का विघटन, आत्मकेंद्रित जीवन-शैली और व्यक्तिगत सफलता की अंधी दौड़ ने परिवार की आत्मीयता को कमजोर किया है। रिश्तों में प्रेम, विश्वास और त्याग का स्थान धीरे-धीरे स्वार्थ और उपयोगिता ने ले लिया है। व्यक्ति दूसरे मनुष्य को भी उसकी उपयोगिता के आधार पर देखने लगा है। परिणामस्वरूप परिवार, जो कभी सुरक्षा और अपनत्व का केंद्र था, आज अनेक स्थानों पर केवल औपचारिक संस्था बनकर रह गया है। गौरीशंकर का दिल्ली में रहने वाला भाई भरत आर्थिक और सामाजिक रूप से उन्नति करने के बाद अपने परिवार, विशेषतः गौरीशंकर, से दूरी बना लेता है। वह एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में प्रेसिडेंट के पद पर आसीन है। वर्षों बाद जब दोनों भाइयों का सामना होता है, तब भी भरत का व्यवहार अपने सगे भाई के प्रति आत्मीयता के बजाय एक अजनबी जैसा दिखाई देता है - "दस साल पहले ऐसा संयोग हुआ कि दिल्ली में मुगल शेरेटन के लॉन पर एक पाटी में मैंने उसे दूर से अपनी ओर आते हुए देखा। मेरे चेहरे पर मुस्कान आ गयी। मुझे लगा कि वह हमेशा की तरह मेरे पास आकर मेरे पैर छुएगा। मगर वह मुझे आर-पार देखता हुआ आगे बढ़ गया जैसे मैं हवा का बना हूँ। वह दूसरी ओर जाकर एक घेरे में शामिल हो गया जहाँ बड़े-बड़े लोग खड़े थे।"[5] बाज़ारू संस्कृति का सबसे बड़ा संकट यह है कि इसमें आत्मीयता और मानवीय संबंधों का क्षरण हो जाता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी हितों तक सीमित दिखाई देता है और 'अपनापन' का भाव धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है।

इस परिवर्तन का सबसे अधिक दुष्प्रभाव वृद्धों पर पड़ा है। संयुक्त परिवारों के टूटने से बुजुर्ग अकेलेपन, उपेक्षा और असुरक्षा का जीवन जीने के लिए विवश हैं। उपन्यास में गौरीशंकर की माँ का प्रसंग अत्यंत मार्मिक है। अनेक संतानें होने के बावजूद अंतिम समय में उनका अकेला रह जाना केवल एक परिवार की कहानी नहीं, बल्कि बदलते भारतीय समाज की सामूहिक त्रासदी का प्रतीक है "भाई ने बताया कि जब अम्मा ने अन्तिम साँस ली, वह उनके पास नहीं था। गंगाजल उनके सिरहाने ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। मुझे अम्मा का अन्तिम चेहरा वृद्ध देखकर रुलाई फूटी थी क्योंकि चेहरे की रेखाओं में अन्तिम

इच्छा कैद थी-हो सकता है ऐसा कुछ भी न हो और अम्मा का चेहरा जीवन मौत की तरह खाली हो और मुझे ही ऐसा लगा हो! मैंने इसलिए भी कुछ हिचकियाँ ली थीं कि अम्मा निपट अकेली मरी थीं और इसके लिए हम सब जिम्मेदार थे।''[6] आर्थिक सफलता की दौड़ में नई पीढ़ी अपने माता-पिता के प्रति नैतिक दायित्वों को भूलती जा रही है। यही आधुनिक समाज की सबसे बड़ी विडंबनाओं में से एक है।

बाज़ारवाद का प्रभाव केवल उपभोग और पारिवारिक जीवन तक सीमित नहीं है, बल्कि उसने भाषा, संस्कृति और पहचान को भी प्रभावित किया है। अंग्रेज़ी भाषा का बढ़ता वर्चस्व इसका प्रमुख उदाहरण है। आज अंग्रेज़ी ज्ञान का माध्यम होने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक उन्नति का प्रतीक भी बन गई है। गौरीशंकर का दादा और पिता दोनों इसी भाषा के कायल थे। उनके पिता का अंतिम शब्दों को याद करते हुए वह इस भाषा के प्रति उनके रूचि को दर्शाता है "जब बाबु ने आखिरी साँस ली तो वे बोले थे रू फाइल इन क्लोज़ूड।''[7] आज अनेक लोग अपनी मातृभाषा और स्थानीय सांस्कृतिक पहचान की उपेक्षा करने लगे हैं। उपन्यास इस मानसिकता की ओर संकेत करते हुए बताता है कि विकास की अंधी दौड़ में अपनी जड़ों से कटना किसी भी समाज के लिए शुभ संकेत नहीं है।

बदलते शहरी जीवन का चित्रण भी उपन्यास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। महानगरों में विकसित होते विशाल मॉल, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और उपभोग-केंद्रित जीवनशैली आधुनिक विकास का प्रतीक माने जाते हैं। किंतु लेखक इनके भीतर छिपे सांस्कृतिक संकट को भी सामने लाता है। मॉल की चकाचौंध व्यक्ति को आकर्षित अवश्य करती है, परंतु धीरे-धीरे वही आकर्षण स्थानीय उत्पादों, पारंपरिक जीवन-पद्धति और सामुदायिक संस्कृति को हाशिए पर पहुँचा देता है। वस्तुओं की प्रचुरता के बीच मनुष्य का भावनात्मक संसार लगातार सिकुड़ता जाता है।

बाज़ारवादी व्यवस्था में स्त्री केवल उपभोक्ता नहीं, बल्कि स्वयं एक 'वस्तु' में परिवर्तित कर दी जाती है। उसकी सुंदरता, शरीर, श्रम और भावनाओं का उपयोग लाभ अर्जित करने के साधन के रूप में किया जाता है। आर्थिक असमानता और वर्गीय विभाजन उसे ऐसी परिस्थितियों में धकेल देते हैं, जहाँ उसकी गरिमा और स्वायत्तता संकट में पड़ जाती है—"इन झोपड़ियों के नागरिक बड़े घरों के गुलाम हैं, जिनकी औरतें बड़े घरों का झाड़ू-पोंछा-बर्तन करतीं हैं और खाना बनाती हैं और कभी-कभी बड़े घरों के मर्दों के नीचे लेटने को मजबूर हो जाती हैं-यही आन्तरिक उपनिवेशीकरण है जो विशुद्ध भारतीय है!"[8] बाज़ार स्त्री को उसकी मानवीय पहचान से अधिक एक बिकाऊ उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करता है। पितृसत्तात्मक समाज और बाज़ार की मिली-जुली संरचना में स्त्री को प्रायः पुरुष की भोग-वस्तु तथा उपभोग की सामग्री के रूप में देखा जाता है। परिणामस्वरूप उसे समान मानवीय गरिमा से वंचित कर द्वितीय श्रेणी का नागरिक बना दिया जाता है।

उपन्यास यह भी रेखांकित करता है कि बाज़ार ने धर्म और राजनीति को भी अपने प्रभाव से अछूता नहीं छोड़ा। धार्मिक आस्था और राजनीतिक भावनाओं का उपयोग अनेक बार जनहित के बजाय स्वार्थ-सिद्धि के साधन के रूप में किया जाता है -"यह वैष्णो देवी का दौर है। जब से पिछले दशक में हमारे यहाँ धम बाज़ार का फरूखाबादी खुला खेल शुरू हुआ, वैष्णो देवी मध्यवर्ग की लाडली बाज़ हो गयी। यह नव-उदारवाद की देवी है। जैसे लोग कागजी समाजवाद से ऊब गये थे, उसी तरह राम-कृष्ण से ऊब गये। अब चमत्कार की उम्मीद उन तीन पिण्डियों से है जो वैष्णो देवी की गुफ़ा में रखी हैं। चमत्कार का सपना विराट् है : लोग रात-भर सड़क पर उसी मोह-पाश में बन्धे चले जाते हैं जैसे उन्हें रात में सोते हुए चलने की बीमारी हो!''[9] जनभावनाओं को भड़काकर लाभ अर्जित करने की प्रवृत्ति लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए गंभीर चुनौती है। लेखक इस स्थिति की आलोचना करते हुए पाठक को यह सोचने के लिए प्रेरित करता है कि जब सत्ता, पूँजी और बाज़ार एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं, तब सबसे अधिक नुकसान सामान्य नागरिक को उठाना पड़ता है।

विकास की वर्तमान अवधारणा पर भी उपन्यास गंभीर प्रश्न उठाता है। ऊँची इमारतें, आधुनिक नगर और भव्य निर्माण प्रगति के प्रतीक माने जाते हैं, किंतु इनके पीछे विस्थापन, पर्यावरण-क्षरण और सामाजिक असमानता जैसे प्रश्न भी जुड़े हुए हैं। गुडगांव के बड़े-बड़े इमारतों को देखकर गौरीशंकर आश्चर्य का अनुभव करता है "सड़क के दोनों ओर नीची इमारतें घर हैं जिनमें लोग रहते हैं और ऊँची इमारतें दफ़्तर हैं जिनमें लोग काम करते हैं- सीधी सपाट ऊँची इमारतें इतनी ऊँची हैं कि

लगता है, आकाश में छेद कर देंगी छेद होता नहीं क्योंकि आकाश कोई परदा नहीं, महज एक अवकाश है। छेद धरती में होता है जहाँ ये इमारतें गड़ी हैं।''[10] यदि विकास का लाभ समाज के सभी वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँचता, तो वह अधूरा विकास है। लेखक इसी मानवीय दृष्टि से आधुनिक विकास मॉडल का पुनर्मूल्यांकन करता है।

रवीन्द्र वर्मा आधुनिक मनुष्य की पहचान के संकट को भी अत्यंत संवेदनशील ढंग से प्रस्तुत करते हैं। आज व्यक्ति अपने कार्य, प्रतिस्पर्धा और आर्थिक उपलब्धियों में इतना उलझ गया है कि उसके निजी जीवन और पेशेवर जीवन के बीच की सीमाएँ धुंधली पड़ गई हैं। कार्य-संस्कृति का बढ़ता दबाव मनुष्य को मशीन की तरह निरंतर सक्रिय रहने के लिए विवश करता है। गोरीशंकर खुद अपनी आलोचना करते हुए कहता हे "देखिए, मैं कहाँ से कहाँ पहुँच गया। इन दिनों मेरे साथ यही होता है। शायद अनीता ठीक कहती है। मेरा दिमाग़ छुट्टी पर है। आपने भी महसूस किया होगा कि जब हम नौकरी करते हैं तो हमारा दिमाग़ कभी छुट्टी पर नहीं होता चाहे हम छुट्टी पर हों। नौकर एक शाश्वत नौकर होता है-चाहे वह घर में हो या बाहर, चाहे वह दफ्तर में हो या बाज़ार में, चाहे वह मेज़ पर हो या बिस्तर पर। जी हाँ, वह नौकर ही होता है जब वह अपने बिस्तर में पत्नी के साथ होता है। यह नयी सभ्यता की त्रासदी है जो दिनों दिन गहराती जाती है।''[11] व्यक्ति जिंदगी में सफलता तो प्राप्त कर लेता है, किंतु मानसिक शांति, आत्मीय संबंध और जीवन का संतुलन खो बैठता है। यही बाज़ारवादी व्यवस्था की सबसे बड़ी विडंबना है कि वह सुविधा तो देती है, पर संतोष नहीं।

अंततः एक डूबते जहाज़ की अन्तर्कथा केवल एक व्यक्ति या परिवार की कहानी नहीं, बल्कि बदलते भारतीय समाज का व्यापक सामाजिक आख्यान है। यह उपन्यास बताता है कि बाज़ार जीवन का आवश्यक अंग अवश्य है, किंतु जब वही जीवन का अंतिम लक्ष्य बन जाता है, तब मानवीय मूल्य, संबंध, संवेदनाएँ और सांस्कृतिक पहचान संकट में पड़ जाती हैं। उपन्यास का शीर्षक इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि समकालीन भारतीय समाज नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के निरंतर क्षरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। यदि इस प्रवृत्ति पर समय रहते अंकुश नहीं लगाया गया, तो मानवीय संवेदनाएँ, पारिवारिक संबंध और सांस्कृतिक अस्मिता गंभीर संकट में पड़ सकती हैं। इसलिए इस पतनशील प्रवृत्ति से उबरना आज के समय की अनिवार्य आवश्यकता है। रवीन्द्र वर्मा ने अत्यंत संतुलित और प्रभावशाली ढंग से यह संदेश दिया है कि आधुनिकता का स्वागत करते हुए भी मनुष्य को अपनी मानवीय संवेदनाओं, पारिवारिक मूल्यों और सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहना चाहिए। यही इस उपन्यास का मूल संदेश है और यही इसकी समकालीन प्रासंगिकता भी है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. एक डूबते जहाज़ की अन्तर्कथा, रवीन्द्र वर्मा, पृ. 42
2. वही पृ. 23
3 वही पृ. 24
4. वही पृ. 15
5. वही पृ. 39
6. वही पृ. 40
7. वही पृ. 17
8. वही पृ. 27
9. वही पृ. 25
10. वही पृ. 42
11. वही पृ. 11

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता: चुनौतियाँ, उपलब्धियाँ एवं सशक्तिकरण का अध्ययन

ममता
शोधार्थी
टाटिया विश्वविद्यालय, श्रीगंगानगर

डॉ. शिल्पा रानी
शोध पर्यवेक्षक
टाटिया विश्वविद्यालय, श्रीगंगानगर

निष्कर्ष :- पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता लोकतंत्र को जमीनी स्तर पर मजबूत करती है। यद्यपि चुनौतियाँ मौजूद हैं, फिर भी महिलाओं की सक्रिय भूमिका ग्रामीण विकास एवं सामाजिक परिवर्तन की दिशा में सकारात्मक प्रभाव डाल रही है। पंचायत समिति में महिलाओं की प्रभावी सहभागिता ग्रामीण लोकतंत्र को सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। इसके लिए महिलाओं को राजनीतिक प्रशिक्षण, नेतृत्व विकास, शिक्षा, जागःकता तथा आर्थिक सशक्तिकरण प्रदान करना आवश्यक है। साथ ही, महिलाओं के अधिकारों और निर्णय क्षमता को मजबूत करने हेतु सामाजिक सोच में परिवर्तन और सरकारी स्तर पर संस्थागत समर्थन की आवश्यकता है। पंचायत समिति में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी न केवल ग्रामीण विकास को गति प्रदान करती है, बल्कि लैंगिक समानता एवं समावेशी लोकतंत्र को भी सुदृढ़ बनाती है।

प्रस्तावना

भारत में पंचायती राज व्यवस्था स्थानीय स्वशासन का एक महत्वपूर्ण माध्यम है, जिसका उद्देश्य ग्रामीण विकास में जनसहभागिता सुनिश्चित करना है। महिलाएँ समाज की आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करती हैं, इसलिए लोकतांत्रिक व्यवस्था में उनकी भागीदारी अत्यंत आवश्यक है। लंबे समय तक महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पर्याप्त अवसर नहीं मिले किन्तु संविधान के 73वें संशोधन अधिनियम, 1992 के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई, जिससे महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी को बढ़ावा मिला। पंचायत समिति स्तर पर महिलाओं की सहभागिता ने ग्रामीण प्रशासन, सामाजिक विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा महिला सशक्तिकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाए हैं।

यह अध्ययन पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता, उनकी भूमिका, निर्णय लेने की क्षमता तथा उनके समक्ष आने वाली चुनौतियों का विश्लेषण करता है। अध्ययन में यह पाया गया कि महिलाओं की भागीदारी ने स्थानीय प्रशासन में पारदर्शिता, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा जनहित के मुद्दों को अधिक महत्व दिया है। महिलाओं ने विशेष रूप से शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला सुरक्षा, पेयजल, पोषण और सामाजिक कल्याण से संबंधित योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन में योगदान दिया है।

हालाँकि, पंचायत समिति में महिलाओं की प्रभावी सहभागिता के समक्ष कई बाधाएँ भी मौजूद हैं। जैसे - शैक्षिक कमी, सामाजिक रूढ़िवादिता, आर्थिक निर्भरता, पुरुष प्रधान मानसिकता, राजनीतिक अनुभव का अभाव तथा परिवार का हस्तक्षेप।

कई मामलों में महिला प्रतिनिधियों को केवल नाममात्र का पदाधिकारी माना जाता है और वास्तविक निर्णय उनके पुरुष परिजन लेते हैं, जिसे "सरपंच पति" संस्-ति कहा जाता है। भारत एक लोकतांत्रिक देश है जहाँ लोकतंत्र की जड़ें गाँवों तक फैली हुई हैं। ग्रामीण विकास एवं स्थानीय स्वशासन को सशक्त बनाने के उद्देश्य से पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना की गई। पंचायती राज प्रणाली ग्रामीण क्षेत्रों में विकास कार्यों को गति देने तथा स्थानीय लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इस व्यवस्था में ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद तीन स्तर होते हैं। पंचायत समिति मध्य स्तर की संस्था है, जो विकास योजनाओं के क्रियान्वयन और पंचायतों के समन्वय का कार्य करती है।

पंचायत समिति का अर्थ एवं महत्व

पंचायत समिति पंचायती राज व्यवस्था की मध्य स्तरीय संस्था है, जो ब्लॉक या खंड स्तर पर कार्य करती है। इसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में विकास योजनाओं का संचालन, पंचायतों के कार्यों का समन्वय तथा सरकारी योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन करना है। पंचायत समिति शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, कृषि, रोजगार तथा सामाजिक कल्याण जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर कार्य करती है। पंचायत समिति में महिलाओं की भागीदारी का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि महिलाएँ परिवार और समाज की समस्याओं को निकटता से समझती हैं तथा उनके समाधान में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं।

पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता - भारत में पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ाने के लिए संविधान द्वारा आरक्षण की व्यवस्था की गई। प्रारंभ में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण निर्धारित किया गया, जिसे कई राज्यों में बढ़ाकर 50 प्रतिशत तक कर दिया गया है। इस आरक्षण ने महिलाओं को राजनीतिक नेतृत्व में आने का अवसर प्रदान किया। आज पंचायत समितियों में महिलाएँ सदस्य, प्रधान, उप-प्रधान तथा विभिन्न समितियों की अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रही हैं। वे ग्रामीण विकास, महिला शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, स्वच्छता और सामाजिक कल्याण योजनाओं के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

महिलाओं की भूमिका

1. शिक्षा के क्षेत्र में योगदान - इमहिला प्रतिनिधि गाँवों में शिक्षा को बढ़ावा देने, बालिका शिक्षा के प्रति जागःकता फैलाने तथा विद्यालयों की समस्याओं के समाधान में योगदान देती हैं। वे विद्यालयों में नामांकन बढ़ाने और ड्रॉपआउट दर कम करने के लिए कार्य करती हैं।

2. स्वास्थ्य एवं स्वच्छता - महिलाएँ स्वास्थ्य और स्वच्छता से जुड़े मुद्दों को प्राथमिकता देती हैं। पंचायत समिति में महिला प्रतिनिधियों ने टीकाकरण, पोषण अभियान, स्वच्छ पेयजल और स्वच्छता कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया है।

3. महिला एवं बाल विकास - महिला प्रतिनिधि महिलाओं और बच्चों से जुड़ी योजनाओं को लागू करने में सक्रिय भूमिका निभाती हैं। वे घरेलू हिंसा, बाल विवाह, दहेज प्रथा और लैंगिक भेदभाव जैसी समस्याओं के खिलाफ जागरूकता फैलाती हैं।

4. सामाजिक न्याय - महिलाएँ पंचायत समिति में गरीबों, कमजोर वर्गों तथा जःरतमंद लोगों के अधिकारों की रक्षा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वे समाज में समानता और न्याय स्थापित करने का प्रयास करती हैं।

5. ग्रामीण विकास - महिला प्रतिनिधि सड़क, बिजली, पानी, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार संबंधी विकास योजनाओं के प्रभावी क्रियान्वयन में योगदान देती हैं। उनकी भागीदारी से विकास कार्यों में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व बढ़ा है।

महिलाओं की सहभागिता से होने वाले लाभ

महिला सशक्तिकरण में वृद्धि - पंचायत समिति में भागीदारी से महिलाओं में आत्मविश्वास और नेतृत्व क्षमता विकसित होती है।

लोकतंत्र की मजबूती - महिलाओं की भागीदारी लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाती है।

सामाजिक परिवर्तन - महिला प्रतिनिधियों ने बाल विवाह, दहेज प्रथा और अशिक्षा जैसी समस्याओं को कम करने का प्रयास किया है।

बेहतर निर्णय प्रक्रिया - महिलाएँ परिवार और समाज से जुड़े मुद्दों को गंभीरता से समझती हैं, जिससे निर्णय अधिक प्रभावी होते हैं।

ग्रामीण विकास में सुधार - महिला नेतृत्व से स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक कल्याण योजनाओं का बेहतर संचालन होता है।

महिलाओं के समक्ष चुनौतियाँ

यद्यपि महिलाओं की सहभागिता बढ़ी है, फिर भी उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है-

1. अशिक्षा

ग्रामीण क्षेत्रों में कई महिला प्रतिनिधियाँ पर्याप्त शिक्षा प्राप्त नहीं कर पातीं, जिससे प्रशासनिक कार्यों को समझने में कठिनाई होती है।

2. पुरुष प्रधान मानसिकता

समाज में अभी भी पुरुष प्रधान सोच मौजूद है, जिसके कारण महिलाओं को स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने में कठिनाई होती है।

3. आर्थिक निर्भरता

आर्थिक रूप से निर्भर महिलाएँ कई बार राजनीतिक निर्णयों में स्वतंत्र भूमिका नहीं निभा पातीं।

4. राजनीतिक अनुभव की कमी

अनेक महिलाएँ पहली बार राजनीति में आती हैं, इसलिए अनुभव की कमी उनके लिए चुनौती बनती है।

5. पारिवारिक हस्तक्षेप

कई स्थानों पर महिला प्रतिनिधियों के स्थान पर उनके पति या परिवार के सदस्य निर्णय लेते हैं, जिसे सामान्यतः "सरपंच पति" संस्कृति कहा जाता है।

सुधार हेतु सुझाव

1. महिलाओं को राजनीतिक प्रशिक्षण दिया जाए।
2. महिला शिक्षा को बढ़ावा दिया जाए।
3. महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाया जाए।
4. पंचायत स्तर पर महिला नेतृत्व विकास कार्यक्रम चलाए जाएँ।
5. महिलाओं को निर्णय लेने की स्वतंत्रता प्रदान की जाए।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता ग्रामीण लोकतंत्र को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। महिलाओं ने शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, महिला सशक्तिकरण तथा सामाजिक न्याय के क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान दिया है। यद्यपि उनके सामने कई सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चुनौतियाँ मौजूद हैं, फिर भी उनकी सक्रिय भागीदारी ग्रामीण विकास को नई दिशा प्रदान कर रही है। यदि महिलाओं को उचित शिक्षा, प्रशिक्षण और स्वतंत्र वातावरण उपलब्ध कराया जाए, तो वे पंचायत समिति के माध्यम से समाज एवं राष्ट्र के विकास में और अधिक प्रभावी योगदान दे सकती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, आर. बी. - भारत में पंचायती राज व्यवस्था, जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
2. शर्मा, बी. डी. - पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास, नई दिल्लीः रावत पब्लिकेशन।
3. यादव, वीरेन्द्र सिंह - भारत में स्थानीय स्वशासन, जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
4. अग्रवाल, आर. सी. - भारतीय संविधान एवं शासन व्यवस्था, नई दिल्लीः एस. चन्द एण्ड कम्पनी।
5. चौधरी, पी. आर. - ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज, जयपुरः कॉलेज बुक डिपो।
6. भारत सरकार, 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992।
7. भारत सरकार, पंचायती राज मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट (विभिन्न वर्ष)।
8. राजस्थान सरकार, राजस्थान पंचायती राज अधिनियम, 1994।
9. ओझा, एम. एल. - महिला सशक्तिकरण एवं स्थानीय शासन, जयपुर : पॉइंटर पब्लिशर्स।
10. कुमारी, रेखा - पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं की भूमिका, नई दिल्लीः अवध पब्लिशिंग।
11. National Commission for Women & Women in Panchayati Raj Institutions, New Delhi
12. Ministry of Panchayati Raj, Government of India

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

जातिवाद और वर्गीय भेदभाव के कारण पंजाब में ईसाई धर्म का प्रसार : एक आलोचनात्मक विश्लेषण

कमल
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

सारांश

पंजाब में जातिवाद और वर्गीय भेदभाव के संदर्भ में ईसाई धर्म का प्रसार एक जटिल सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में उभरता है, जिसने राज्य की धार्मिक संरचना और सामाजिक संबंधों को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। यह शोध पत्र पंजाब में व्याप्त जातिगत असमानताओं, वर्गीय शोषण और सामाजिक बहिष्कार की पृष्ठभूमि में ईसाई धर्म के प्रसार का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि किस प्रकार दलित और वंचित समुदायों ने सामाजिक अपमान, आर्थिक असुरक्षा और धार्मिक भेदभाव से मुक्ति पाने के लिए ईसाई धर्म को एक वैकल्पिक सामाजिक और धार्मिक संरचना के रूप में अपनाया।

पंजाब में जातिवाद और वर्गीय असमानता ने विशेष रूप से दलित समुदायों को शिक्षा, भूमि स्वामित्व, सामाजिक सम्मान और धार्मिक भागीदारी से वंचित रखा। ऐसे संदर्भ में ईसाई धर्म ने समानता, मानवीय गरिमा और आध्यात्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों के माध्यम से इन समुदायों को आकर्षित किया। ईसाई मिशनरी संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालयों, अस्पतालों और सामाजिक सेवा संगठनों ने दलित समुदायों को शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएँ और सामाजिक सशक्तिकरण के अवसर प्रदान किए, जिससे ईसाई धर्म के प्रसार को गति मिली।

हालाँकि, यह अध्ययन यह भी स्पष्ट करता है कि ईसाई धर्म का प्रसार केवल सामाजिक न्याय और समानता की आकांक्षा तक सीमित नहीं रहा। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश साम्राज्य और मिशनरी गतिविधियों ने इस प्रक्रिया को सांस्कृतिक और राजनीतिक रणनीति के रूप में भी प्रभावित किया। परिणामस्वरूप, ईसाई धर्म का प्रसार सामाजिक आंदोलन के साथ-साथ औपनिवेशिक हस्तक्षेप और सांस्कृतिक परिवर्तन का रूप भी ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त, ईसाई धर्म के प्रसार ने पंजाब में सांस्कृतिक अस्मिता और धार्मिक पहचान से जुड़े प्रश्नों को भी जन्म दिया। धर्म परिवर्तन के पश्चात अनेक समुदायों को नई सामाजिक पहचान प्राप्त हुई, किंतु साथ ही उन्हें सामाजिक बहिष्कार, धार्मिक विरोध और सांस्कृतिक विच्छेदन का भी सामना करना पड़ा। इससे यह स्पष्ट होता है कि जातिवाद और वर्गीय भेदभाव की संरचनाएँ धर्म परिवर्तन के बावजूद पूरी तरह समाप्त नहीं हुईं।

अध्ययन के निष्कर्ष यह दर्शाते हैं कि पंजाब में ईसाई धर्म का प्रसार केवल धार्मिक विस्तार की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह गहरी सामाजिक असमानताओं, ऐतिहासिक परिस्थितियों और सांस्कृतिक संघर्षों से जुड़ा हुआ है। अतः जातिवाद और वर्गीय भेदभाव के उन्मूलन के लिए केवल धर्म परिवर्तन पर्याप्त नहीं है; इसके लिए सामाजिक समावेशन, राजनीतिक सशक्तिकरण और संरचनात्मक सुधारों की आवश्यकता है। यह शोध ईसाई धर्म के प्रसार को एक व्यापक सामाजिक संघर्ष

और ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में समझने का प्रयास करता है।

प्रमुख शब्द : जातिवाद, वर्गीय भेदभाव, दलित समुदाय, सामाजिक बहिष्कार, मिशनरी संस्थाएँ, सांस्कृतिक अस्मिता, धार्मिक परिवर्तन, सामाजिक न्याय।

परिचय

जातिवाद भारतीय समाज की एक गहरी जड़ें जमाई हुई सामाजिक संरचना है, जिसने सदियों से सामाजिक संबंधों, आर्थिक अवसरों और धार्मिक व्यवहारों को प्रभावित किया है। यह जन्म आधारित वर्गीकरण पर आधारित व्यवस्था समाज में व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति, अधिकार और अवसरों को पूर्वनिर्धारित करती है। यद्यपि जातिवाद की वैचारिक उत्पत्ति प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था से जोड़ी जाती है, किंतु समय के साथ यह केवल सामाजिक भेदभाव तक सीमित नहीं रहा। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक असमानताएँ भी उत्पन्न हुईं, जिनका प्रभाव भारत के विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों पर व्यापक रूप से पड़ा। उच्च जातियों को संपत्ति, राजनीतिक सत्ता और सामाजिक सम्मान में अधिक अवसर प्राप्त थे, जबकि दलित और निम्न जातियों को भूमिहीन कृषि श्रमिक, मजदूर और हाशिए पर रहने वाले समुदाय के रूप में सीमित रखा गया। परिणामस्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार तक उनकी पहुँच प्रतिबंधित रही, जिससे सामाजिक असमानता और गहरी हुई।

पंजाब को अक्सर ऐसा क्षेत्र माना जाता है, जहाँ सिख धर्म की स्थापना ने समानता, मानव गरिमा और जातिविरोधी चेतना को वैचारिक आधार प्रदान किया। गुरु नानक और अन्य सिख गुरुओं के उपदेशों में जातिवाद के खिलाफ समानता और सामाजिक न्याय का संदेश स्पष्ट है। इसके बावजूद, ऐतिहासिक और सामाजिक विश्लेषण यह दिखाते हैं कि पंजाब में जातिवाद पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। विशेष रूप से ग्रामीण पंजाब में भूमि स्वामित्व, कृषि उत्पादन और राजनीतिक सत्ता पर उच्च जातियों का प्रभुत्व रहा। दलित और निम्न जातियों के लिए शिक्षा, संसाधन और सामाजिक सम्मान तक पहुँच सीमित रही। शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के अवसर असमान रूप से वितरित हुए, जिससे दलित और पिछड़े वर्गों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति कमजोर बनी। सांस्कृतिक और धार्मिक स्तर पर भी इन्हें मुख्यधारा से अलग रखा गया, जिससे उनकी पहचान और गरिमा पर प्रभाव पड़ा।

इसी सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पंजाब में ईसाई धर्म के प्रसार को समझा जा सकता है। जातिवाद और वर्गीय भेदभाव से पीड़ित दलित समुदायों के लिए ईसाई धर्म समानता, मानवीय गरिमा और आध्यात्मिक स्वतंत्रता का प्रतीक बनकर उभरा। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में मिशनरी गतिविधियों ने इस प्रक्रिया को गति दी। मिशनरी संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालयों ने बच्चों को शिक्षा प्रदान की, अस्पतालों और स्वास्थ्य केंद्रों ने जीवन स्तर में सुधार किया, और सामाजिक सेवा केंद्रों ने रोजगार और कौशल विकास के अवसर उपलब्ध कराए। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप ईसाई धर्म का प्रसार दलित समुदायों के बीच तेजी से हुआ। हालाँकि, ईसाई धर्म का प्रसार केवल सामाजिक न्याय और समानता की आकांक्षा का परिणाम नहीं था। आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक ब्रिटिश प्रशासन और मिशनरी गतिविधियों ने इसे सांस्कृतिक और राजनीतिक रणनीति के रूप में भी प्रभावित किया। मिशनरी गतिविधियाँ शिक्षा और स्वास्थ्य के माध्यम से सामाजिक सुधार का प्रयास करती दिखीं, लेकिन इन्हें कभी-कभी सांस्कृतिक हस्तक्षेप या धार्मिक दबाव के रूप में भी देखा गया। सिख और हिंदू समुदायों में इसे धार्मिक प्रतिस्पर्धा और सामाजिक तनाव का कारण माना गया।

पंजाब में ईसाई धर्म का प्रसार एक बहुआयामी और जटिल सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें जातिवाद, वर्गीय असमानता, सामाजिक मुक्ति की आकांक्षा और औपनिवेशिक प्रभाव गहराई से जुड़े हैं। ईसाई धर्म ने दलित समुदाय को सामाजिक सुधार और समानता का विकल्प प्रदान किया, लेकिन यह जातिवाद और सामाजिक असमानताओं के पूर्ण समाधान के रूप में सीमित रहा।

अतः यह अध्ययन ईसाई धर्म के प्रसार को केवल धार्मिक विस्तार के रूप में नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में समझने का प्रयास करता है। इस आलोचनात्मक दृष्टि से यह प्रश्न भी उठता है कि क्या धर्मांतरण वास्तव में सामाजिक असमानताओं को समाप्त करता है, या इसे केवल नए रूप में प्रस्तुत करता है।

जातिवाद और वर्गीय भेदभाव : पंजाब में सामाजिक संरचना का आलोचनात्मक मूल्यांकन

पंजाब में जातिवाद और वर्गीय भेदभाव का इतिहास अत्यंत प्राचीन, बहुस्तरीय और जटिल रहा है। यह केवल सामाजिक परंपरा या सांस्कृतिक विरासत तक सीमित नहीं रहा, बल्कि आर्थिक संसाधनों के नियंत्रण, भूमि स्वामित्व और राजनीतिक सत्ता की संरचनाओं से गहराई से जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्रीय अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि पंजाब में जाति की प्रकृति कर्मकांड आधारित न होकर मुख्यतः भौतिक और संरचनात्मक रही है, जहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा और सत्ता का निर्धारण भूमि, उत्पादन संबंधों और आर्थिक नियंत्रण द्वारा किया जाता है। इसी कारण उच्च जातियाँ कृषि भूमि और संसाधनों पर नियंत्रण बनाए रखती हैं, जिससे उनका सामाजिक प्रभुत्व और आर्थिक शक्ति पीढ़ी दर पीढ़ी स्थायी बनी रहती है। इसके विपरीत, दलित और निम्न जातियों के लोग प्रायः भूमिहीन कृषि श्रमिक, अस्थायी मजदूर या असंगठित क्षेत्र में सीमित रोजगार के लिए बाध्य रहते हैं। इस प्रकार की सामाजिक संरचना न केवल व्यक्तिगत स्तर पर भेदभाव को जन्म देती है, बल्कि पूरे समुदायों की सामाजिक गतिशीलता, अवसरों और विकास संभावनाओं को व्यवस्थित रूप से सीमित करती है।[1]

इसी संरचनात्मक असमानता का प्रभाव पंजाब के ग्रामीण और शहरी समाज में भिन्न-भिन्न रूपों में परिलक्षित होता है। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि स्वामित्व और कृषि संसाधनों के असमान वितरण ने उच्च जातियों को सत्ता और निर्णय-निर्माण का स्थायी आधार प्रदान किया है, जबकि दलित समुदाय आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से हाशिए पर बने रहे हैं। ग्रामीण पंजाब में जाति और वर्ग का संबंध इतना घनिष्ठ है कि सामाजिक स्थिति को आर्थिक हैसियत से अलग करके नहीं समझा जा सकता। यहाँ जाति केवल सामाजिक पहचान नहीं, बल्कि आर्थिक निर्भरता और शक्ति-संबंधों की भी सूचक बन जाती है।[2] हालाँकि शहरीकरण, औद्योगिकीकरण और आधुनिक शिक्षा के विस्तार को अक्सर सामाजिक समानता की दिशा में प्रगति के रूप में देखा जाता है, किंतु पंजाब के संदर्भ में यह प्रक्रिया जातिगत असमानताओं को पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाई है। शहरी क्षेत्रों में भी उच्च जातियाँ शिक्षा, स्वास्थ्य और संगठित रोजगार के बेहतर अवसरों तक अपेक्षाकृत सहज पहुँच बनाए रखती हैं, जबकि दलित और पिछड़े वर्ग इन अवसरों से अपेक्षाकृत वंचित रहते हैं। इस प्रकार ग्रामीण असमानताओं का स्वरूप शहरी संदर्भ में बदल अवश्य जाता है, किंतु उनकी मूल संरचना बनी रहती है।[3]

इस सामाजिक संरचना को केवल आर्थिक असमानता तक सीमित करके नहीं समझा जा सकता, क्योंकि जातिवाद मानसिक, सांस्कृतिक और प्रतीकात्मक पूर्वाग्रहों द्वारा भी निरंतर पोषित होता है। सामाजिक व्यवहार, पारिवारिक संरचनाएँ, विवाह की प्रथाएँ, धार्मिक अनुष्ठान और सांस्कृतिक अधिकारों में उच्च जातियों का प्रभुत्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। दलित और निम्न जातियों को न केवल सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता है, बल्कि उन्हें अपनी सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक सम्मान बनाए रखने के लिए भी निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। इस संदर्भ में जाति एक बहुआयामी सामाजिक संरचना के रूप में उभरती है, जो आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में एक साथ सक्रिय रहती है; यही कारण है कि जातिवाद केवल भौतिक वंचना नहीं, बल्कि सामाजिक मान्यता के निषेध और प्रतीकात्मक हिंसा का भी रूप ले लेता है।[4]

पंजाब की सामाजिक संरचना को समझने में सिख धर्म की भूमिका भी महत्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि इसकी स्थापना को प्रायः जातिविरोधी आंदोलन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सिख गुरुओं द्वारा समानता, श्रम और मानव गरिमा पर दिए गए बल के बावजूद सामाजिक यथार्थ यह दर्शाता है कि जातिगत असमानता और वर्गीय भेदभाव पूरी तरह समाप्त नहीं हुए। जाट समुदाय भूमि-स्वामी वर्ग के रूप में न केवल आर्थिक शक्ति रखता है, बल्कि सामाजिक निर्णयों, पंचायतों और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में भी केंद्रीय भूमिका निभाता है। इसके विपरीत, दलित समुदायों को भूमि अधिकारों और सत्ता

संरचनाओं से लंबे समय तक वंचित रखा गया, जिससे सामाजिक असमानता और अधिक गहरी हुई।[5]

इन संरचनात्मक असमानताओं का सीधा प्रभाव शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे मूलभूत क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है। उच्च जातियों के बच्चे बेहतर शैक्षणिक संस्थानों, निजी विद्यालयों और उच्च शिक्षा के अवसरों तक अपेक्षाकृत आसान पहुँच रखते हैं, जबकि दलित और पिछड़े वर्गों के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के अवसर सीमित रूप में प्राप्त होते हैं। शिक्षा में यह असमानता सामाजिक गतिशीलता को बाधित करती है और सामाजिक वंचना को पीढ़ी दर पीढ़ी पुनः उत्पन्न करती है। इसी प्रकार, स्वास्थ्य सेवाओं तक असमान पहुँच के कारण दलित समुदाय अधिक बीमारियों, आर्थिक असुरक्षा और जीवन प्रत्याशा में कमी का सामना करता है।[6]

यदि इस स्थिति का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि पंजाब में जातिवाद केवल सामाजिक असमानता का परिणाम नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक, मानसिक और वैचारिक संरचनाओं द्वारा निरंतर पुनरुत्पादित होता है। यद्यपि अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण, भूमि अधिकार और शिक्षा से संबंधित नीतिगत सुधार लागू किए गए हैं, फिर भी इन सुधारों का प्रभाव सीमित और असमान रहा है। परिणामस्वरूप जातिगत पदानुक्रम में अपेक्षित परिवर्तन नहीं हो सका और सामाजिक विषमता बनी रही।[7]

इन परिस्थितियों में उत्पीड़ित वर्गों ने केवल राज्य-नीतियों पर निर्भर न रहते हुए धर्मांतरण, सामाजिक आंदोलनों और शिक्षा को प्रतिरोध तथा सशक्तिकरण के माध्यम के रूप में अपनाया। इन प्रयासों के माध्यम से उन्हें वैकल्पिक सामाजिक पहचान और सीमित स्तर पर सम्मान प्राप्त हुआ, यद्यपि संरचनात्मक असमानताओं को पूरी तरह समाप्त करना अभी भी एक चुनौती बना हुआ है।[8]

अतः यह स्पष्ट होता है कि पंजाब में जातिवाद और वर्गीय भेदभाव केवल ऐतिहासिक या सांस्कृतिक घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि वे आज भी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढांचे में गहराई से अंतर्निहित हैं।

समग्र आलोचनात्मक मूल्यांकन यह दर्शाता है कि जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष केवल धार्मिक सुधारों या कानूनी उपायों तक सीमित नहीं रह सकता, बल्कि इसके लिए सामाजिक, मानसिक और सांस्कृतिक स्तर पर समानांतर तथा दीर्घकालिक प्रयास अनिवार्य हैं।

ईसाई मिशनरी संस्थाओं की भूमिकारू सामाजिक सुधार या सांस्कृतिक हस्तक्षेप?

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान पंजाब में ईसाई मिशनरी संस्थाओं ने शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुधार के क्षेत्रों में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। विशेष रूप से दलित और पिछड़े वर्ग, जिन्हें पारंपरिक सामाजिक संरचना और जातिगत भेदभाव के कारण शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक गतिशीलता के अवसर नहीं मिल पा रहे थे, मिशनरी गतिविधियों के प्रमुख लक्ष्य बने। मिशनरी विद्यालयों ने बच्चों और युवाओं को साक्षरता, आधुनिक शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान किया, जबकि अस्पतालों और स्वास्थ्य केंद्रों ने प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं, रोग निवारण, स्वच्छता और पोषण पर ध्यान केंद्रित किया। इस प्रकार मिशनरी संस्थाएँ वंचित समुदायों के सामाजिक और आर्थिक सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरीं।[9]

किन्तु जैसे-जैसे मिशनरी गतिविधियों का विस्तार हुआ, वैसे-वैसे उनकी भूमिका को लेकर आलोचनात्मक प्रश्न भी उठने लगे। यह बहस उभरने लगी कि क्या मिशनरी संस्थाओं की सक्रियता केवल मानव सेवा और सामाजिक सुधार तक सीमित थी, या इसके पीछे धार्मिक उद्देश्यों और धर्मांतरण की रणनीति भी निहित थी। कई इतिहासकारों का मानना है कि मिशनरी संस्थाओं ने शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं को एक प्रभावी माध्यम के रूप में उपयोग कर ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार को बढ़ावा दिया। मिशनरी स्कूलों के पाठ्यक्रम, अनुशासन और शिक्षण पद्धतियाँ केवल आधुनिक ज्ञान तक सीमित नहीं थीं, बल्कि उनमें ईसाई नैतिक मूल्यों, धार्मिक प्रतीकों और बाइबिल शिक्षाओं का समावेश भी किया गया, जिससे धर्मांतरण की प्रक्रिया को वैचारिक समर्थन प्राप्त हुआ।[10]

इस आलोचनात्मक दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए कुछ विद्वानों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि मिशनरी संस्थाओं ने सामाजिक सुधार और धार्मिक रूपांतरण को एक-दूसरे से जोड़कर प्रस्तुत किया। शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा जैसी सुविधाओं को आकर्षक बनाकर वंचित समुदायों को ईसाई धर्म अपनाने की दिशा में प्रेरित किया गया। यह रणनीति धार्मिक दृष्टि से मिशनरियों के लिए अपेक्षाकृत सफल रही, जबकि सामाजिक स्तर पर शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार से जीवन स्तर में भी सुधार हुआ। इस प्रकार मिशनरी गतिविधियाँ एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के रूप में सामने आती हैं, जहाँ सामाजिक कल्याण और धार्मिक प्रचार को स्पष्ट रूप से अलग नहीं किया जा सकता।[11]

फिर भी, यदि सामाजिक सुधार के दृष्टिकोण से देखा जाए तो मिशनरी संस्थाओं का योगदान कई मायनों में सकारात्मक और महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। दलित और पिछड़े वर्गों को समानता, सामाजिक सम्मान और आर्थिक अवसर प्रदान करने का प्रयास इन संस्थाओं के कार्यों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मिशनरी स्कूलों और कॉलेजों से शिक्षित दलित युवाओं को सरकारी और निजी क्षेत्रों में रोजगार के बेहतर अवसर प्राप्त हुए, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति और सामाजिक हैसियत में सुधार हुआ। साथ ही, स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार ने जीवन प्रत्याशा, शिशु मृत्यु दर और सामुदायिक स्वास्थ्य में सुधार किया, जिससे दलित समुदाय सामाजिक परिवर्तन के लिए अधिक सक्षम बन सका।[12]

इसके बावजूद, मिशनरी संस्थाओं की भूमिका को लेकर विवाद पूरी तरह समाप्त नहीं होता। आलोचनात्मक विश्लेषण यह भी संकेत देता है कि मिशनरी गतिविधियाँ सामाजिक न्याय से अधिक सांस्कृतिक उपनिवेशवाद और धार्मिक वर्चस्व की परियोजना का हिस्सा थीं। स्थानीय संस्कृति, धार्मिक परंपराओं और सामाजिक रीति-रिवाजों पर ईसाई मूल्यों के प्रभाव को कई विद्वानों ने सांस्कृतिक हस्तक्षेप के रूप में देखा। इस दृष्टि से मिशनरी संस्थाएँ औपनिवेशिक सत्ता संरचना का एक वैचारिक उपकरण बन जाती हैं, जिसने पारंपरिक सामाजिक ढाँचों और सांस्कृतिक पहचान को चुनौती दी।[13]

इस सांस्कृतिक हस्तक्षेप का एक और महत्वपूर्ण परिणाम यह रहा कि मिशनरी गतिविधियों ने समाज में नए प्रकार के सामाजिक और धार्मिक विभाजन उत्पन्न किए। दलित और पिछड़े वर्गों ने शिक्षा, रोजगार और सामाजिक सम्मान प्राप्त करने के लिए धर्म परिवर्तन को एक रणनीति के रूप में अपनाया, किंतु इसके परिणामस्वरूप पारंपरिक समाज में धार्मिक और सांस्कृतिक तनाव भी बढ़ा। सिख और हिंदू समुदायों ने मिशनरी गतिविधियों को अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान के लिए खतरे के रूप में देखा, जिससे विभिन्न समुदायों के बीच अविश्वास और दूरी उत्पन्न हुई।[14]

इस प्रकार समग्र रूप से देखा जाए तो पंजाब में ईसाई मिशनरी संस्थाओं की भूमिका बहुआयामी, विरोधाभासी और जटिल रही है। एक ओर, उन्होंने सामाजिक सुधार, शिक्षा के प्रसार और दलित सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया, वहीं दूसरी ओर उनके धार्मिक और सांस्कृतिक उद्देश्य निरंतर विवाद और आलोचना का विषय बने रहे। आलोचनात्मक साहित्य यह संकेत देता है कि मिशनरी गतिविधियों को न तो केवल निस्वार्थ सामाजिक सेवा के रूप में और न ही केवल धर्मांतरण की रणनीति के रूप में समझा जा सकता है। वे सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक हस्तक्षेप और औपनिवेशिक राजनीति के परस्पर अंतर्संबंध का परिणाम थीं।[15]

धर्म परिवर्तन : सामाजिक मुक्ति या नई पहचान का साधन?

पंजाब में दलित और पिछड़े वर्गों के लिए धर्म परिवर्तन केवल धार्मिक निर्णय नहीं रहा, बल्कि यह सामाजिक मुक्ति, आत्म-सम्मान और नई सामाजिक पहचान प्राप्त करने की एक महत्वपूर्ण रणनीति के रूप में उभरा है। जातिवाद और वर्गीय भेदभाव से ग्रस्त सामाजिक संरचना में दलित समुदाय लंबे समय तक सामाजिक बहिष्कार, अपमान और संरचनात्मक असमानताओं का शिकार रहा। ऐसी स्थिति में पारंपरिक सामाजिक ढाँचे के भीतर सम्मान और समानता की संभावनाएँ अत्यंत सीमित थीं। इसी संदर्भ में ईसाई धर्म समानता, मानवीय गरिमा और आध्यात्मिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों के माध्यम से उत्पीड़ित समुदायों के लिए एक वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था के रूप में सामने आया, जिसने उन्हें पारंपरिक जातिगत पदानुक्रम से बाहर निकलने का अवसर प्रदान किया।[16]

इस वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था की प्रभावशीलता केवल वैचारिक स्तर तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसके ठोस सामाजिक और आर्थिक परिणाम भी सामने आए। धर्मांतरण ने दलित समुदायों को केवल धार्मिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक स्तर पर भी सशक्त किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित विद्यालयों, अस्पतालों और सामाजिक सेवा संस्थाओं ने शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के नए अवसर प्रदान किए, जो पारंपरिक हिंदू और सिख सामाजिक संरचनाओं में सीमित या अनुपलब्ध थे। शिक्षा के माध्यम से दलित युवाओं को सामाजिक गतिशीलता और आत्मनिर्भरता प्राप्त हुई, जबकि स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार ने जीवन स्तर और सामाजिक सहभागिता को बढ़ाया। इस प्रकार धर्मांतरण सामाजिक उत्थान और संरचनात्मक परिवर्तन का एक प्रभावी माध्यम बनता दिखाई देता है।[17]

हालाँकि इस प्रक्रिया में मिशनरी संस्थाओं की भूमिका निर्णायक रही, फिर भी आलोचनात्मक दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है कि उनकी गतिविधियाँ केवल मानव सेवा तक सीमित नहीं थीं। कई विद्वानों का तर्क है कि शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के माध्यम से धर्मांतरण को बढ़ावा देना एक रणनीतिक कदम था, जिसके द्वारा मिशनरियों ने धार्मिक प्रभाव के साथ-साथ सांस्कृतिक हस्तक्षेप भी किया। मिशनरी स्कूलों और संस्थानों में ईसाई मूल्यों, नैतिकताओं और धार्मिक प्रतीकों का समावेश इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सामाजिक सेवा और धर्म प्रचार एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए थे, जिससे धर्मांतरण की प्रक्रिया को वैचारिक और संस्थागत समर्थन मिला।[18]

धर्मांतरण के सामाजिक परिणामों को समझने के लिए उसकी पहचानात्मक भूमिका पर ध्यान देना आवश्यक है। धर्मांतरण के माध्यम से दलित समुदायों को एक नई सामूहिक पहचान प्राप्त हुई, जिसमें जातिगत भेदभाव को औपचारिक रूप से अस्वीकार किया गया। ईसाई धर्म के भीतर समानता और भाईचारे की अवधारणा ने दलितों को सामाजिक सम्मान और आत्म-सम्मान की अनुभूति कराई। इस नई पहचान ने उन्हें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अधिक सक्रिय भागीदारी का अवसर प्रदान किया, जिससे उनकी पारंपरिक सामाजिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया।[19]

इसके बावजूद, आलोचनात्मक साहित्य यह भी स्पष्ट करता है कि धर्म परिवर्तन के बाद भी दलित समुदायों को सामाजिक बहिष्कार, पारिवारिक विरोध और सांस्कृतिक अस्वीकृति का सामना करना पड़ा। कई स्थानों पर पारंपरिक समाज ने धर्मांतरित समुदायों को संदेह और विरोध की दृष्टि से देखा, जिसके परिणामस्वरूप उनकी सामाजिक स्थिति पूरी तरह सुरक्षित नहीं हो सकी। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्मांतरण जातिवाद और वर्गीय असमानता का स्थायी समाधान नहीं बन सका, क्योंकि सामाजिक मानसिकता और संरचनात्मक पूर्वाग्रहों में परिवर्तन अपेक्षाकृत धीमी गति से हुआ।[20]

सांस्कृतिक दृष्टि से भी धर्मांतरण के प्रभाव जटिल और बहुआयामी रहे। ईसाई धर्म अपनाने के साथ-साथ समुदायों को अपनी पारंपरिक धार्मिक प्रथाओं, अनुष्ठानों और सांस्कृतिक प्रतीकों से दूरी बनानी पड़ी, जिससे कई बार सांस्कृतिक अस्मिता और पहचान का संकट उत्पन्न हुआ। यह संकट विशेष रूप से उन क्षेत्रों में गहरा रहा जहाँ सिख धर्म और पंजाबी संस्कृति की ऐतिहासिक जड़ें मजबूत थीं। सिख और हिंदू समुदायों ने ईसाई धर्म के प्रसार को अपनी सांस्कृतिक धरोहर के लिए चुनौती के रूप में देखा, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक तनाव और सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा की स्थिति उत्पन्न हुई।[21]

इस जटिलता को और अधिक गहरा करने वाला तत्व औपनिवेशिक शासन का हस्तक्षेप रहा। औपनिवेशिक शासन और मिशनरी गतिविधियों ने धर्मांतरण को केवल धार्मिक परिवर्तन नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक पुनर्संरचना की प्रक्रिया के रूप में भी प्रभावित किया। ब्रिटिश प्रशासन ने कई अवसरों पर मिशनरी संस्थाओं को संरक्षण प्रदान किया, जिससे धर्मांतरण की प्रक्रिया को संस्थागत समर्थन मिला। परिणामस्वरूप धर्मांतरण सामाजिक मुक्ति के साथ-साथ औपनिवेशिक प्रभाव और सांस्कृतिक परिवर्तन से भी जुड़ गया, जिसने इसकी प्रकृति को और अधिक जटिल बना दिया।[22]

अतः समग्र रूप से देखा जाए तो पंजाब में धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया बहुआयामी और ऐतिहासिक रूप से जटिल रही है। यह न तो केवल धार्मिक आस्था का परिवर्तन है और न ही मात्र एक सामाजिक रणनीति; बल्कि यह उत्पीड़ित वर्गों के लिए सम्मान, समानता और नई पहचान की खोज का एक महत्वपूर्ण साधन रही है। आलोचनात्मक दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि धर्मांतरण ने सामाजिक सशक्तिकरण के अवसर अवश्य प्रदान किए, किंतु यह जातिवाद और वर्गीय असमानता का

पूर्ण और स्थायी समाधान नहीं बन सका। इसके लिए सामाजिक मानसिकताओं, सांस्कृतिक संरचनाओं और नीतिगत ढाँचों में व्यापक और दीर्घकालिक परिवर्तन आवश्यक हैं।[23]

सांस्कृतिक और धार्मिक विवादरू आलोचनात्मक दृष्टि से प्रभाव और सीमाएँ

पंजाब में ईसाई धर्म के प्रसार ने जहाँ एक ओर दलित और वंचित समुदायों को सामाजिक सम्मान, शिक्षा और आत्म-सशक्तिकरण के अवसर प्रदान किए, वहीं दूसरी ओर इस प्रक्रिया ने पारंपरिक सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान के क्षेत्र में गहरे विवाद और सामाजिक तनाव भी उत्पन्न किए। धर्मांतरण को उत्पीड़ित समुदायों के लिए सामाजिक मुक्ति और समानता का साधन माना गया, किंतु इस प्रक्रिया ने पारंपरिक जातिगत और धार्मिक संरचनाओं में गहरे बदलाव को चुनौती दी, जिसे समाज के सभी वर्गों ने सहज रूप से स्वीकार नहीं किया।

अनेक विद्वानों का मानना है कि धर्मांतरण केवल आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक संघर्ष और सामाजिक पहचान के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया भी है। धार्मिक परिवर्तन के साथ सामाजिक सत्ता, सामूहिक स्मृति और सांस्कृतिक वर्चस्व के प्रश्न जुड़े होते हैं, जिससे पारंपरिक और नव-धर्मांतरित समुदायों के बीच प्रतिस्पर्धा और टकराव उत्पन्न होता है। पंजाब में यह टकराव विशेष रूप से सिख और हिंदू समुदायों तथा ईसाई धर्म अपनाने वाले दलित समुदायों के बीच स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।[24]

धर्मांतरण अक्सर सामाजिक विभाजन और पहचान संकट को जन्म देता है, क्योंकि धार्मिक पहचान सामूहिक संस्कृति, सामाजिक व्यवहार और नैतिक मूल्यों से गहराई से जुड़ी होती है। पंजाब में ईसाई धर्म का प्रसार बहुसंख्यक सिख समुदाय द्वारा अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक अस्मिता के लिए एक संभावित चुनौती के रूप में देखा गया, जिससे समुदायों के बीच भावनात्मक दूरी और सामाजिक अविश्वास बढ़ा।[25]

धर्मांतरण की प्रक्रिया ने केवल व्यक्तिगत पहचान को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि सामूहिक सांस्कृतिक नियमों, धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक व्यवहार में भी परिवर्तन का दबाव डाला। जातिगत और सांस्कृतिक पहचानें पारंपरिक समाज की स्थिरता का आधार होती हैं, और जब ये पहचानें बदलती हैं तो सामाजिक संतुलन और सामुदायिक सुरक्षा की भावना प्रभावित होती है। पंजाब में धर्मांतरण ने पारंपरिक सामाजिक तालमेल और सांस्कृतिक निरंतरता को चुनौती दी।[26]

मिशनरी गतिविधियों की कार्यप्रणाली भी धार्मिक विवाद का प्रमुख कारण रही। कई शोधकर्ताओं का मानना है कि मिशनरी संस्थाओं ने शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के माध्यम से ईसाई सांस्कृतिक मूल्यों और धार्मिक प्रतीकों को बढ़ावा दिया। इस प्रक्रिया को कई पारंपरिक समुदायों ने सांस्कृतिक हस्तक्षेप और धार्मिक दबाव के रूप में देखा, जिससे धार्मिक प्रतिस्पर्धा और असहिष्णुता की स्थिति बनी।[27]

सांस्कृतिक विवादों की एक सीमा यह है कि धर्मांतरण के बाद भी सामाजिक पूर्वाग्रह और जातिगत विभाजन पूरी तरह समाप्त नहीं हुए। यद्यपि ईसाई धर्म समानता और जातिविरोधी सिद्धांतों को अपनाता है, फिर भी सामाजिक व्यवहार और सामुदायिक संबंधों में जातिगत मानसिकता लंबे समय तक बनी रहती है। धार्मिक परिवर्तन से सामाजिक संरचनाओं में गहरा और स्थायी परिवर्तन एक धीमी प्रक्रिया होती है, जिसे केवल धार्मिक पहचान बदलने से तुरंत प्राप्त नहीं किया जा सकता।

धर्मांतरण ने राजनीतिक और सामुदायिक तनावों को भी जन्म दिया। यह केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक निर्णय नहीं, बल्कि राजनीतिक पहचान और सामाजिक संभावनाओं के पुनर्गठन का माध्यम बन गया। पंजाब में ईसाई धर्म के प्रसार ने धार्मिक अल्पसंख्यकों, राज्य नीति और बहुसंख्यक समुदायों के बीच जटिल राजनीतिक समीकरण उत्पन्न किए, जिससे सामाजिक समरसता पर प्रभाव पड़ा।[28]

इन सभी आलोचनात्मक दृष्टिकोणों के आधार पर स्पष्ट होता है कि पंजाब में ईसाई धर्म का प्रसार केवल धार्मिक विस्तार की प्रक्रिया नहीं है। यह सांस्कृतिक असंतुलन, पहचान संघर्ष और सामाजिक तनाव से जुड़ी एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है। जहाँ एक ओर इसने उत्पीड़ित समुदायों को सामाजिक अवसर और नई पहचान प्रदान की, वहीं दूसरी ओर पारंपरिक

सांस्कृतिक ढाँचे, सामुदायिक संबंधों और सामाजिक समरसता को चुनौती दी। अतः धर्मांतरण को न तो पूरी तरह मुक्ति का साधन माना जा सकता है और न ही केवल सांस्कृतिक हस्तक्षेप का उपकरण; बल्कि इसे सामाजिक परिवर्तन की एक जटिल, बहुआयामी और विरोधाभासी प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है।[29]

निष्कर्ष

इस शोध पत्र के आलोचनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पंजाब में जातिवाद और वर्गीय भेदभाव केवल सामाजिक असमानता का परिणाम नहीं हैं, बल्कि यह गहरी सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक संरचनाओं से गहराई से जुड़ा हुआ है। उच्च जातियों का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व दलित और पिछड़े वर्गों को लंबे समय तक उत्पीड़न, बहिष्कार और अवसरों की असमानता का सामना करने के लिए मजबूर करता रहा। इस सामाजिक संरचना के कारण उत्पीड़ित वर्गों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सामाजिक प्रतिनिधित्व जैसे बुनियादी अवसर सीमित रहे, और जातिवाद केवल आर्थिक या सामाजिक असमानता तक सीमित न रहकर मानसिकता, सांस्कृतिक पूर्वाग्रह और सामाजिक मान्यताओं में भी व्याप्त रहा।[30]

पंजाब में दलित और पिछड़े वर्गों द्वारा ईसाई धर्म अपनाने की प्रक्रिया सामाजिक मुक्ति, आत्म-सम्मान और नई पहचान की खोज के रूप में उभरी। ईसाई धर्म ने समानता, धार्मिक स्वतंत्रता और सामाजिक सम्मान के अवसर प्रदान किए, जिससे उत्पीड़ित समुदायों को अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने और आत्म-सशक्तिकरण की दिशा में कदम बढ़ाने का मार्ग मिला। मिशनरी संस्थाओं ने शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सेवाओं के माध्यम से दलितों तक पहुँच बनाई, जिससे केवल शैक्षिक और स्वास्थ्य लाभ ही नहीं, बल्कि सामाजिक जागरूकता और अधिकारों के प्रति चेतना भी विकसित हुई।[31] इस दृष्टि से मिशनरी संस्थाओं की भूमिका सामाजिक सुधार और सशक्तिकरण में निर्णायक रही।

हालाँकि, आलोचनात्मक दृष्टि यह भी संकेत करती है कि मिशनरी गतिविधियों का उद्देश्य केवल सामाजिक सुधार तक सीमित नहीं था; इसके पीछे धार्मिक रूपांतरण और सांस्कृतिक हस्तक्षेप का एक रणनीतिक पक्ष भी मौजूद था। कई विद्वानों के अनुसार, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन और मिशनरी संस्थाओं ने धर्मांतरण को उत्पीड़ित वर्गों में धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज करने के लिए सामरिक उपकरण के रूप में प्रयोग किया। इस दृष्टिकोण से धर्मांतरण केवल उत्पीड़ित समुदायों की सामाजिक मुक्ति नहीं, बल्कि औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रभाव का भी परिणाम था।

धर्मांतरण के परिणामस्वरूप उत्पीड़ित समुदायों को नई पहचान और आत्म-सम्मान प्राप्त हुए, लेकिन यह पारंपरिक सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं में विवाद और तनाव का कारण भी बना। कई स्थानों पर धर्म परिवर्तन के बावजूद दलित और पिछड़े वर्ग सामाजिक बहिष्कार, पारिवारिक विरोध और सांस्कृतिक अस्वीकृति का सामना करते रहे। यह स्थिति विशेष रूप से उन समुदायों में जटिल रूप में सामने आई, जहाँ सिख और हिंदू धर्म की सांस्कृतिक धारा गहरी रही। अतः धर्मांतरण ने सामाजिक सशक्तिकरण के अवसर प्रदान किए, किन्तु यह हमेशा सामाजिक न्याय और समानता का स्थायी समाधान नहीं बन सका।[32]

अंततः यह निष्कर्ष सामने आता है कि पंजाब में ईसाई धर्म की ओर धर्मांतरण केवल धार्मिक परिवर्तन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक संदर्भों से जुड़ी बहुआयामी प्रक्रिया है। जातिवाद और वर्गीय असमानता जैसी समस्याओं का स्थायी समाधान केवल धर्मांतरण से संभव नहीं है। इसके लिए शिक्षा, सामाजिक समावेशन, राजनीतिक सशक्तिकरण, सांस्कृतिक जागरूकता और सामाजिक मानसिकताओं में परिवर्तन आवश्यक है। धर्मांतरण को सामाजिक संघर्ष, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण और उत्पीड़ित वर्गों के आत्म-सशक्तिकरण की प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए, जबकि दीर्घकालिक सामाजिक न्याय और समानता सुनिश्चित करने के लिए बहुआयामी नीतिगत और सामाजिक सुधार भी जरूरी हैं। इस प्रकार, यह शोध पत्र स्पष्ट करता है कि पंजाब में जातिवाद और वर्गीय भेदभाव के कारण धर्मांतरण की प्रक्रिया जटिल, बहुआयामी और विरोधाभासी रही है। धर्मांतरण उत्पीड़ित वर्गों को अवसर और सशक्तिकरण प्रदान करता है, किंतु

स्थायी सामाजिक न्याय, समानता और सांस्कृतिक संतुलन सुनिश्चित करने के लिए व्यापक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सुधार अनिवार्य हैं।

संदर्भ सूची

1 Singh, K. (2014). *Caste, class and social mobility in Punjab*. Sage Publications.
2 Jodhka, S. S. (2017). *Caste in contemporary India*. Routledge India.
3 Kaur, R., & Singh, J. (2017). Social mobility and caste inequality in Punjab: A study of urban and rural disparities. *Journal of Punjab Studies, 24*(2), 45–67.
4 Thapar, R. (2002). *Early Indian society and caste dynamics*. Oxford University Press.
5 McLeod, W. H. (1997). *The Sikhs: History, religion, and society*. Routledge.
6 Singh, R., & Sharma, P. (2015). *Education, health and Dalit mobility in Punjab*. Punjab University Press.
7 Guru, G., & Shah, G. (2016). *Social exclusion: Essays in caste, religion and gender*. Routledge.
8 Cohn, B. S. (2001). *Colonialism and social structure in India*. Oxford University Press.
9 Laird, M. (1999). *Missionaries and social reform in colonial Punjab*. Oxford University Press.
10 Oddie, G. A. (1991). *Missionaries and India in the nineteenth century*. Routledge.
11 Maxwell, N. (2003). *Colonialism, Christianity, and cultural change in India*. Sage Publications.
12 Gorringe, H. (2008). *Dalit identity and Christianity in India*. Oxford University Press.
13 Bayly, S. (1989). *Rulers, townsmen, and bazaars: North Indian society in the age of British expansion 1770–1870*. Cambridge University Press.
14 Webster, J. C. B. (2009). Punjabi Christians. *Journal of Punjab Studies, 16*(1), 35–56.
15 Dirks, N. B. (2001). *Castes of mind: Colonialism and the making of modern India*. Princeton University Press.
16 Guru, G., & Shah, G. (2016). *Social exclusion: Essays in caste, religion and gender*. Routledge.
17 Dirks, N. B. (2001). *Castes of mind: Colonialism and the making of modern India*. Princeton University Press.
18 Gorringe, H. (2008). *Dalit identity and Christianity in India*. Oxford University Press.
19 Hansen, T. B., & Vaidhyanathan, A. (1997). *Religion and politics in India: Colonial and post-colonial perspectives*. Oxford University Press.
20 O'Hanlon, R., & Washbrook, D. (2010). Religious change and social transformation in colonial Punjab. *Modern Asian Studies, 44*(1), 1–42.
21 McLeod, W. H. (1997). *The Sikhs: History, religion, and society*. Routledge.
22 Cohn, B. S. (2001). *Colonialism and its forms of knowledge: The British in India*. Princeton University Press.
23 Nandy, A. (1998). *Alternative politics in India: Religion, identity and the state*. Oxford University Press.
24 Brass, P. R. (2003). *The production of Hindu-Muslim violence in contemporary India*. University of Washington Press.
25 Fuller, C. J., & Narasimhan, H. (2014). *Competing identities in South Asia: Religion, caste, and language*. Routledge.
26 Thapar, R. (2002). *Early Indian society and caste dynamics*. Oxford University Press.
27 Bayly, S. (1989). *Rulers, townsmen, and bazaars: North Indian society in the age of British expansion 1770–1870*. Cambridge University Press.
28 Hansen, T. B., & Vaidhyanathan, A. (1997). *Religion and politics in India: Colonial and post-colonial*

perspectives. Oxford University Press.
29 Guru, G., & Shah, G. (2016). *Social exclusion: Essays in caste, religion and gender*. Routledge.
30 Singh, G. (2014). *Caste and social inequality in Punjab*. Panjab University Press.
31 Laird, M. (1999). *Missionaries and social reform in colonial Punjab*. Oxford University Press.
32 Maxwell, N. (2003). *Colonialism, Christianity, and cultural change in India*. Sage Publications.
33 O'Hanlon, R., & Washbrook, D. (2010). Religious change and social transformation in colonial Punjab. *Modern Asian Studies, 44*(1), 1–42.

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary &
Multiple Languages Quarterly Research Journal

तेजेंद्र शर्मा की कहानियाँ; एक झांकी

डॉ. रम्या. जी. एस. नायर
सहायक प्राध्यापिका
के.पी.आर.आर्ट्स साइन्स आंड रिसर्च कॉलेज
कोयंबत्तूर, तमिलनाड

"विद्या मित्रं प्रवासेषु, भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं, धर्मो मित्रं मृतस्य च।।"

(अर्थात, प्रवास के समय ज्ञान, घर में पत्नी, बीमारी में दवाई एवं मृत्यु के समय धर्म मित्र के समान होता है।)

'प्रवास' शब्द का अर्थ है विदेश गमन, विदेश यात्रा, घर पर न रहना। किसी दूसरे देश या बेगानी धरती पर वास करने वाला व्यक्ति प्रवासी है। जो लोग भारत छोड़कर विश्व के दूसरे देशों में जा बसे हैं उन्हें प्रवासी भारतीय कहते हैं। ये विश्व के अनेक देशों में फैला हुए है। 48 देशों में रह रहे प्रवासियों की जनसंख्या करीब 2 करोड़ है। इनमें से 11 देशों में 5 लाख से ज्यादा प्रवासी भारतीय वहाँ की औसत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं और वहाँ की आर्थिक व राजनीतिक दशा व दिशा को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यहाँ उनकी आर्थिक, शैक्षणिक व व्यावसायिक दक्षता का आधार काफी मज़बूत है। वे विभिन्न देशों में रहते हैं, अलग भाषा बोलते हैं परंतु वहाँ के विभिन्न क्रियाकलापों में अपनी महती भूमिका भी निभाते हैं।

भारतीय प्रवासियों के अधिकारों की लड़ाई महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रिका से आरंभ किया। ताकि प्रवासी भारतीय दिवस समागम का आयोजन 9 जनवरी 1915 को महात्मा गाँधी के दक्षिण अफ्रीका प्रवास से वापस आने के उपलक्ष्य में 2003 से लगातार प्रत्येक वर्ष मनाया जाता है।

भारतीय मूल के लोग समस्त विश्व में फैले हुए हैं। उन्होंने विदेशों को अपनी कर्मभूमि बनाया है। यह बात नवीन नहीं है प्रवासी साहित्य भी। प्रवासी साहित्य जो पहले उपलब्ध था उससे आज का प्रवासी साहित्य एकदम अलग है। प्रवासी साहित्य का संबंध प्रवासी लोगों द्वारा लिखे साहित्य से है। आजकल साहित्य में कई विमर्श प्रचलित हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श की भांति इधर प्रवासी विमर्श ने भी जगह बनाई है। प्रवासी विमर्श की विशेषता यह है कि इसके अंतर्गत रचनात्मक साहित्य अधिक लिखा गया है। इसके आलोचनात्मक पक्ष पर उतना बल नहीं दिया गया। विदेशी धरती पर भारतीय जीवन मूल्यों से सीधी टकराहट देनेवाले प्रवासी साहित्य ने राजनीति, अर्थ, समाज, उद्योग, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। इसने हिंदी साहित्य को एक अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया।

भारतीय मूल के विदेशों में रहनेवालों के सृजनात्मक लेखन को भारतीय प्रवासी साहित्य कहा जाता है और जिन्होंने हिंदी को केंद्र में रखकर या माध्यम बनाकर या हिंदी में लिखा है वे प्रवासी हिंदी साहित्यकार हैं। प्रवासी हिंदी साहित्य के अंतर्गत कविताएं, उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, एकांकी, महाकाव्य, खंडकाव्य, अनुदित साहित्य, यात्रा वर्णन, आत्मकथा आदि का सृजन हुआ है। प्रवासी साहित्यकारों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। इन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा नीति-मूल्य,

मिथक, इतिहास, सभ्यता के माध्यम से भारतीयता को सुरक्षित रखा। हिंदी को प्रवाहित एवं जिंदा रखा।

प्रवासी हिंदी साहित्यकार ब्रिटेन, अमेरिका, कॉनडा, गुयाना, मॉरिशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद आदि स्थानों को अपनी कार्यभूमि स्वीकार कर साहित्य सृजन करते आए हैं। अतः समकालीन साहित्य जगत में प्रवासी साहित्य अत्यंत संपन्न विधा बनी है। प्रवासी साहित्यकार भी अपनी अलग पहचान बनाकर सृजनरत हैं। ऊपर उद्धृत श्लोक इन प्रवासी साहित्यकारों के संबंध में अक्षरशः सही है। इनके लेखनी से हम विदेशी संस्कृति, रीती-रिवाज़, जीवन-शैली आदि अवगत होते हैं। यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मानवीय संवेदनाओं को देशकाल की मर्यादाएं नहीं होती।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में आधुनिक साहित्य के अंतर्गत प्रवासी हिंदी साहित्य के नाम से एक नए युग का प्रारंभ हुआ। आज हिंदी विश्व की सर्वाधिक बोली जानेवाली तीन भाषाओं में है तो इसका श्रेय उस विशाल प्रवासी समुदाय को भी जाता है, जो भारत से इतर देशों में जाकर बसने के बावजूद हिंदी को अपनाए हुए हैं। इन देशों में रचा जा रहा साहित्य, उस देश के परिवेश से ही हमारा परिचय नहीं कराता, वरन उनकी भाषा से शब्द भी ग्रहण कर रहा है। फलस्वरूप हिंदी का भी एक नया स्वरूप विकसित हो रहा है। अतः प्रवासी साहित्य को अलग करके देखने की बजाए, उसे हिंदी की मुख्यधारा में स्थान दिया जाए।

समकालीन कथा साहित्य में तेजेंद्र शर्मा एक चर्चित नाम है। उनकी कहानियाँ उनके सजग साहित्यकार होने का प्रमाण है। वे परिवेश में से पात्र चुन लेते हैं जो पन्नों पर उनकी लड़ाई लड़ते हैं। विषय वैविध्य और विषयों की सामयिकता तेजेंद्र शर्मा की कहानियों की अन्य विशेषताएँ हैं। कथा साहित्य में शिल्प एवं शैली के स्तर पर जो परिवर्तन हुए हैं, उनकी झलक तेजेंद्र शर्मा की कहानियों में देखने को मिलती है।

प्रवासी हिंदी कहानीकारों में एक उल्लेखनीय नाम है, तेजेंद्र शर्मा जी का। आपका जन्म 21 अक्तूबर 1952 में जगरांव, पंजाब में हुआ। ब्रिटेन में बसे भारतीय मूल के हिंदी कवि, लेखक एवं नाटककार है श्री तेजेंद्र शर्मा। दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में एम.ए तथा कंप्यूटर में डिप्लोमा करने वाले तेजेंद्र शर्मा हिंदी, अंग्रेज़ी, पंजाबी, उर्दू तथा गुजराती भाषाओं का ज्ञान रखते हैं। 'काला सागर', 'ढिबरी टाईट', 'देह की कीमत' जैसे दस से अधिक कहानी संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। आपके कथा संसार में जो व्यापकता है, वही उन्हें महत्वपूर्ण बनाती है। दृष्टि और भावों की ऐसी व्यापकता, पूरे प्रवासी संसार में किसी एक रचनाकार के यहाँ नहीं है। भाषा उनके लिए साध्य नहीं है, एक उपकरण मात्र है जिसके माध्यम से वे कथा-सत्य को उद्‌घाटित करते हैं। एक और मामले में तेजेंद्र शर्मा ने प्रवासी कहानी को समृद्ध किया है; वह है निषिद्ध भाव-भूमियों में प्रवेश करना।

तेजेंद्र शर्मा की रचनात्मकता का पहला पड़ाव प्रवासीपन से मुक्त है। एक ही रंग, ईंटों का जंगल, सिलवटें, कैंसर, कडियाँ, श्वेत-श्याम आदि कहानियों का देश और काल, भारत का है और लगभग अस्सी के दशक के बाद का है। इनमें कहानियाँ हैं इनमें राजनीतिक चेतना का समावेश नहीं हुआ है। बेहद हल्के-फुल्के ढंग में कहीं वामपंथ का जिक्र ज़रूर आता है।

इसी तरह, उनकी दुनिया विकसित होती चलती है। भारत और भारत के आसपास के राष्ट्र, जिनमें ज़िंदगी दूसरी तरह से चलती हैं। अवैध तरीके से पहुँचे लोगों की त्रासदी का दर्शन 'देह की कीमत' कहानी में होते हैं तो मृत लोगों के मुआवजे के लिए सागर पार करते, लडते-झगडते परिजन हैं, जिनका मार्मिक चित्रण 'काला सागर' कहानी में दिखाई देता है। कहानीकार की रचनात्मक यात्रा के इस पड़ाव का देशकाल, भिन्न दृष्टिकोण से बना बना-छना है। इस हिस्से में आती हैं अभिशप्त मुझे मार डाल बेटा, टेलीफोन लाइन, बेघर आँखें इत्यादि कहानियाँ।

तेजेंद्र शर्मा की कहानी 'पासपोर्ट का रंग' ऐसे व्यक्ति की मार्मिक कहानी है, जिसे मजबूरी में ब्रिटेन की नागरिकता लेनी पड़ी है। यह पीढ़ियों की सोच और उनके मूल्यों के बीच की खाई को प्रदर्शित करने वाली कहानी है। जहाँ पुरानी पीढ़ी अतीत से अपने अनुभव निकाल कर वर्तमान को उन्हीं के आधार पर तौलती-परखती है, वही नई पीढ़ी वर्तमान को अपना सब कुछ माने बैठी है। उसके लिए जीवन की बेहतर सुख-सुविधा अधिक मायने रखती है। उसकी सोच में प्रगति की झलक है।

प्रस्तुत कहानी के गोपालदास जी के जीवन की विडम्बना है कि उन्हें एक बार फिर से दर-ब-दर होना पड़ा है। पत्नी

के गुज़रने बाद उन्हें उनका बेटा इंग्लैंड ले आया है। आज भारत के अधिकांश माता-पिता की यही स्थिति है। बच्चे बेहतर अवसरों की तलाश में प्रवासी हो गए हैं और वृद्ध माता-पिता उनके लिए आँखें बिछाए देश में ही प्रतीक्षा कर रहे हैं अथवा मजबूरी में अपने बच्चों के साथ विदेश में लटके हुए हैं। जहाँ न उनके विचार मिलते हैं न मूल्य और न ही जीवन शैली। एक दुनिया समानांतर में राजेंद्र यादव कहते हैं, कहानी का कोई भी पात्र अपने आपमें कुछ नहीं होता है, किसी-न-किसी का प्रतिक होता है। गोपाल दास प्रतीक हैं उन सारे लोगों के जिन्हें मज़बूरी में किसी अन्य देश की नागरिकता लेनी पड़ती है। जिनके लिए यह मज़बूरी उनके सीने पर बोझ बन जाती है। वे आम आदमी का प्रतीक हैं। गोपालदास के लिए ब्रिटेन की नागरिकता लेने से मर जाना कहीं बेहतर है। लेकिन बेटा दूसरी दुनिया में रह रहा है, उसने नए जीवन को सहजता से स्वीकार कर लिया है। उसे ब्रिटिश पासपोर्ट की मात्र अच्छाइयाँ नज़र आ रही हैं वह कहता है कि ब्रिटिश पासपोर्ट हो तो वीज़ा की ज़रूरत नहीं होती है। लेकिन गोपालदास यह बात कैसे भूलते कि भारत आने के लिए वीजा की ज़रूरत है। उन्हें तो बस यही कामना है कि दोनों देशों की नागरिकता मिल जाए।

एक दिन कमाल हो गया, प्रवासी दिवस पर प्रधानमंत्री ने दोहरी नागरिकता की घोषणा कर दी। गोपालदास की खुशी का अंदाज़ा लगाया नहीं जा सकता है। वे दोहरी नागरिकता को लेकर फिर से भारत के नागरिक बन जाने के स्वप्न पालने लगते है। मगर घोषणाओं को इतनी जल्दी अमल नहीं हो पता है। एक्ट बनाने की लम्बी प्रक्रिया तो होती ही है। गोपालदास दिन रात दोहरी नागरिकता के बारे में सोचते-बोलते रहते हैं। दोस्त उन्हें पागल करार देने लगे।

कहानी के अंत लेखक ने ऐसा चित्रित किया है कि, गोपालदास जी एकटक छत को देखे जा रहे थे। उनके दायें हाथ में लाल रंग का ब्रिटिश पासपोर्ट था और बाएँ हाथ में नीले रंग का भारतीय पासपोर्ट। उन्होंने ऐसे देश की नागरिकता ले ली थी जहाँ के लिए इन दोनों पासपोर्ट की ज़रूरत नहीं थी।

आज प्रवास के नियम बदल चुके हैं। संचार और यातायात के संसाधनों में भी नित नए परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे समय में प्रश्न उठता हैं कि भविष्य में इस कहानी का क्या महत्त्व रहेगा या नहीं, ज़रूर रहेगा क्योंकि यह कहानी एक ऐसे कथानक पर आधारित हैं जो दिखाती हैं कि एक समय था जब प्रवास के नियम भिन्न थे और उन नियमों का आम आदमी के जीवन पर दारुण प्रभाव पड़ता था। इसकी संवेदनशीलता पाठक को सदैव विचलित करेगी, उसे प्रवासी के दुःख-दर्द में भागीदार बनाएगी। तेजेंद्र शर्मा के कथन की रवानी और छोटे-छोटे मगर सारगर्भित संवाद कहानी को प्रभावशाली बनाते हैं।

तेजेंद्र शर्मा द्वारा लिखी गई कहानी 'कब्र का मुनाफा' दो पाकिस्तानी परिवारों की कथा है। ये इंग्लैंड में अपने-अपने परिवार के साथ रहते हैं। खलील और नजम दोनों में गहरी दोस्ती है। खलील को सिगरेट की बुरी लत है तो नजम को शराब की। लेकिन इन दोनों की यह आदतें दोनों के दोस्ती के कभी आड़े नहीं आती। खलील की बीवी नादिरा है जो फिल्मी सितारों और उनके फिल्मों की बहुत शौकीन है लेकिन पाकिस्तानी फिल्मों नहीं बल्कि भारतीय फिल्मों की। क्योंकि वह दिल्ली में पली बढ़ी है। नादिरा, शादी से पहले हिंदुस्तान में रहती थी। वह लखनऊ विश्वविद्यालय से एम.ए. पास है। वह नौकरी करना चाहती है लेकिन खलील बिल्कुल कट्टर मुस्लिम पंथी पाकिस्तानी मुसलमान है। जिसके कारण वह नादिरा को काम की इजाज़त नहीं देता है।

इंसान जब तक जिंदा रहता है वह जीवन के हर ऐशो-आराम ढूँढ़ता है। वह सोचता है कि ऐसा क्या करूँ कि आलीशान जिंदगी जीने के लिए उसे हर चीजें मिले। लेकिन यहाँ तो खलील और नजम को मरने के बाद भी कब्रिस्तान का सारा माहौल एकदम युनीक चाहिए। अब मरने के बाद क्या होगा यह कौन जानता है? खलील एकदम कट्टर शिया मुसलमान है। उसको मरने के बाद भी उसके आस-पास में कोई सुन्नी और न ही कोई टोपी वाला गुजराती चाहिए। बल्कि वह सोचता है कि शिया लोगों के लिए कोई अलग से कब्रिस्तान हो। अचानक नजम खलील को किसी नई स्कीम के बारे में बताता है। कार्पेण्डर्स पार्क जिसमें 10 पाउंड महीने की प्रीमियम पर इंसान को शान से दफनाने की अपनी पूरी जिम्मेदारी ली जाती है। खलील को लगता है जो वह सोचता है वो सही है बाकी सब गलत इसलिए दोनों इस स्कीम का फायदा उठा कर अपने लिए और बीवियों के लिए भी, बिना बताए कब्रें बुक करवा लेते हैं। खलील, नजम से पूछता है "उनकी कोई स्कीम नहीं है जैसे बाई वन गेट वन फ्री।"

वह कहता है अगर ऐसा है तो हम अपने बेटों को भी शामिल कर सकते हैं। खलील जो बेटे को बिजनेस के लिए पैसे नहीं देना चाहता वही अपनी कट्टर विचारधारा के चलते बेटे के जीते जी उसके लिए कब्र बुक करवाने की सोचता है।

इंसान जिंदा है लेकिन उनके लिए कब्रे पहले से आरक्षित हैं। जब कार्पेण्डर पार्क से चिट्ठी आई, जिसमें लिखा था मुद्रा स्फीति के साथ-साथ मासिक किस्त में भी पैसे बढ़े हैं, तब नादिरा का खून खौल उठता। नादिरा खलील से, फोन करके कब्रिस्तान का आरक्षण कैंसिल करने को कहती है, तो वह कहता है कि कैंसिलेशन चार्ज अलग से लगेंगे। क्यों नुकसान करवाती हो? वह कहती है तो ठीक मैं ही फोन करती हूँ। उसकी भरपाई मैं खुद कर दूँगी। नादिरा गुस्से में नंबर मिलाती है। नादिरा फोन रख जाने के बाद खलील से कहती है कि हमने कैंसिलेशन का ऑर्डर दे दिया है और उनका कहना है कि आपने साढे तीन सौ पाऊंड एक कब्र के लिए जमा कराए हैं और यानी कि दो कब्र के सात सौ पाउंड और अब इंफ्लेशन की वजह से उन कब्रों की कीमत बढ़कर 1100 पाउंड यानी कि आपको कोई 400 पाउंड का लाभ हो रहा है। खलील चौंक जाता है "चार सौ पाउंड का फायदा, बस साल भर में।"

बाज़ारवाद हमारी ज़िंदगी में चुपचाप किस तेज़ी से प्रवेश कर रहा है, इसकी मिसाल है यह कहानी। यहाँ यह सवाल भी उठता है कि क्या बाज़ारवाद की इस आंधी में हमारी मनुष्यता, संवेदना कहीं खो गई है कि हम कब्र में भी अर्थात् मरने के बाद भी मुनाफे की ही बात सोचें। वरिष्ठ कथाकार और 'हंस' पत्रिका के संपादक राजेंद्र यादव की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि 'कब्र का मुनाफा' ऐसे मुसलमान दोस्तों की कहानी है जो न अपने भीतर के लखनऊ को निकाल पाये हैं न कराची को और अपने लिए खरीदी गई कब्रों की जगहों को मुनाफे में बेचकर सफलता का संतोष पाते हैं। यह मरते-मरते विदेश से कुछ-न-कुछ झटक लेने का लालच है।

लाश के मेकअप के सामान का विज्ञापन और उसका दुल्हन की तरह श्रृंगार करने का दावा कहानी को नए आयाम प्रदान करते हैं। कंपनी का दावा है कि वे आग से झुलसे चेहरा या फिर दुर्घटना से विकृत चेहरे को भी खूबसूरत बना सकते हैं, आने वाले भविष्य की भयावह सोच को सामने लाता है। तेजेंद्र शर्मा इन सबको इतने सहज ढंग से कह जाते हैं कि इसका असर कहानी पढ़ने के बाद भी बना रहता है।

दरअसल इस कहानी में मानवीय मूल्यों की टकराहट है जिसकी अनुगूँज सुदूर अतीत का स्पर्श करती हुई वर्तमान के बीच से भविष्य को भी सुनिश्चित करना चाहती है। कहना न होगा की तेजेंद्र शर्मा की यह कहानी इसलिए भी उल्लेखनीय है कि यह जिंदगी के मुहाने पर मनमोहक मौत को हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

तेजेंद्र शर्मा निश्चय ही इंग्लैंड में रह रहे भारतीयों की बदलती जीवन का काफी प्रामाणिक लेखा-जोखा अपने कहानियों में प्रस्तुत करते हैं। उनकी कहानियों के नायका ज्यादातर हिंदुस्तानी हैं। अतः कहा जा सकता है कि आपकी कहानियाँ प्रवासी भारतीय जीवन की कहानियाँ हैं। एक प्रवासी लेखक होने के नाते तेजेंद्र जी अपनी ज़िम्मेदारी निभाने की लगातार कोशिश करते रहे हैं कि अपने देश में इस बीच हुए और निरंतर हो रहे परिवर्तनों पर नज़र रखना और उन्हें अपनी रचना में लाना। इस प्रकार की एक कहानी है 'नवयुग'। इसमें भारतीय जीवन की विडम्बनाएँ और उनसे पार जाने की आकांक्षा साफ-साफ दिखाई देती है। कहानी में एक ऐसे लेखक/संपादक का चित्रण है जो जब तक नवोदित लेखक था और नया लेखक होने के कारण जिसकी रचनाएँ छपती नहीं थी, वही जब एक पत्रिका का संपादक बन जाता है तो उसका रवैया भी उन्हीं पुराने घाघ संपादकों जैसे हो जाता है जो 'पत्रिका बेचने के लिए प्रतिष्ठित नामों का छापना बहुत आवश्यक' मानते हुए नए लेखकों को किनारे किए रखने में कोई कोर-कसार नहीं छोड़ते।

तेजेंद्र अपनी कहानियों में प्रवासी-जीवन के अजनबीपन, असुरक्षा एवं असहायता-बोध इत्यादि का जीता जगाता चित्रण प्रस्तुत करते हैं। अकेलापन प्रवासी-जीवन का वह दशा है, जिसे उसे झेलना ही है अकेलेपन और अजनबीपन से असुरक्षा एवं असहायता का बोध होता है कि विदेश में कोई अपना नहीं। 'ढिबरी टाइट' एक ऐसी ही कहानी है जिसमें एक भारतीय युवक कुवैत पुलिस के हाथ पड़ जाने पर अपने बीवी-बच्चे की मौत के बाद ही छूट पाता है। तेज़ स्पीड में गाड़ी चलने जैसे मामूली अपराध की उसे ऐसी सज़ा दी जाती है की विदेश में होने का गर्व और मस्ती जल्दी ही नष्ट हो जाती है। कुवैत जैसे

देशों की इकतरफ व्यवस्थाएँ अंततः संवेदनहीनता का पर्याय हो जाती है; कहानीकार संभवतरू यही व्यक्त करना चाहते हैं। इस कहनी से हमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि इस कहानी का नायक कोई कुवैत का अपना नागरिक होता तो वहाँ की पुलिस का बर्ताव इतना अमानवीय न होता!

तेजेंद्र शर्मा अपनी कहानियों में भारतीय लोगों में व्याप्त विदेश-गमन की ललक को बराबर सामने लाते हैं। लेकिन यह ललक तो कई कारणों से होते हैं, कभी बेरोज़गारी के वजह से तो कभी कम आमदनी के कारण। इनमें से कई लोग विदेश जाने के 'इल-लीगल' तरीके अपनाते देखे जा सकते हैं। न केवल इल-लीगल तरीके से कहीं पहुँच जाना बल्कि अवैध तरीके से कहीं निरंतर रहते चले जाना भी। यदि कभी पकड़ लिए गए तो सारा का सारा मेहनत मिट्टी में मिल जाएगी। वहाँ से बंदे लाश भी स्वदेश नहीं आ पाती! कभी-कभी आता भी है तो सिर्फ पैसे और अस्थियाँ। यही कहानी है 'देह की कीमत' का हरदीप का भी। इस कहानी के अंत में नायिका यानि हरदीप की पत्नी परमजीत कौर, जो हमेशा इस तरह अवैध तरीके से विदेश जाने के खिलाफ में थी, सोचती है कि ये रूपए उसके पति की देह की कीमत है या उसके साथ बिताए पाँच महीनों की कीमत।

तेजेंद्र शर्मा ने अपनी रचना प्रक्रिया को ऐसा माध्यम माना है की जो समाज का प्रतिबिंब दिखने का प्रयास करता है। सन् 1993 के मुंबई दंगों के बाद लिखी गई कहानी 'चरमराहट' भी उस कटु अनुभव की कहानी है जिसे बाबरी मस्जिद गिराने के बाद लोगों ने झेला है। 'कोख का किराया', 'कब्र का मुनाफा', 'मुझे मार डाल बेटा', 'तरकीब' आदि कहानियाँ लेखक के आसा-पास के सामाजिक जीवन के चित्र को सत्य तथा कल्पना सहित प्रस्तुत करती। तेजेंद्र शर्मा की सुप्रसिद्ध कहानी हैं 'देह की कीमत' सत्य घटना पर आधारित है, जिसका लेखक साक्षी नहीं परंतु मित्र के मुँह से सुनी कथा थी। इस कहानी की विशेषता यह रही कि "घटना का चश्मदीद गवाह मैं नहीं था घटना मेरे मित्र की थी कल्पना शक्ति एवं उद्देश्य मेरा। यानि की कहानी की सामग्री मौजूद थी बस उसे कागज़ पर उतारना बाकी था। जब मेरी जुगाली पूरी हो गई तो कहानी भी उतर आई पन्नों पर।"

तेजेंद्र शर्मा की कहानियाँ कहीं पर कोरी अतिशयोक्ति अथवा कपोल कल्पित नहीं बल्कि समाज से जुड़ी हैं, "तेजेंद्र शर्मा की अधिकतर कहानियों के विषय भोगे हुए यथार्थ पर आधारित होते है। उनका मानना है की यथार्थ में अपनी कल्पना और उद्देश्य का पूत मिलकर ही कहानी बनती है। वे कहानी बनाते नहीं सुनते हैं, उसमें घटने वाले कारणों को खोजते हैं। पहले स्वयं महसूस करते हैं फिर पाठकों को इसका अनुभव कराते हैं। कहानियों की घटनाएँ काल्पनिक नहीं बल्कि हमारे आस-पास घूमती हुई मिलती हैं। ज़िंदगी के खट्टे-मीठे और कड़वे अनुभवों से भरपूर कहानियाँ पाठकों को ऐसे घेरती हैं।" तेजेंद्र शर्मा की रचना की प्रक्रिया में समाज, प्रेम, सामाजिक संबंध, मजबूरी, खोखलापन, अर्थ संचालित रिश्ते, बनाते बिगड़ते मूल्य आदि का वर्णन देखा जा सकता हैं। यह सब परिस्थितियाँ उनकी कहानियों को विशेष बनाकर पाठक के समक्ष समाज को प्रस्तुत करती है।

तेजेंद्र शर्मा, अपने ही आसपास का माहौल, घटनाएँ और विषयों को ही कहानियों में चित्रित किया है। अपने आसपास को इतनी शिद्दत से पहले महसूस करना और फिर लिखना, लेखकीय निजता की एक महत्वपूर्ण कसौटी है। आपकी कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि भारत का गुणगान किये बिना उन्होंने शायद ही कोई कहानी लिखी होगी।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. बृजनारायण शर्मा, हरिभटनागर (सं), तेजेंद्र शर्मा वक्त के आईने में (रचना समय, 2009), पृ. सं. 23
2. नीना पॉल (सं), हिंदी की वैश्विक कहानियाँ, तेजेंद्र शर्मा का रचना संसार, पृ. सं 14

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

'महिलाओं में मतदान व्यवहार की प्रक्रिया' (रीवा नगर के विशेष संदर्भ में)

अंजुलि शुक्ला
शोधार्थी, शा. ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म.प्र.)

डॉ. एस.पी. शुक्ला
शोध निर्देशक, प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान)
शा. ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म.प्र.)

सारांश

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। जिसकी अपनी सभ्यता एवं संस्कृति है। इसके निर्माण में आधी आबादी का अतुलनीय योगदान है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में नागरिक अपने मतदान के अधिकार के प्रयोग के माध्यम से सहमति प्रदान करते है। तथा सरकार का निर्माण करते है। मतदान नागरिक का यह अधिकार है; जिससे सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक मुद्रदों पर अपने राय व्यक्त करने का अवसर प्राप्त करतें है। प्रत्येक चुनाव में राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों की विजय सुनिश्चित करवाने हेतु एवं जीतने के लिये अनेक प्रकार के प्रयोगों, प्रक्रियाओं एवं प्रचार माध्यमों के द्वारा निर्वाचन की प्रक्रिया में भाग लेते है।

प्रस्तुत शोध पत्र रीवा नगर की महिलाओं के मतदान व्यवहार की प्रक्रिया पर केन्द्रित है। मतदान व्यवहार मुख्यतः एक देश में अधिकार मतदाताओं के राजनीतिक व्यवहार का एक प्रकार है। मतदान में महिला मतदाता भी भाग लेती है। और अपने विचार के स्वरूप प्रत्याशी का चुनाव करती है।

मुख्य शब्द- मतदान, व्यवहार, प्रक्रिया, राजनीतिक लोकतान्त्रिक, राजनीतिक दल।

प्रस्तावना

मतदान व्यवहार का आशय है कि मतदान अपने मताधिकार के प्रयोग में किन तत्वों से प्रभावित होता है। अतः मतदाता के मतदान करते समय उनके व्यवहार का अध्ययन ही मतदान व्यवहार कहलाता है। मतदान व्यवहार में सर्वप्रथम यह अध्ययन किया जाता है। कि कौन से तत्व व्यक्ति को मताधिकार का प्रयोग करने के लिये प्रेरित करते है। और कौन से तत्व उसे इस संबंध में निरूत्साहित करते है। द्वितीयक स्तर पर इस बात का अध्ययन किया जाता है। कि तत्वों से प्रभावित होकर व्यक्ति एक विशेष उम्मीदवार या विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में अपने मताधिकार का प्रयोग करते है। इस दृष्टि से मतदान व्यवहार का अध्ययन चुनाव के पूर्व भी किया जाता है। और चुनाव के बाद भी।

मत व्यवहार से अभिप्राय मतदाता के मत देने तथा इसे प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन से है। मतदाताओं के मतदान व्यवहार का विश्लेषण करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि वह विविध प्रकार के बाह्य एवं आंतरिक कारकों द्वारा प्रकाशित होता है। तथा साथ ही विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों के मतदाताओं के आचरण में काफी भेद होता है। भारत जैसे देश में मतदान आचरण का अध्ययन और भी अधिक गंभीर समस्या है, क्योंकि अधिकांश मतदाता इससे संबंधित प्रश्नों का उत्तर

ही नहीं देते तथा अपने दलीय संबंधों को केवल सक्रिय कार्य कर्ताओं को छोड़कर स्पश्ट रूप से बताने में संकोच करते है।

उद्देश्य

1. मतदान व्यवहार का अध्ययन।
2. मतदाता को प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन।
3. रीवा नगर स्थित वार्ड़ों के महिला मतदाताओं के मतदान व्यवहार का अध्ययन।
4. रीवा नगर में महिला शिक्षा एवं राजनीतिक जागरूकता का अध्ययन।
5. रीवा नगर की महिलाओं की राजनैतिक गतिविधियों का अध्ययन।

साहित्य समीक्षा

1. विक्की रैंडल (1982)[1] ने अपनी पुस्तक महिला एवं राजनीति अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन में यह पाया की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला राजनीतिक में रुचि लेती है। और राजनीतिक गतिविधि का हिस्सा है। महिलाये नये युग का निर्माण कर रही है।

2. डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र (1994)[1] ने अपने अध्ययन में पाया कि मतदान अभिमत के माध्यम से ही समाज का राजनीतिकरण होता है। तथा राजनीतिकरण से राजनीतिक विकास सुनिश्चित होता है। इस प्रक्रिया में मतदान के द्वारा जनसामान्य की सत्ता में सीधी भागीदारी होती है। विविधताओं से परिपूर्ण भारत के विभिन्न राज्यों के लोगों की सोच आचार-विचार व्यवहार एवं संसद नापसन्द आदि में पर्याप्त विभेद हैं स्वस्थ लोकतन्त्र के लिये सक्रिय मतदान व्यवहार अर्थात् अपेक्षित है।

3. प्रेमचन्द्र जैन (1981)[3] ने अपने अध्ययन में पाया कि भारत में शुरू से लेकर आज तक के मतदाताओं की संख्या निरन्तर बढ़ी है। संसदीय लोकतन्त्र वाला देश है। संसदीय व्यवस्या में चुनावों की जटिल भूमिका मतदाताओं के मतदान व्यवहार के माध्यम से स्पष्ट रूप से संभव होती है।

4. शशि शर्मा (2015)[4] ने ''राजनीतिक समाजशास्त्र के रूपरेखा'' में अध्ययन किया है और अपने अध्ययन में पाया कि मतदान व्यवहार पर अधीनस्थ परिवर्त्यों, स्वाधीन परिवर्त्यों तथा मध्यवर्ती परिवर्त्यों का प्रभाव पड़ता है, तथा मतदान व्यवहार को प्रभावित करते है। इन्हीं के आधार पर भारत में चुनावी राजनीति के बदलते आयाम और मतदान का मापन किया गया है।

5. प्रोफेसर जोसेलीन एवकन्स (2004)[5] ने मतदान व्यवहार में 50 से भी ज्यादा आर्टिकल लिखे है। जिसमें 'वोटर्स एवं वोटिंग' में उन्होंने पाया कि ब्रिटेन में प्रमुख पाटियॉ द्वारा मतदान व्यवहार का पता लगाया जाता है। एवं उसी प्रकार मेनेफेस्टो तैयार किया जाता है।

6. सुरेन्द्र कुमार पटनायक (1982)[6] ने JNU के विद्यार्थियों के मतदान व्यवहार पर अध्ययन किया और पाया कि JNU में प्रत्येक छात्र राजनीति के बारे में जागरूक है और सभी की अपनी स्वतन्त्र एवं स्पष्ट विचारधारा है।

शोध प्रविधि

इस शोध पत्र में अध्ययन की मुख्य इकाईयॉ रीवा नगर के कुछ 45 वार्डो की महिलायें है। जिन प्रमुख 5 वार्डो (वार्ड नं. 1 निपनिया, वार्ड नं. 9 निराला नगर, वार्ड. नं. 12 बजरंग नगर, वार्ड नं. 13, नेहरू नगर, वार्ड नं. 43 चिरहुला) की महिलाओं से अनुसूची की मदद से साक्षात्कार किया गया है। इस अध्ययन में 100 महिलाओं से साक्षात्कार लिया गया है तथा इन वार्डो में उद्देश्यपूर्ण निदर्शन पद्धति द्वारा 20 महिला उत्तरदाताओं का चयन किया है। साक्षात्कार के लिये अनुसूची किया गया है।

अध्ययन क्षेत्र

प्रस्तुत शोध पत्र के अध्ययन का क्षेत्र म.प्र. राज्य के रीवा संभाग का रीवा है। रीवा विन्ध्यन कगारी प्रदेश के मध्यवर्ती 24^0 42 उत्तरी अक्षांश एवं 81 15 पूर्वी देशान्तर पर बीहर और बिछिया नदी के संगम पर स्थिति है। यह नगर 102 किमी. में फैला है तथा इसमें कुल 45 वार्ड है। रीवा नगर में 1 लोक सभा सीट तथा 8 विधानसभा सीट है

तथ्यों का विश्लेषण

प्रस्तुत शोध में तथ्यों के संकलन के पश्चात् प्राप्त तथ्यों का सामानता एवं भिन्नता के आधार पर वर्गीकृत सारणीयन कर कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षो का विश्लेषण किया गया है।

1). क्या आपका नाम मतदाता सूची में हैं?

सारणी क्र.1

मतदान सूची में नाम होने संबंधी जानकारी

क्र.	विवरण	न्यादर्श में चयनित महिलाओं की संख्या	प्रतिशत
1	हॉ	80	80
2	न्हीं	15	15
3	मालूम नहीं	5	5
योग	100	100	

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 80 प्रतिशत महिलाओं का नाम मतदाता सूची में है। 15 प्रतिशत महिलाओं का नाम मतदाता सूची में नहीं है। तथा 5 प्रतिशत महिलाओं को यह ज्ञात ही नहीं है कि इनका नाम मतदाता सूची में है या नहीं।

2. क्या आप मतदान करती हैं?

सारणी क्र.2

मतदान की प्रवृत्ति संबंधी मत

क्र.	विवरण	न्यादर्श में चयनित महिलाओं की संख्या	प्रतिशत
1	हॉ	70	70
2	न्हीं	15	15
3	कभी कभी	15	15
	योग	100	100

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 70 प्रतिशत महिलाये बोट करती है। एवं 15 प्रतिशत बोट नहीं करती है। तथा 15 प्रतिशत महिलायें कभी कभी बोट करती है। अर्थात लोक सभा विधानसभा, नगर निगम में से किसी में किया और किसी में नहीं किया।

3 क्या आप अपनी इच्छानुसार प्रत्याशी का चुनाव करती है या परिवार के कहने पर प्रत्याशी का चुनाव करती है।

सारणी क्र.3
प्रत्याशी का चयन करने संबंधी दृष्टिकोण

क्र.	विवरण	न्यादर्श में चयनित महिलाओं की संख्या	प्रतिशत
1	अपनी इच्छा से	30	30
2	पिता/पति के कहने पर	50	50
3	बिना सोचे समझे किसी के भी कहने से	20	20
	योग	100	100

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 30 प्रतिशत महिलाये ही अपनी इच्छा से मतदान करती है। 50 प्रतिशत महिलाये अपने पिता या पति के कहने पर प्रत्याशी का चुनाव करती है एवं 20 प्रतिशत महिलाओं की कोई आधार नहीं वह बिना सोचे समझे या फिर किसी के भी कहने से अपने मत का प्रयोग करती है।

4. आप मतदान प्रक्रिया में किसको वरीयता देती है।

सारणी क्र. 4
प्रत्याशी की वरीयता संबंधी दृष्टिकोण

क्र.	विवरण	न्यादर्श महिलायें	प्रतिशत
1	जाति को	30	30
2	उम्मीदवार की योग्यता को	20	20
3	पार्टी के नाम पर	30	30
4	कुछ नहीं देखती	20	20
	योग	100	100

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 30 प्रतिशत महिलायें अपने जाति वाले उम्मीदवार को मत देती है। 20 प्रतिशत महिलायें ही उम्मीदवार की योग्यता को मत देती है। 30 प्रतिशत महिलायें पार्टी के नाम पर मत करती है। एवं 30 प्रतिशत महिलायें कुछ भी नहीं देखती है।

5. क्या आपने पिछले हुये चुनावों में मतदान किया है।

सारणी क्र. 5
पूर्व में मतदान संबंधी मत

क्र.	विवरण	न्यादर्श महिलायें	प्रतिशत
1	हॉ	75	75
2	नहीं	25	25
	योग	100	100

उपरोक्त सारणी से यह ज्ञात होता है। कि पिछले हुये चुनावों में 75 प्रतिशत महिलाओं द्वारा मतदान किया गया है। तथा 25 प्रतिशत महिलाओं में मतदान नहीं किया है।

महिला मतदाता को प्रभावित करने वाले कारक

महिला मतदाता को राजनीति में रूची न होना, उनका सिर्फ अपना निर्णय नहीं होता बल्कि परिस्थितियों ऐसी बना दी गई है जिससे उनका अपना स्वतंत्र विचार नहीं हैं-

1. परिवार एवं नातेदारी

मतदान व्यवहार को प्रभावित करने में परिवार एवं नातेदारी का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में परिवार एवं नातेदारी मतदान आचरण को काफी सीमा तक प्रभावित करते है। तथा आज भी अनेक ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों के दलीय बचनबद्धता से परिवार एवं नातेदारी के प्रति निष्ठा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

2. जाति एवं महिला मतदाता व्यवहार-

भारत एक जातिगत समाज है तथा जाति मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रमुख कारण है।

3. पुरूषों के सुझाव पर विश्वासः-

प्रायः घर के मुखिया के कहे जाने पर घर की महिलाये मत देती है। घर के पुरूषों को प्रतिनिधि के बारे में जानकारी होने एवं वह खुद उस दल का कार्यकर्ता होने के कारण घर की महिलाओं को उसकी बात माननी पड़ती हैं।

4. धर्म-और महिला मतदाता-

धर्म भी चुनावों एवं मतदान आचरण को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है भारत जैसे विशाल देश में जहॉ धर्माचुवायी साथ-साथ रहते है।

स्पष्टतः देखा जा सकता है कि धर्म के नाम पर चुनाव में मतदाताओं के मत का रूख अपनी तरफ मोड़ा जाता हैं। भारत में हिन्दू महासभा अकाली दल, मुस्लिम लीग, आदि दलों का मुख्यतः धर्म के आधार पर ही किया गया है।

5. धन, उपहार एवं महिला मतदाता-

धन भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। भारत सहित अनेक देशों में चुनाव आयोग से निर्धारित धनराशि की सीमा का निर्ममतापूर्वक उल्लंघन किया जाता है। चुनाव के समय मतदाताओं को आर्थिक लाभ पहुंचाकर अथवा आर्थिक प्रलोभन देकर मतदान का रूख मोड़ने की कोशिश की जाती है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

प्रस्तुत शोध पत्र में रीवा नगर की महिलाओं के मतदान व्यवहार का अध्ययन किया गया है। अध्ययन में पाया गया कि नगर 45 वार्डो में से जिन प्रमुख 5 वार्डो (वार्ड नं. 1 निपनिया, वार्ड नं. 9 निराला नगर वार्ड. नं. 12 बजरंग नगर, वार्ड नं. 13, नेहरू नगर, वार्ड नं. 43 चिरहुला) की महिलाओं से अनुसूची की मदद से साक्षात्कार किया गया है। जिसमें यह पाया गया है कि 15 प्रतिशत महिला मतदाता का नाम मतदाता सूची में है ही नहीं और 5 प्रतिशत महिलाओं को पता ही नहीं है कि उनका नाम है। या नहीं सिर्फ 80 प्रतिशत महिलाओं के नाम ही मतदाता सूची में हैं। जिनमें से सिर्फ 70 प्रतिशत महिला मतदाता ही मतदान करती है। शेष महिलायें मतदान नहीं करती है। या कभी कभी करती है।

महिलाओं में प्रत्याशी के चयन संबंधी इच्छा का भी अध्ययन किया गया है और उसमें पाया गया कि 50 प्रतिशत महिलायें अपने घर वालों के कहने पर उममीदवार को मत देती है। एवं 20 प्रतिशत महिलायें बिना सोचे समझे मतदान करती है। केवल 30 प्रतिशत महिलायें ही प्रत्याशी का चयन अपनी इच्छानुसार करती है। और प्रत्याशी को मत देती है।

महिलाओं में राजनीतिक जागरूकता लाने के लिये उन्हें शिक्षित होना होगा तथा उन्हें मतदान में भाग लेना चाहिये। केवल राज्य सरकार को चाहियें कि महिलाओं की राजनीतिक जागरूकता को बढ़ावा देने के लिये कार्यक्रम चलाना चाहिये एवं परिवार व समाज में महिलाओं की राजनीतिक विचार रखने की स्वतन्त्रता देनी चाहिये।

संदर्भ ग्रंथ

1. रैण्डल, विक्की (1982) महिला एवं राजनीति अष्टा परिपेक्ष्य ''लंदन'' Macmillan Education Ltd.
2. मिश्र डा. सच्चिदानन्द (1999) भारतीय निवांचन एवं सांस्कृति दशा एवं दिशा, बाराणसी , विजय प्रकाशन मंदिर पृष्ठ 89
3. जैन, प्रेमचन्द (1981) सप्तम लोकसभा तथा नौ राज्यो की विधान सभाओ का निर्वाचन पृष्ठभूमि एवं परिणामों का विश्लेषण, दिल्ली, लोक प्रशासन विजय प्रकाशन पृ. 7
4. शर्मा, शशि (2015) राजनीतिक समाजशास्त्र की रूपरेखा, भारत SAGE Publishing India पृ. 661 750
5- Evans Jocelyn (2004) voters and bating "India" sage Publishing India
6. पटनायक, सुरेन्द कुमार (1982) छात्र राजनीति एवं मतदान व्यवहारः जवाहर लाल नेहरू वि.वि., भारत, Concept Publishing company new delhi page 13
7. स्टोकस, जी.ई. (1965) इंटरनेशनल एचसा इक्लोपीडिया, आक सोसल साइंसेस, न्यूयार्क, न्यूयार्क मैकमिलन, भाग 16 पृ. 389-90
8. कुमार संजय, राय प्रवीण (2018) भारत में मतदान व्यवहार का मापन, भारत, SAGA Pub- India Pvt. Ltd.
9- www. google.com
10- www shodganga.infibnet.ac.in/bistream/
11. सत्ता के शिखर से दूर महिलाएं(2018) Retrived http//www. down to earth.org.in himdistory

SHODH SAMALOCHAN ISSN : 2348-5639
An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में मानवीय संवेदना और जादुई यथार्थवाद

Prof. (Dr.) Ida Manuel
Head of The Department
Hindi Department, Sri C Achutha Menon Govt-College
Thrissur, Kerala, India
Idamanuel2014@gmail.com
Mob. : 9846155437

शोध सार : विनोद कुमार शुक्ल का उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' (1997) समकालीन हिंदी साहित्य की एक विशिष्ट कृति है, जिसमें साधारण जीवन की घटनाएँ असाधारण संवेदनात्मक और प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करती हैं। यह उपन्यास निम्न-मध्यवर्गीय जीवन, दाम्पत्य प्रेम, प्रकृति, कल्पना और जादुई यथार्थवाद का काव्यात्मक समन्वय प्रस्तुत करता है।

उपन्यास का केंद्र रघुवर प्रसाद और सोनसी का प्रेमपूर्ण दाम्पत्य जीवन है। आर्थिक अभावों के बावजूद उनका संबंध विश्वास, आत्मीयता और भावनात्मक जुड़ाव से पूर्ण है। हाथी और खिड़की जैसे प्रतीक उनके सीमित जीवन में नई संभावनाओं, कल्पना और स्वतंत्रता के द्वार खोलते हैं।

बीज शब्द : जादुई यथार्थवाद, प्रतीकवाद, हाथी, खिड़की, निम्न-मध्यवर्गीय जीवन, दाम्पत्य-संबंध, प्रकृति-चेतना, मानवीय संवेदना।

मूल आलेख : समकालीन हिंदी उपन्यास ने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विषय, शिल्प और संवेदना के स्तर पर अनेक नए प्रयोग किए। इसी रचनात्मक उपलब्धि का उत्कृष्ट उदाहरण है विनोद कुमार शुक्ल का उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी'। वर्ष 1997 में प्रकाशित इस उपन्यास को 1999 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

उपन्यास का आरंभ ही काव्यात्मक संकेतों से होता है—'उपन्यास में पहले एक कविता रहती थी', 'दृष्टि के जल से बुझकर सूर्य चन्द्रमा हो गया था और अल्पना का बना हुआ कमल पानी में तैर रहा था', 'दोनों जागे थे और सबकुछ नींद में झूम रहा था। तालाब नींद में तालाब था और आकाश नींद का आकाश था' आदि। इन प्रयोगों के कारण उपन्यास का शिल्प लयात्मक, बिंबात्मक और प्रतीकात्मक स्वरूप ग्रहण करता है।

उपन्यास का केंद्र रघुवर प्रसाद और उनकी पत्नी सोनसी का दाम्पत्य जीवन है। सीमित आय, छोटे-से किराए के कमरे और सामान्य जीवन-स्थितियों के बावजूद उनका संबंध प्रेम, विश्वास और आत्मीयता से परिपूर्ण है। रघुवर प्रसाद छोटे कस्बे के महाविद्यालय में गणित के व्याख्याता हैं। लेखक साधारण जीवन की छोटी घटनाओं के माध्यम से यह स्थापित करते हैं कि जीवन का वास्तविक सौंदर्य भौतिक संपन्नता में नहीं, बल्कि मानवीय संबंधों की ऊष्मा में निहित है।

उपन्यास में रघुवर प्रसाद की दिनचर्या के माध्यम से साधारण जीवन में निहित असाधारण अनुभवों का उद्घाटन होता

है। महाविद्यालय जाते समय वे प्रतिदिन एक हाथी को देखते हैं, जिस पर दाढ़ी और लंबे बालों वाला एक युवा साधु सवार होता है। एक दिन साधु उनसे पूछता है, "ऑटो नहीं मिली? हाथी पर बैठेंगे? महाविद्यालय ही जाना है न?" रघुवर प्रसाद संकोचवश उत्तर देते हैं, "ऑटो तो आती ही होगी,"[1] और उसका प्रस्ताव टाल देते हैं।

कुछ दिनों बाद साधु पुनः उनसे पूछता है, "बाबू, चलेंगे?" इस बार रघुवर प्रसाद सहमत हो जाते हैं—"हाथी धीरे धीरे नीचे बैठ गया"—और हाथी पर बैठ जाते हैं। यह घटना उनके जीवन में परिवर्तन का संकेत बनती है। हाथी पर महाविद्यालय आने-जाने की उनकी दिनचर्या आरंभ होती है। जब हाथी उनके घर के निकट पहुँचा, तो आसपास के बच्चे उत्साह से चिल्लाने लगे। हाथी को देखकर सामने अनेक स्त्रियाँ भी इकट्ठी हो गईं। घर के लोग भी कौतूहलवश उठकर बाहर आ गए।[2] विभागाध्यक्ष को अनुभव होता है कि हाथी की विशालता, धैर्य और संतुलन जैसे गुण रघुवर प्रसाद के व्यक्तित्व में भी दिखाई देने लगे हैं।

रघुवर प्रसाद की दोनों हाथों से समान दक्षता के साथ लिखने की क्षमता भी उनके असाधारण व्यक्तित्व को दर्शाती है। आर्थिक रूप से साधारण व्यक्ति होते हुए भी हाथी पर बैठकर महाविद्यालय जाना उनके लिए केवल यात्रा नहीं, बल्कि आत्मविश्वास, स्वतंत्रता और नई संभावनाओं का अनुभव बन जाता है।

हाथी : संवेदना और यथार्थ : एक दिन साधु हाथी को रघुवर प्रसाद के घर के सामने छोड़कर चला जाता है। उसकी अनुपस्थिति में रघुवर प्रसाद चिंतित होकर उसकी खोज करते हैं। धीरे-धीरे हाथी बस्ती का आत्मीय हिस्सा बन जाता है और रघुवर प्रसाद उसकी देखभाल का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं। गूलर के पेड़ पर रहने वाला एक लड़का भी हाथी की देखभाल में सहयोग करता है।

हाथी का प्रतीक और जादुई यथार्थवाद : विनोद कुमार शुक्ल का जादुई यथार्थवाद भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभवों, लोक-संवेदना और काव्यात्मक कल्पना से निर्मित है। हाथी उपन्यास में केवल पशु नहीं, बल्कि एक बहुस्तरीय प्रतीक है। उसका आगमन रघुवर प्रसाद के जीवन और चेतना का अभिन्न हिस्सा बन जाता है।

हाथी और रघुवर प्रसाद का संबंध उपयोगिता पर आधारित नहीं, बल्कि आत्मीयता और सह-अस्तित्व पर आधारित है। रघुवर प्रसाद उसकी चिंता करते हैं और उसकी देखभाल करते हैं। इस प्रकार उपन्यास मनुष्य और पशु के संबंध को करुणा, समानता और संवेदना के आधार पर प्रस्तुत करता है। भारतीय संस्कृति में हाथी शक्ति, धैर्य और शुभता का प्रतीक रहा है, किंतु विनोद कुमार शुक्ल इसे वैभव या सत्ता के नहीं, बल्कि साधारण मनुष्य की गरिमा के प्रतीक के रूप में स्थापित करते हैं।

खिड़की का प्रतीक और जादुई यथार्थवाद : रघुवर प्रसाद और सोनसी का छोटा-सा किराए का कमरा आर्थिक अभावों और सीमित जीवन-परिस्थितियों का प्रतीक है, फिर भी उनके संबंध प्रेम, विश्वास और आत्मीयता से पूर्ण हैं। इसी कमरे की खिड़की यथार्थ और कल्पना के बीच सेतु का कार्य करती है। रघुवर प्रसाद और सोनसी खिड़की के पार एक ऐसे संसार में प्रवेश करते हैं, जहाँ प्रकृति, सौंदर्य और स्वतंत्रता का अनुभव होता है। वहाँ तालाब, पेड़, पशु-पक्षी, खुला आकाश और जादुई शांति है। यह संसार केवल रघुवर प्रसाद के परिवार को दिखाई देता है, जो उनकी जीवित संवेदना और कल्पनाशीलता का प्रतीक है।

एक छुटटी के दिन विभागाध्यक्ष अपने परिवार के साथ रघुवर प्रसाद के घर पहुँचते हैं, किंतु दरवाज़ा भीतर से बंद मिलता है। पास की एक लड़की कहती है, "खिड़की से पीछे चले गए होंगे, इसलिए नहीं सुन रहे है।" इस पर विभागाध्यक्ष की पत्नी पूछती हैं, "इनकी खिड़की से पीछे की तरफ जा सकते है क्या, ज़रा पूछकर तो देख।"[3] किंतु विभागाध्यक्ष जब उस संसार को देखने का प्रयास करते हैं तो वह कहीं दिखाई नहीं देता।[4] इसके विपरीत, रघुवर प्रसाद और सोनसी के लिए खिड़की के माध्यम से खुलने वाला यह संसार यथार्थ का ही एक उज्ज्वल और जादुई रूप है। इस प्रकार खिड़की उपन्यास का केंद्रीय बिंब बन जाती है, जो यथार्थ और कल्पना के मध्य संवाद स्थापित करती है- "रघुवर प्रसाद का मन हुआ कि वे खिड़की से कूदकर उस पार चले जाएं। वे कूदने को थे तभी सोनसी उनके पास आकर खड़ी हो गई। रघुवर प्रसाद ने कहा, - ठुम धीरे कूद नहीं पाओगी। ठुम मेरी पीठ पर लद जाना।" ..... "सोनसी अपने पैरों को रघुवर प्रसाद की कमर में लपेटना चाहती थी पर साडी के कारण

वह लपेट नहीं पा रही थी।"[5] यह प्रसंग खिड़की को केवल बाहरी संसार में जाने का मार्ग नहीं, बल्कि प्रेम, प्रकृति और स्वतंत्रता के प्रतीकात्मक द्वार के रूप में प्रस्तुत करता है। खिड़की के पार का संसार उनके दैनिक संघर्षों से परे जीवन की व्यापक संभावनाओं का संकेत है।

संकुचित जीवन-परिस्थितियों में यही खिड़की रघुवर प्रसाद और सोनसी के लिए भावनात्मक विस्तार का माध्यम बनती है। सोनसी के मायके जाने पर दोनों खिड़की के माध्यम से संवाद की कल्पना करते हैं—"जब भी समय मिलेगा मैं खिड़की से तुम्हारे देखे हुए आकाश को देख लूंगी।... चंद्रमा सोनसी केलिए लिखा हुआ सम्बोधन होगा। बड़ा आकाश लंबी चिट्ठी।"[6] इस प्रसंग में खिड़की के पार का संसार किसी भौगोलिक स्थान का चित्रण नहीं, बल्कि प्रेम, संवेदना और आत्मीय संवाद के विस्तार का प्रतीक है।

रघुवर प्रसाद के माता-पिता भी इस रहस्यमय संसार में प्रवेश करते हैं। पिता के लिए नए चप्पल खरीदने की घटना अभावपूर्ण जीवन में छोटे-छोटे सुखों और भावनात्मक समृद्धि को व्यक्त करती है -"..... लेटना मत, चप्पल पहने बैठे रहना!, अम्मा ने कहा। उनके पैर नए चप्पलों में उनके पैर बहुत सुंदर लग रहे थे। पिता आर माता दोनों का मन खिड़की से उस पार जाने को हुआ।"[7]

ये रहस्यमय संसार में प्रवेश करने के बाद वे पगडंडियों पर घूमते हैं, तालाब और खिले कमलों को देखते हैं। यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि खिड़की केवल युवा पीढ़ी की कल्पना का प्रतीक नहीं, बल्कि हर मनुष्य के भीतर जीवित संवेदना और आनंद-बोध का प्रतीक है। यह पीढ़ियों के बीच भावनात्मक निरंतरता स्थापित करती है। खिड़की के पार की दुनिया में उपस्थित बूढ़ी अम्मा और उनकी चाय की टपरी इस जादुई संसार को आत्मीयता और दार्शनिक गहराई प्रदान करती है। यह संसार उन्हीं के लिए खुलता है जिनकी संवेदना जीवित है।

निष्कर्ष : विनोद कुमार शुक्ल का उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' अभावों के बीच प्रेम, कल्पना और आत्मीय संबंधों की शक्ति को रेखांकित करता है। रघुवर प्रसाद और सोनसी का दाम्पत्य भावनात्मक साझेदारी का प्रतीक है। उपन्यास में खिड़की प्रकृति और कल्पना से जुड़ने का, जबकि हाथी करुणा, समानता और सह-अस्तित्व का प्रतीक है। बूढ़ी अम्मा तथा साधारण जीवन का असाधारण अनुभवों में रूपांतरण इसकी जादुई यथार्थवादी संरचना को सशक्त बनाता है। अपनी प्रतीकात्मकता, काव्यात्मक भाषा और संवेदनात्मक गहनता के कारण यह समकालीन हिंदी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

संदर्भ ग्रंथसूची

1. दीवार में एक खिड़की रहती थी—विनोद कुमार शुक्ल, हिन्द युग्म, नोएडा(उ.प्र.), आठवाँ संस्करण-2025, पृष्ठ 15
2. वही, पृष्ठ 33
3. वही, पृष्ठ 63
4. वही, पृष्ठ 64
5. वही, पृष्ठ 94
6. वही, पृष्ठ 95
7. वही, पृष्ठ 104

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Anil Kaushik
(TGT Mathematics)
Mathematics, GMSSSS SANGHI ROHTAK

for the paper titled

HARBANS PUZZLE IN MATHEMATICS

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Dr. Giriraj Bhojak
Assistant Professor,
Department of Education,
Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

for the paper titled

Mental Health and School Education

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. आरती दुबे

प्रवक्ता-हिन्दी, लक्ष्मी यदुनन्दन महाविद्यालय

कायमगंज (फर्रुखाबाद)

for the paper titled

साहित्य में नारी की भूमिका

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

कल्पना

Research Scholar, Department of Yogic Science, Centre for Academic Research, Manipur International University, Imphal, Manipur

डॉ. सत्येंद्र कुमार

Assistant Professor & Research Supervisor, Value Education Wing, Prajapita Brahma Kumaris Ishwariya Vishwavidyalaya,

for the paper titled

माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के तनाव, अवसाद एवं आत्मसम्मान पर राजयोग का प्रभाव : एक समीक्षात्मक अध्ययन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. संजीव कुमार. के

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, एम.इ.एस कल्लडी. कॉलेज (ओटोणमस)

मन्नाटकाड, पालकाड, केरल

for the paper titled

कुरुम्बा (कुरुम्बर) जनजाति के लोकजीवन और संस्कृति

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

किम्मी. एन. एस

शोधार्थी, श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय,
कालडी

for the paper titled

दलित माँ की पीड़ा और मुक्ति कामना 'हाथ तो उग ही आते हैं' कहानी के संदर्भ में

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. लता डी

शोध निर्देशिका

Vinaika Vijayan

Research scholar,

Govt college for women, Thiruvananthapuram

for the paper titled

किसान जीवन की मार्मिक पहलू: अकाल में उत्सव' उपन्यास में

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. अंजु पांचाल

अकादमिक परामर्शदाता

(IGNOU)

for the paper titled

राजभाषा हिन्दी का कम्प्यूटरीकरण

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Kishore Kumar Baraik
(Research Scholar)
Dr. Manoj Kumar
(Research Guide)
Department of Geography
Shri Jagdish Prasad Jhabarmal Tibrewala University Jhunjhunu, Rajasthan

for the paper titled

Exploring the Geography and Socioeconomic Profile of Foothill Residents in Saddle Peak National Park, Andaman and Nicobar Islands

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

सूचित कुमार

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ. विजय कुमार

शोध निर्देशक

for the paper titled

हिंदी के साहित्यिक विरासत के संरक्षण में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना की भूमिका

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

अजित कुमार नायक

विद्यावारिधिः, शोधार्थी,

स्नातकोत्तरसाहित्यविभागः

श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः श्रीविहारः, पुरी, ओडिशा

for the paper titled

भारतीकेशरिप्रबोधकुमारमिश्रविरचिते स्वप्नदूते गुणरीतितत्त्वसमीक्षा

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

निकिता आनंद

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

for the paper titled

हिंदी कहानी आलोचना में प्रतिमान और उसकी समस्याएँ

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. निरूपमा जैन

शोध निदेशक, सहायक आचार्य, शिक्षा संकाय, आर. एम. टी. टी. कॉलेज, उदयपुर

महेश गंड़ेर

शोधार्थी, शिक्षा विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

for the paper titled

बी.पी.एल. परिवारों में अभिभावक सहभागिता का विद्यार्थियों की शैक्षिक आकांक्षाओं पर प्रभाव : एक अध्ययन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

किशन लाल जाट

शोधार्थी, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-राजस्थान

डॉ. के.आर.काक

(सहायक आचार्य) विद्या भवन जी.एस. टीचर्स कॉलेज, उदयपुर-राजस्थान

for the paper titled

राजस्थान के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों में सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के प्रति अभिधारकों के प्रत्यक्षण का अध्ययन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Dr. Rajendra Jakhar
Asstt. Professor in Education
J.K.Memorial College of Education
Birhi Kalan, Ch. Dadri (Haryana)

for the paper titled

Understanding Stress and Coping Patterns in Gifted Adolescents'

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Mr. Hari Shanker Singh
Ph.D. Scholar,
Department of Political Science,
University of Delhi

for the paper titled

The Moral Geography of Justice: Mapping the Systematic Prioritization of Humans Over Animals in Ethical Consciousness

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. अजीत कुमार

सहायक प्राध्यापक,

जेडीएमसी, दिल्ली विश्वविद्यालय

for the paper titled

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Nayantara Singh
Ph.D. Research Scholar, AIBAS, Amity University Haryana
Dr. Shailesh Kumar
Assistant Professor, AIBAS, Amity University Haryana

for the paper titled

Microfinance, Financial Inclusion and Women's Self-Employment: A Sociological Study of the PM SVANidhi Scheme in India

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

सुनील कुमार

शोधार्थी (हिंदी विभाग)

जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग राज्य विश्वविद्यालय,

चित्रकूट उत्तर प्रदेश

for the paper titled

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में प्रतिबिंबित समाज

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Kanika Thakur
(Research Scholar)
Department Of Political Science
University Of Delhi

for the paper titled

STATE AND KUMBHA: PRE TO POSTINDEPENDENCE INDIA (EARLY 19TH TO 21ST CENTURY)

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. पायल पोद्दार

सहायक प्राध्यापक, मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़, भारत

अंजली त्रिपाठी

शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान, भारत

for the paper titled

जलवायु परिवर्तन का जनजातीय महिलाओं पर प्रभाव : एक समीक्षात्मक अध्ययन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Asha Yadav
PhD Scholar, Dept. of History,
University of Delhi, New Delhi, 110007

for the paper titled

Assessing Orientalism: Formation, Criticism and Significance

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

संतोष कुमार सिंह

शोधार्थी, शिक्षा संकाय, राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय

सिंगरामऊ, जौनपुर, उ0प्र0

डॉ. योगेश कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, शोध निर्देशक, शिक्षा संकाय, राजा हरपाल सिंह महावि., सिंगरामऊ, जौनपुर, उ0प्र0

for the paper titled

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक विचारों के प्रमुख उद्देश्य, विश्लेषण एवं संगठन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. वर्षा रानी

असि. प्रो. संस्कृत - विभाग,

डॉ. भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय आगरा

राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर, उ0प्र0

for the paper titled

उपनिषदों में वर्णित वैश्विक शांति : एक दार्शनिक एवं समकालीन अध्ययन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. संदीप कुमार

सहायक आचार्य

पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग,

डॉ भीमराव आंबेडकर यूनिवर्सिटी, आगरा

for the paper titled

वर्तमान परिदृश्य में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का पत्रकारिता की विश्वसनीयता पर प्रभाव : एक आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

Dr. P. Ganesan
Associate Professor
Sri Krishna College of Arts and Science College
Kuniyamuthur, Coimbatur-8

for the paper titled

तिरुवकुरल एक परिचय

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'
M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights),
DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani
MA (Sanskrit), M. Ed.
UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

जोस्ना जोस

शोधार्थी, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

कार्यवट्टम कैंपस

for the paper titled

बाज़ारवादी व्यवस्था और आधुनिक भारतीय समाज की विडंबना: एक डूबते जहाज़ की अन्तर्कथा के विशेष संदर्भ में

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

ममता

शोधार्थी, टाटिया विश्वविद्यालय, श्रीगंगानगर

डॉ. शिल्पा रानी

शोध पर्यवेक्षक, टाटिया विश्वविद्यालय, श्रीगंगानगर

for the paper titled

पंचायत समिति में महिलाओं की सहभागिता: चुनौतियाँ, उपलब्धियाँ एवं सशक्तिकरण का अध्ययन

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

कमल

शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

for the paper titled

जातिवाद और वर्गीय भेदभाव के कारण पंजाब में ईसाई धर्म का प्रसार : एक आलोचनात्मक विश्लेषण

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

डॉ. रम्या. जी. एस. नायर

सहायक प्राध्यापिका

के.पी.आर.आर्ट्स साइन्स आंड रिसर्च कॉलेज

कोयंबत्तूर, तमिलनाड

for the paper titled

तेजेंद्र शर्मा की कहानियाँ; एक झांकी

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**

ISSN:2348-5639

Impact Factor 6.521

शोध समालोचन
Shodh Samalochan

An International Peer Reviewed, Refereed Multidisciplinary & Multiple Languages Quarterly Research Journal

Published by : Guganram Educational & Social Welfare Society (Regd.)

https://ginajournal.com/shodh-samalochan/

Certificate of Publication*

is awarded to

अंजुलि शुक्ला

शोधार्थी, शा. ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म.प्र.)

डॉ. एस.पी. शुक्ला

गोध निर्देशक, प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान), शा. ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म.प्र.)

for the paper titled

'महिलाओं में मतदान व्यवहार की प्रक्रिया'

(रीवा नगर के विशेष संदर्भ में)

Published in Shodh Samalochan ISSN:2348-5639

July - September 2026, Vol. 13, Issue-3

Managing Editor

Dr. Mukesh Kumar 'Rishi Verma'

M.A., Vidya Vachaspati, F.H.R. (Human Rights), DCA, Certificate Course in Urdu.

Executive Editor

Dr. Varsha Rani

MA (Sanskrit), M. Ed. UGC NET/ JRF, Ph.D.

***This Certificate is only Valid with the Presentation of Research Paper/Topic**